वेदो बलिष्ठः । सर्ववेदैकवाक्यतां वक्तुं तस्य स्वरूपमाह—**चत्वारो होतारो यत्रेति** । ते गणनायका होतृशब्देनोच्यन्ते अध्वर्युप्रभृतयः । अथवा । दशहोता चतुर्होता पञ्चहोता षड्ढोता सप्तहोतेति चतुर्होतारः । ते अग्निहोत्रादीनां मूलमिति । चातुर्होत्रमग्निहोत्रादिपञ्चकं यत्कर्म । कर्मेति नामधेयम् । तद्धि ससाधनं नित्यमिति कालास्पर्शाच्छुद्धम् । प्रकर्षेण जातानाम् । तत्र वेदः प्रमाणमित्याह— **वैदिकमिति** । तेषां यज्ञानां विस्तारार्थं वेदं चतुर्धा कृतवानित्याह—**व्यदधादिति** । अकृशरतया निरूपणाद् बुद्धिसौकर्येण यज्ञसन्ततिः । अभिन्नेष्वंशभेदव्यवस्थया वा ।।१९।।

व्याख्यार्थ—यहाँ शङ्का होती है कि कालकृत दोषों के रहते हुए, काल के अधीन जो यज्ञ हैं, वे किस प्रकार सबके लिए उपकारक हो सकते हैं ? तो कहते हैं कि यज्ञादि का ज्ञान आर्ष ज्ञान है । इसलिए वहाँ युक्ति की अपेक्षा नहीं है । युक्ति तो आधिदैविक काल तथा भौतिक काल सुलभ दोषों को दूर करने के लिए है । आधिदैविक काल अथवा काल के नियामक भगवान् विष्णु भौतिक काल कृत दोषों को दूर करने में समर्थ है । 'वह काल विष्णुरूप और यज्ञरूप है–'स विष्णवाख्योऽधियज्ञोऽसौ' इस तरह का कथन मिलता है । यज्ञ विष्णुरूप तथा कालरूप वेद से सिद्ध है । अन्य प्रमाणों की अपेक्षा वेद बलिष्ठ प्रमाण है–इसलिए सर्व वेदों की एक वाक्यता बताने के लिए यज्ञ के स्वरूप का निरूपण करते हैं कि, कर्म चातुर्होत्र है अर्थात् यज्ञ कर्म में चार 'होता' रहते हैं–अध्वर्यु, उद्गाता, होता तथा ब्रह्मा–ये चारों यज्ञ कर्म के गणनायक हैं तथा होता कहलाते हैं । चातुर्होत्र का इस तरह व्याख्यान करने से तो मात्र सोमयज्ञ का ही प्रतिपादन होगा, अग्नि होत्रादि का नहीं ।' ऐसी शङ्का में इसका व्याख्यान दूसरी तरह से करते हैं–वैदिक कर्म में दस होता[1], चार होता, पाँच होता, छ होता तथा सात होता–ये पाँचों प्रकार के होता होम करने वाले, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम इन पाँचों ही यज्ञ कर्म के मूल हैं तथा ब्राह्मण भाग में इनका 'चातुर्होतृत्व' समझाया गया है । अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम ये पाँच कर्म 'चातुर्होत्र' माने जाते हैं । यह चातुर्होत्र कर्म वैदिक है, वेद प्रमाण से सिद्ध है नित्य है, शुद्ध है, क्योंकि ये काल से अस्पृष्ट है इनका काल का स्पर्श नहीं होता । शङ्का करते हैं कि कर्म, त्रिक्षणा व स्थायी होते हैं तो फिर वे नित्य कैसे हो सकते हैं ? इसका उत्तर देते हैं–ये कर्म कथन मात्र के लिए है, वास्तव में वे भगवत्स्वरूप हैं क्योंकि क्रिया में 'याग' प्रयोग भक्ति है । 'प्रजानाम्' जो प्रकर्ष रूप से बारंबार उत्पन्न होते हैं, उनसे सम्बन्धित कर्म में, वेद प्रमाण है, इसलिए यहां कर्म को 'वैदिक' कहा है । इन यज्ञों के विस्तार के लिए व्यास ने वेद को चार प्रकार से विभक्त किया । व्यास ने यज्ञ का विस्तार इस तरह किया कि जिससे यज्ञ के प्रकरण का भेद सरलता से समझ में आ जाये तथा परस्पर में एक-दूसरे में मिश्रण न हो जाये अर्थात् अंशभेद व्यवस्था द्वारा व्यास ने यज्ञ का विस्तार किया । वस्तुतः मूल वेद का स्वरूप तो एक ही है किन्तु लोकहितार्थ विस्तृत तथा विभक्त हुआ । शङ्का करते हैं कि, अग्निहोत्रादि पाँचों यज्ञों का जब वेद प्रतिपादन करता है तो फिर वेद के भी पाँच भेद होने चाहिये, चार ही कैसे ? तो कहते हैं कि अग्निहोत्रादि पंचक अभिन्न हैं परन्तु आंशिक भेद से वह चार विभाग में विभक्त किया गया है ।।१९।।

---

[1] 'चित्ति-स्रुक्' से लेकर 'सामाध्वर्युः' पर्यन्त दश होतृ मन्त्र हैं । 'पृथिवी होता' से 'रूप वक्ता' पर्यन्त चार होतृ मन्त्र हैं 'अग्निर्होता' से 'उपवक्ता' पर्यन्त पांच, 'सूर्यं वे चक्षुः' से 'शरीरैः' पर्यन्त तथा 'वाग्होता' से 'जुहोमि' तक इस तरह दोनों में षड् और 'महाहविः' से 'उद्गाता' तक सप्त होतृ मन्त्र हैं ।

आभास—तान्भेदानाह—

आभासार्थ—उन वेदों के भेदों को कहते हैं—

श्लोक—**ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः ।**
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥२०॥

श्लोकार्थ—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद—नामक चार वेदों का उद्धार किया और उनके अपेक्षित धर्म का प्रतिपादन करने वाले इतिहास पुराण को जो पञ्चम वेद कहलाता है, प्रकट किया ॥२०॥

सुबोधिनी- **ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या इति** । ऋग्वेदेन होता करोति । यजुर्वेदनाऽध्वर्युः। सामवेदेनोद्गाता । चतुर्थेन ब्रह्मा । तत्तत्कर्मप्रतिपादकानां मन्त्राणां ब्राह्मणानां च खण्डा उद्धृता वेदशब्दवाच्या जाताः । तेषामपेक्षितधर्मप्रतिपादकः पञ्चमो वेद इतिहासपुराणाख्यः ॥३०॥

व्याख्यार्थ- ऋग्वेद से होता, यजुर्वेद से अध्वर्यु, सामवेद से उदगाता तथा अथर्ववेद से ब्रह्मा कर्म करते हैं । उन-उन कर्मों के प्रतिपादक मन्त्रों का तथा ब्राह्मण भाग का जो खडशः विभाग हुआ वे ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्ववेद नाम से जाने गये तथा इसके अपेक्षित धर्मों का इनको सहाय करने वाले धर्मों का प्रतिपादन करने वाला इतिहास पुराण पाँचवा वेद कहा गया ॥२०॥

आभास—भिन्नेष्वंशप्रतिष्ठापनार्थमाह—

आभासार्थ—इस तरह विभक्त किये गये वेदों को किस किसने धारण किये ? इस विषय में कहते हैं—

श्लोक— **तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ।**
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ॥२१॥

अथर्वाङ्गिरसामासीत्सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ॥२२॥

श्लोकार्थ—इनमें ऋग्वेद धारण करने वाले पैलमुनि हुवे । सामवेद के गान करने वाले कवि जैमिनि थे और एक वैशंपायन ही यजुर्वेद में पारंगत हुए । अंगिराओं में दारुण सुमत्त मुनि अथर्ववेद के ज्ञाता हुये और मेरे पिता रोमहर्षण इतिहास पुराण में निपुण हुये ॥२१-२२॥

सुबोधिनी - **तत्रेति** । अत्र तु क्रमो मन्त्राणामिति न विरोधः । पैलादयः ऋषयः । **सुमन्तुर्दारुण इति** । आभिचारिकबाहुल्यादिति केचित् । वस्तुतस्तु स्वाभाविकदुष्टत्वादग्ने यज्ञेषु तस्याऽप्रवेश इति । तथापि पाठने हेतुः—**मुनिरिति** । इतिहासपुराणानां सर्वाधिकाराय रोमहर्षण उक्तः ॥२१॥२२॥

व्याख्यार्थ—शङ्का करते हैं कि चोदना लक्षण धर्म है अर्थात् जिसमें विधि सम्बन्ध हो उसे धर्म कहते हैं । यजुर्वेद में धर्म का प्रतिपादन है अतः उपर्युक्त श्लोक में प्रथम यजुर्वेद क्यों नहीं लिया गया ? पूर्व श्लोक में दिया गया क्रम इस प्रकार है-यथा ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद तथा अथर्ववेद । प्रस्तुत श्लोक में इससे भिन्न दिया है-यथा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद । अतः विरोध आता है । इसका समाधान यह है कि "आदित्यो वा एषतन्मंडलम्" इसके अनुमार यहां ऋक् साम-यजुः इसी क्रम को अपनाया है अतः कोई विरोध नहीं आता । श्लोक में कहे गये पैल आदि ऋषि हैं-इन्होंने श्लोकोक्त क्रम से वेदों को धारण किये । अथर्ववेद में आभिचारिक मारण प्रयोगों का बाहुल्य हैं इसलिए इस वेद में निष्णात सुमन्तु ऋषि को दारुण भयंकर कहा है यह मत अमुकटीकाकारों का है । वस्तुतः इन मारण प्रयोगों के उद्भावक सुमन्तु स्वभाव से ही परम दुष्ट थे इसीलिए इनको यहां 'दारुण' कहा गया है और इसी हेतु से कालान्तर में इनका यज्ञों में प्रवेश रोक दिया गया । फिर भी वे मुनि थे इसीलिए इनको वेद का अध्ययन कराया गया था और इसीलिए यहां मुनिरूप से इनकी गणना की गई है । इतिहास पुराण इस पंचम वेद में सर्व प्राणी मात्र का अधिकार है-यह सूचित करने के लिए इस वेद का अध्ययन, मेरे पिता रोमहर्षण को कराया गया था तथा सर्व प्राणियों के रोम-रोम को भगवद्भक्ति भाव से हर्षान्वित कराने के कारण यथा नाम तथा गुणपूर्ण आचार्य हुये ॥२१।२२॥

आभास—तैः पञ्चभिरपि स्वांशः खण्डशो बहुधा व्यस्त इत्याह—

आभासार्थ—इन पांचों ऋषियों ने अपने-अपने वेद को खडशः पृथक्-पृथक् बहुत प्रकार से विस्तृत किया-यही कहते हैं—

श्लोक—**त एनमृषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा ।**
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन् ॥२३॥

श्लोकार्थ—उन पैलादि ऋषियों ने अपने-अपने वेद का शिष्य-प्रशिष्य तथा उनके शिष्यों द्वारा अनेक शाखाओं के रूप में विस्तार किया अतएव वे वेद शाखाओं वाले हुए ॥२३॥

सुबोधिनी—**त एनमिति** । ऋषित्वात्खण्डशो व्यासे न दोषः । शाखानां शाखित्वम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—उन ऋषियों ने अपने-अपने वेद को अनेक प्रकार से **विभक्त अथवा** विस्तृत किया । तदनन्तर, उनके शिष्य, प्रशिष्य तथा उनके भी शिष्यों ने वेदों का अनेकों शाखाओं के रूप में विस्तार किया । ये सब ऋषि थे अतः वेदों का विभाग करने पर भी दोषी नहीं हुये ॥२३॥

आभास—बहुधा व्यस्ताप्ययेका शाखा धारणेऽशक्या जातेत्याह—

आभासार्थ– बहुत प्रकार मे विभक्त की गई शाखाओं में से एक भी शाखा धारण नहीं की जा सकती इसी बात को कहते हैं–

श्लोक—**त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा ।**
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः ।।२४।।

श्लोकार्थ– बुद्धि रहित पुरुष यथावत् अर्थ ज्ञान से रहित होते हुए भी इन्हीं वेदों को धारण कर सकें इस विचार से कृपणवत्सल व्यासजी ने उनकी शाखा विभाग से व्यवस्था कर दी ।।२४।।

सुबोधिनी – त एवेति । दुर्मेधैर्बुद्धिरहितैरपि यथा यथावदर्थज्ञानाभावेऽपि लक्षणैः समानादिभिर्बहुकालाभ्यासेन कथञ्चिद्धार्यन्त इत्यर्थः । अवान्तरमुपसंहरति—**एवमिति** । मूर्खसधारणपर्यन्तमेवं कृतवान् । तत्र हेतुः—**भगवानिति** । भगवतस्तथैवेच्छा यन्मूर्खपर्यवसानं भविष्यतीति । तर्हि न कर्तव्य स्यात् । अव्रतानर्थज्ञधारणे वेदानां निर्वीर्यत्वप्रसङ्ग इत्यत आह—**व्यास इति** । व्यासत्वात्कृतवानित्यर्थः । तथाऽपि महतोऽधिकारिणोऽपि नाऽन्यथा करणमुचितमित्यत आह—**कृपणवत्सल इति** । अपहतपाप्मत्वात्स्वाध्यायस्य तावन्मात्रेणाऽपि कृतार्थता भविष्यतीति प्रजासु दयया कृतवानित्यर्थः ।।२४।।

व्याख्यार्थ– (श्री व्यास ने वेदों के शाखा विभाग द्वारा उनको इतना सुगम बना दिया कि मन्द बुद्धि वाले भी उनका संधारण कर सकें) वेदों के यथा योग्य अर्थ ज्ञान के अभाव में भी सामान्य पुरुष भी प्रतिशाख्य में कहे गये । समानादिक लक्षणों की सहायता से दीर्घकालीन अभ्यास द्वारा आज भी जो वेदार्थ को समझ सकते हैं, वह भी केवल वेदव्यासकृत शाखा विभाग के कारण से ही वेदव्यास भगवान् के ज्ञानावतार हैं इसलिए "मूख व्यक्ति पर्यन्त भी वेद का संधारण किया जा सके" ऐसी भगवान् की इच्छा को वे जानते थे । तो फिर व्यासजो को ऐसा कार्य करना ही नहीं चाहिये था, क्योंकि कोई नियम नहीं रखने वाले तथा वेदार्थ को नहीं जानने वाले यदि वेद को धारण करने लगेंगे तो वेद निर्वीर्य बन जायेंगे । इस पर कहते हैं कि व्यासजो महान् अधिकारो थे इसलिए उन्होंने ऐसा किया । यदि यह कहा जाये कि महान् अधिकारी होते हुए भी, उनके लिए अन्यथा करना उचित नहीं था तो इसका उत्तर यह है कि व्यासजी कृपण वत्सल हैं अर्थात् व्यासजो ने यह सोचा कि वेद का स्वाध्याय सर्वथा निष्पाप है । अतः मंद बुद्धि वाले केवल स्वाध्याय से भी कृतार्थ हो जायगे इसीलिए प्रजा पर दयापूर्वक वेदों का विभाजन कर दिया ।।२४।।

आभास—अन्येषामुपायमाह—

आभासार्थ स्त्री, शूद्र आदि के उद्धार का उपाय कहते हैं—

श्लोक— **स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरः ।**
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ।।२५।।

श्लोकार्थ— स्त्री, शूद्र तथा द्विज-बन्धुओं को वेद श्रवण करने का अधिकार नहीं है । वैदिक-कर्म से सिद्ध किये जाने वाले कल्याण मार्ग के साधनों से ये लोग अनभिज्ञ तथा कर्म श्रेयस् के विषय में मूढ हैं अर्थात् यज्ञादि कर्म से प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फल से ये लोग वंचित रहेंगे इसलिए उनके कल्याणार्थ व्यासजी ने कृपा करके महाभारत प्रकट किया जिससे वे भी धर्मादि के तत्व ज्ञान पूर्वक उच्च फल प्राप्त कर सकें ।।२५।।

सुबोधिनी—**स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनामिति** । यज्ञद्वारा हि वेदे स्त्रीणामुपयोगः । अवीरवतीनां तु तदभावात्त्रैवर्णिकस्त्रीणामपि वेदश्रवणनिषेधः । शूद्राः स्वतन्त्रा न तु सेवकाः । त्रैवर्णिकयाज्ञिकसेवकानां तदन्नभक्षणेन वेदार्थोपयोगिनामापाततो वेदश्रवणस्याऽऽवश्यकत्वात् । द्विजबन्धवः कुण्डगोलकाः संस्कारहीनाश्च । तेषामपि श्रुतिश्रवणे नाऽधिकारः । गोचरशब्दस्तु नियतपुंल्लिङ्गः । केचन गोचरेतिच्छान्दसत्वात्पठन्ति । कमश्रेयसि कर्मसाध्ये श्रेयसि पुत्रस्वर्गादौ । मूढानां साधनज्ञानरहितानाम् । एवं मनसि विचारितेन प्रकारेण । इह अस्मिन्नेवाऽर्थे । यद्यपि अलौकिकप्रकारेण वेदसाध्यं फलमप्यलौकिकं तथापि नाऽन्येन तत्सिद्धिः । अथाऽप्यर्धलौकिकन्यायेन भट्टैष्विव पुराणेऽप्यलौकिकन्यायेन वा भारतादिना कार्यं सेत्स्यतीति भावः । एवमभिप्रेत्य यत्कृतवांस्तदाह— **इति भारतमिति** । भारतवंशोत्पन्नानां सम्बन्धि भारतम् । आख्यानमिति वचनान्न केवलं ग्रन्थनाम । किं त्वन्यार्थम् । तेन भारतश्रवणान्मायामोहाभावाद्धर्मादीनां तत्त्वावगतिः सुगमेति मननादवगत्य परदुःखप्रहाणेच्छया कृतमित्यर्थः ।।२५।।

व्याख्यार्थ—यज्ञ द्वारा ही वेद में स्त्रियों का उपयोग होता है अर्थात् पत्नी के साथ यज्ञ किया जाता है इसलिए यज्ञ में स्त्रियों का उपयोग—यज्ञ में इस उपयोग के कारण उनको वेद श्रवण का अधिकार है । जो पति पुत्रादि रहित हैं उनका यज्ञ में उपयोग न होने से त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों) की स्त्रियों को भी वेद श्रवण का निषेध है । क्योंकि ऐसी स्त्रियाँ यज्ञ में नहीं बैठ सकती । श्लोक में स्त्री पद, पति, पुत्रादि से रहित के लिए प्रयुक्त हुआ है । शूद्र पद से, यज्ञ में काम नहीं आने वाले, शूद्र लिये गये हैं । त्रैवर्णिकों में जो याज्ञिक हैं, उनके शूद्र-सेवक, उनका अन्न खाने से यज्ञ में उपयोगी हैं अतः उनको आपाततः वेद श्रवण हो जाता है । श्लोकस्थ "द्विजबन्धूनां" से कुण्डगोलक तथा संस्कार रहित व्यक्ति लिये गये हैं । पति रहते हुए, जार से पैदा होने वाली संतान कुण्ड कहलाती है तथा पति की मृत्यु के पीछे, जार से उत्पन्न संतान गोलक है । उनको वेद श्रवण का अधिकार नहीं है । गोचर शब्द नित्य पुल्लिङ्ग है, इसलिए यहां त्रयी का विशेषण होते हुए भी पुल्लिङ्ग ही है । कोई-कोई 'श्रुतिगोचरा' यह पाठ रखते हैं ऐसी स्थिति में पुल्लिङ्ग होते हुए भी 'गोचरा' शब्द को छान्दस् प्रयोग मानकर समाधान करते हैं । 'कर्म श्रेयसि मूढानाम्' का अर्थ यह है कि यज्ञादि कर्म के श्रेयरूप जो पुत्र स्वर्गादि हैं उनके साधनों से अनभिज्ञ व्यक्ति का श्रेय अन्य

प्रकार से सम्भव नहीं है अतः ऐसे व्यक्तियों के कल्याणार्थ व्यासजी ने महाभारत इतिहास की रचना की ।

श्लोकस्थ 'इह' पद का सुबोधिनी में 'अस्मिन्नेवार्थे' यह अर्थ किया है इसका तात्पर्य है यह कि जिनको वेदत्रयी सुनने का अधिकार नहीं है उनके कल्याणार्थ व्यासजी ने भारत की रचना की अन्य से यह फल नहीं मिल सकता । इसमें यह शङ्का होती है कि अलौकिक प्रकार से वेद साध्य फल भी अलौकिक है तो यह फल 'भारत' से कैसे मिल सकता है ? इसका समाधान यह है कि मट्टों के मत में जैसे लौकिक क्रिया रूप यज्ञ का 'अपूर्व अदृष्टरूप' अलौकिक फल माना जाता है । वैसे ही पुराण एवं भारत में सभी का अधिकार होने से वे लौकिक हैं किन्तु वेदों के व्याख्यान रूप होने से अलौकिक भी हैं । इस तरह भारतादि ग्रन्थों में लौकिकता एवं अलौकिकता दोनों होने से इनमें अर्थ लौकिकता ही माननी पड़ेगी जिससे सभी का कल्याण हो सकता है । इस अभिप्राय से व्यासजी ने जो किया उसी को कहते हैं 'इति भारतमाख्यानम्' भरत वंश में उत्पन्न राजाओं का जिसमें वृतांत हो वह भारत है । इसमें जो आख्यानम्' पद है उससे यह अभिप्राय है कि 'भारत' यह केवल ग्रन्थ नाम हो नहीं है, किन्तु उक्त विशेष अर्थ को भी कहते हैं । भरत वंश के राजाओं का वृतांत सुनने से मायामोह नहीं हो सकता क्योंकि "दौज्यन्निस्त्यागान्मायाम्" अर्थात् भरत ने माया का अतिक्रमण कर लिया था इसलिये इसके आख्यान सुनने वालों को माया मोह न होने से धर्म की अलौकिकता का ज्ञान सुगम हो जायेगा इसी तथ्य को मननपूर्वक विचारकर, दूसरों के दुखों को मिटाने की इच्छा से ही व्यासजी ने 'भारत' की रचना की ।२५।।

श्लोक—**एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः ।**
सर्वात्मकेनाऽपि यदा नाऽतुष्यद्धृदयं ततः ।।२६।।
नातिप्रसीदद्धृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ ।
वितर्कयन् विविक्तस्थ इदं प्रोवाच धर्मवित् ।।२७।।

श्लोकार्थ—हे ब्राह्मणों ! इस प्रकार सर्वदा परोपकार रूप धर्म करते हुए भी जब उनका अन्तःकरण अत्यन्त सन्तुष्ट नहीं हुआ तो सरस्वती नदी के पवित्र तट पर एकान्त में निर्णय करते हुए धर्मज्ञ व्यासजी मन ही मन में इस प्रकार कहने लगे ।।२६।।२७।।

सुबोधिनी—एवं व्यासस्य परोपकारलक्षणो धर्मो महान्वेदव्यासे सिद्धः । धर्मस्य चाऽन्तःकरणपरितोषः फलम् । तदभावे धर्मः श्रम इति पूर्वमुक्तम् । अत्र दुःखहेतुरिति वक्तुं पूर्वोक्तस्मरणार्थं **द्विजा** इति सम्बोधनम् । अधीतावधारणं हि द्विजधमः । किञ्च । केवलधर्मस्य व्यभिचारेऽपि ज्ञानसहितस्य न तथात्वम् । इह तु तादृशोऽपि नाऽन्तःकरणसुखजनको जात इत्याह-**सर्वात्मकेनाऽपीति** । सर्वत्र आत्मा येन तत्सर्वात्मकं ज्ञानम् । अथवा दयावदन्ये प्रकाराः सर्वे कृताः । सर्वप्रकारेणाऽपि धर्मेणेत्यर्थः । अधिकारित्वात्फलाभावो जात इत्याह—**ततो नातिप्रसीदद्धृदय इति** । धर्मात्स्वस्याऽपि फलाभावे कथमन्यस्य भविष्यतीति सर्वनाशादप्रसादः । भगवदिच्छा काचिदन्यथा वर्त्तत इति

ज्ञानावतारत्वेन ज्ञात्वा किञ्चित्प्रसीदद्धृदयो जातो न त्वत्यन्तं प्रसीदद्धृदय इति । पूर्ववज्ज्ञानोदयो भविष्यतीति सरस्वत्यास्तट इत्युक्तम् । **शुचाविति** पापसम्बन्धाभाव उक्तः। एवं शुद्धदेशे स्वार्थं चिन्तायां तर्केण कश्चिन्निर्धार उत्पन्न इत्याह – **वितर्कयन्निति** । विविक्तस्थ एकान्तस्थः । महाधिकारित्वात् । इदं वक्ष्यमाणम् । **धर्मवित्** । धर्मस्याऽव्यभिचारि साधनत्वं जानातीत्यर्थः ।।२६।।२७।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार श्री व्यास का परोपकार रूप महान् धर्म वेद के व्याख्यान रूप भारत की रचना से सिद्ध हो गया । धर्म का फल अन्तःकरण परितोष है । सन्तोष रूप फल के अभाव में धर्म केवल श्रमरूप है यह पहिले कह चुके हैं । "ऐसा धर्म दुःख का कारण है" यही कहने के लिए 'श्रम एव हि केवलम्' इस पूर्वोक्त कथन की स्मृति कराते हुये श्लोक में 'द्विजाः' इस सम्बोधन का प्रयोग किया गया है । अधीत पढ़ हुए को स्मरण रखना द्विज धर्म है । आप लोग द्विज हैं इसलिए 'श्रम एव हि केवलम्' यह हमारा पूर्वोक्त कथन आपको अवश्य याद सुख देता होगा । ज्ञान रहित धर्म, भले ही अन्तःकरण को सुख देने वाला न हो किन्तु ज्ञान सहित धर्म तो ही है । यहां सर्वात्मकेनापि' 'सर्वत्र आत्मा है' इस प्रकार का आत्म ज्ञान होते हुए भी व्यासजी के अन्तःकरण को परितोष नहीं हुआ यह आश्चर्य की बात है । इस तरह ज्ञानयुक्त अथवा दयायुक्त प्रत्येक प्रकार के धर्मानुष्ठान से भी व्यासजी का अन्त करण प्रसन्न नहीं हुआ । जो जिस कार्य पर नियुक्त किया गया है, उसे उस कार्य के पूरा होने पर सन्तोष मिलना चाहिये । किन्तु सन्तोष नहीं मिला । अतः वह कार्य निष्फल ही रहा । व्यासजी ने सोचा कि इस प्रकार के धर्म के निरूपण से जब मुझे भी फल नहीं मिला तो दूसरे को कैसे मिल सकेगा ? ऐसी स्थिति में मेरा परिश्रम व्यर्थ हुआ"–यह विचार होने से उनके मन में अप्रसन्नता रही । व्यासजी भगवान् के ज्ञानावतार हैं । अतः उन्होंने जान लिया कि भगवान् की इच्छा कुछ और ही कार्य कराने की है इससे उनको आश्वासन अवश्य हुआ किन्तु पूर्णरूपेण नहीं हुआ । पूर्वोक्त ज्ञानोदय के समान ही मुझे फिर ज्ञान होगा इस निश्चय से व्यासजी सरस्वती के तट पर आसीन हो गये । सरस्वती का तट पवित्र है अतः यहां पाप का सम्बन्ध नहीं हो सकता । इस प्रकार पवित्र तट पर बैठकर अपने लिए चिन्ता करने लगे तब तर्क करने से वह कुछ निर्णय पर आये । व्यासजी एकान्त में बैठ गये जिससे धर्मादिक के विषय में जानने की इच्छा वालों की भीड़ वहां इकट्ठी न हो तथा जिससे चित्त में व्यग्रता न हो–इस बात को उन्होंने महाधिकारी होने के नाते बराबर जान ली थी । श्लोकस्थ 'इदम्' द्वारा अग्रिम निरूपित किये जाने वाले प्रसङ्ग का निर्देश किया गया है । "धर्मवित्" का अर्थ है कि–'व्यासजी धर्म के मुख्य साधन को जानते हैं" ।।२६-२७।।

आभास—तत्र प्रथमं धर्ममाह **धृतव्रतेनेति** द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—प्रथम, व्यासजी द्वारा अनुष्ठित धर्म का विचार 'धृतव्रतेन' आदि द श्लोकों से करते हैं—

श्लोक—**धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः ।**
मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतं चाऽनुशासनम् ।।२८।।

श्लोकार्थ—मैंने ब्रह्मचर्यादि व्रत को धारण करके, वेद, गुरु तथा अग्नि का निष्कपट भाव से सम्मान किया है और उनका अनुशासन माना है अर्थात् शिष्यों को पढ़ाने का धर्म भी मैंने किया है ।।२८।।

सुबोधिनी—ब्रह्मचर्यव्रतानि वेदव्रतानि च धृतानि येन । छन्दांसि वेदाः । तेषां सम्माननं तदुक्तार्थस्य ज्ञात्वाऽनुष्ठानम् । गुरवोऽपि प्रसादिताः । अग्नयः सुहुताः । एतदेव सम्माननम् । व्यलीकं कपटम् । ईश्वरवल्लोकप्रवर्तनार्थं पाषण्डवद्वञ्चनार्थं वा । अनुशासनमध्यापनम् ।।२८।।

व्याख्यार्थ—ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का और वेदोक्त नियमों का मैंने पालन किया तथा वेद, गुरु और अग्नि इनका सम्मान किया । वेदों में कहे गये अर्थ को जानकर मैंने उनका पालन किया, उनका पालन करना ही उनका सम्मान है । गुरुजनों को भी मैंने प्रसन्न किये । उनको प्रसन्न करना ही उनका सम्मान है । अग्नियों में यथोचित आहुतियां दी—यही अग्नि का सम्मान है । ईश्वर के समान, स्वयं के निर्धारित मार्ग में ही लोगों की प्रवृत्ति कराने के लिए अथवा पाखण्डी पुरुषों की तरह लोगों की वंचना करने के लिए, मैंने इन धर्मों का आचरण नहीं किया, किन्तु शुद्ध निष्कपट भाव से इन धर्मों का आचरण किया है ।।२८।।

आभास—भारतकरणं च धर्मार्थमेवेत्याह—

आभासार्थ—व्यासजी ने महाभारत की रचना, धर्म के लिए ही की है—यही बात कहते हैं—

श्लोक—**भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः ।**
दृश्यते यत्र धर्मादिः स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ।।२९।।

श्लोकार्थ—भारत-रचना के मिष से, वेद के अर्थ का प्रकाश लोक में फैलाया है (यह भारत यद्यपि 'इतिहास' माना जाता है, किन्तु इसमें वस्तुतः वेद के अर्थ का प्रतिपादन है) स्त्री, शूद्र आदि भी, इस 'भारत' के माध्यम से सुगमतापूर्वक धर्मादि का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ।।२७।।

सुबोधिनी—**भारतव्यपदेशेनेति** । वस्तुतः कल्पसूत्रवद्वेदार्थप्रतिपादक एव । इतिहासवाचक शब्दकरणं तु व्याजमात्रम् । तदाह । भारतेति व्यपदेशमात्रम् । अन्यथा शूद्रादीनामधिकारो न स्यादिति हिशब्दार्थः । आम्नाये दृष्टान्तार्थमुक्तो धर्मो लौकिकोऽत्र प्रत्युक्तः । न तु यज्ञादि । "**धन्वन्निव प्रपा असी**" त्यादौ यथा । अत एव वेदे प्रतिपादितो धर्मो न शूद्रादिभिर्ज्ञातुं शक्यः । अत्र तु शक्य इत्याह—**दृश्यत इति** । उपदेशव्यतिरेकेणाऽपि ज्ञायत इत्यर्थः ।।२९।।

व्याख्यार्थ—वस्तुतः भारताख्यान कल्पसूत्रों की तरह वेदार्थ का ही प्रतिपादन करता है फिर भी इस 'भारत' को इतिहास की ही जो संज्ञा जो दी गई है वह मिष व्याज मात्र है । यदि ऐसा न किया जाये और 'भारत' को साक्षात् वेद की संज्ञा प्रदान की जाये तो जो जैसे वेदादि में स्त्री, शूद्रों का अधिकार नहीं माना जाता वैसे ही 'भारत' में भी स्त्री, शूद्रों का अधिकार नहीं रहता ।

इसीलिए भारत को व्यासजी ने इतिहास के रूप में प्रकट किया है । वेद में प्रतिपादित धर्म, स्त्री, शूद्र आदि नहीं समझ सकते । किन्तु इस भारत में जिस वेदार्थ का प्रतिपादन किया गया है, उसे तो स्त्री, शूद्र आदि भी उपदेश के बिना ही सहज समझ सकते हैं । वेदार्थ का प्रतिपादन होने से भारत में अलौकिकता है और लौकिक धर्म का प्रतिपादन होने से लौकिकता है । इस तरह भारत में निरूपित धर्म, अर्ध अलौकिक है ।।२९।।

आभास—एवं धर्मान्निरूप्य तेषां फलव्यभिचारमाह—

आभासार्थ—इस तरह धर्मों का निरूपण करने पर भी धर्म का जो फल होना चाहिये, वह नहीं हुआ, यही कहते हैं कि—

श्लोक—**अथाऽपि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवाऽऽत्मना विभुः ।**
असम्पन्न इवाऽऽभाति ब्रह्मवर्चस्व्यसत्तमः ।।३०।।

श्लोकार्थ—इस तरह धर्म का अनुष्ठान करने पर भी मेरी आत्मा देहाभिमान से मुक्त नहीं हुई । अतः मेरी आत्मा, सर्वसमर्थ ब्रह्मतेज से सम्पन्न होती हुई भी मानो असम्पन्न सी, असम्पूर्ण सी न हो, ऐसी अत्यन्त असत् प्रतीत होती है ।।३०।।

सुबोधिनी—अथाऽपीति । धर्मकरणे प्रयासस्मरणात्— **बतेति** । आत्मनामुपाधिभेदाद्भेदं मन्यते । ब्राह्मणदेह एव आत्मनो ब्राह्मणोऽहमिति बुद्धिः । न देहान्तरे । मानसश्च योगी भवति । अन्नमयत्वात् । नैयायिकवद्वा मानसो भेदः । अध्यासेन वा भेदः । अग्निवत्संक्रमणेन वा । तदाह । दैह्यो ह्यात्मा । तेनैव देहाभिमानिना न सन्तुष्यति । चकारान्मानसश्च । यथा देहाभिमानी दैहिकान्विषयान्प्राप्य तुष्यति तथाऽन्तःकरणाभिमानी तद्विषयान् । तत्र विषयाभावं निवारयति—**विभुरिति** । सर्वसमर्थोऽयमात्मा । **असम्पन्न इव** । प्राप्याऽपि सर्वविषयानसम्पन्नः । **इवेति** कदाचित्कदाचित्तथा स्फुरणात् । स्वस्मिन्विरुद्धधर्माविभासमाह—**ब्रह्मवर्चस्व्यसत्तम इति** । वस्तुतो ब्रह्मवर्चस्वी । प्रतीतिरसत्तम इति । पाठान्तरे तु ब्रह्मवर्चस्येन सत्तमः । ब्राह्मणानां हि ब्रह्मवर्चस्यमेव फलम् । तत्सम्पत्तावप्यसम्पन्न एवेति वा विरोधः ।।३०।।

व्याख्यार्थ—धर्म के आचरण से तो केवल श्रम ही हुआ—इस तरह स्मरण होने से व्यासजी पश्चात्ताप करते हैं—इसी का निर्देश 'बत' शब्द से किया गया है । ब्राह्मण देह में ही 'मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसी बुद्धि आत्मा' के प्रति होती है किन्तु अन्य के देह में ऐसी बुद्धि नहीं होती । सत्त्व शुद्धि होने पर ही कैवल्य की स्फूर्त्ति होती है । सत्त्व शुद्धि के अभाव में ही देहादि को उपाधि का लेकर आत्माओं का भेद माना जाता है, इसीलिए व्यासजी ने 'मे देह्य आत्मा' ऐसा कहा, इससे यह सिद्ध होता है कि उनका 'सर्वात्म भाव' तिरोहित हो गया है-तदनुसार उन्हें आत्म प्रसाद रूप फल की प्राप्ति नहीं हुई । यहाँ शङ्का करते हैं कि देह को आत्मा मानने पर 'देह्य आत्मा' की 'देहात्मा' की स्फूर्ति होनी चाहिये, किन्तु व्यासजी तो योगी हैं । अतः उनमें 'देहात्मा' की स्फूर्ति का अभाव है, फिर भी उनको इस प्रकार की देहात्मा की (मे देह्योह्यात्मा) स्फूर्ति क्यों हुई ? इसका समाधान

यह है कि योगी का मन से विशेष सम्बन्ध रहता है। अतः उनके भी यहां अर्थात् योगियों के मतानुसार भी पुरुष भेद आत्मा का भेद स्वीकार किया गया है और इसीसे व्यासजी को योगी होते हुए भी सर्वात्म भाव नहीं हुआ। श्रौत विचार के अनुसार देखा जाय तो मन अन्नांश है. मानव जैसा अन्न खाता है वैसा मन होता है। अतः अन्नांश के भेद से मन का भेद माना गया है। नैयायिक मत में, आत्मा से भिन्न एवं अनेक मन माने गये हैं अतः मन की उपाधि को लेकर आत्मा का भेद माना गया है इसलिए देह्य आत्मा' ऐसा कहा गया है। अर्थात् देहाभिमानो आत्मा, मनोभिमानी आत्मा भिन्न भिन्न हैं इसलिए 'देह्य आत्मा' ऐसा कहा गया है। अथवा देहाध्यास वाला आत्मा भिन्न है और अध्यास रहित आत्मा भिन्न है। अथवा अयोगोलक में जैसे अग्नि का संक्रमण होता है उसी तरह आत्मा जिस जिस वृत्ति को स्वीकार करतो है, उस उस वृत्ति के भेद से यहां 'मे देह्य आत्मा' ऐसा कहा गया है अर्थात् अयोगोलक में अग्नि की तरह देह में आत्मा का संक्रमण होता है तो उस उस वृत्ति के भेद से उस उस आत्मा का भेद माना जाने के कारण 'मे देह्य आत्मा' ऐसा कहा गया है। वही देहाभिमानी आत्मा देहाभिमानो से अपने से सन्तुष्ट नहीं होता। इसी प्रकार इसी तरह योगी का मानस आत्मा मनोभिमानी आत्मा से सन्तुष्ट नहीं होता। जिस प्रकार देहाभिमानो देह के विषयों को प्राप्त कर सन्तुष्ट होता है वैसे ही अन्तःकरणाभिमानी मनोभिमानी अपने विषयों को प्राप्ति से सन्तुष्ट होता है। आत्मा सर्व समर्थ है—इसलिए उसे विषय प्राप्त हैं तथापि समस्त विषयों को प्राप्त करके भी, मानो विषयों को प्राप्त नहीं किये हों, इस तरह असम्पन्न की तरह प्रतीत होता है—इसी का निर्देश 'इव' पद से किया गया है। इस संधान रूप आत्मा में विरुद्ध धर्मों का अवभास हो, इसका निर्देश ब्रह्मवर्चस्व्यसत्तमः' से किया गया है अर्थात् यह आत्मा वास्तव में ब्रह्मवर्चस्वी है। अर्थात् वेदों के अध्ययन अध्यापन सुलभ ब्रह्मतेज से मेरी आत्मा सम्पूर्ण है तथापि इसमें अत्यन्त न्यूनता असत्तमता प्रतीत हो रही है। अथवा 'ब्रह्मवर्चस्येन सत्तम.' ऐसा पाठान्तर लें तो उसका तात्पर्य होगा—"ब्रह्मतेज के कारण अत्युत्तम होते हुये भी, यह आत्मा मानो असम्पूर्ण है" ऐसी प्रतीति होती है। वस्तुतः वैदिक बल से ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती ही है और यही ब्राह्मणों के लिए एकान्त फल है, परन्तु इस प्रकार के ब्रह्मतेज से समृद्ध होते हुये भी आत्मा मानो दरिद्र सी भासित हो रही है—यह उचित नहीं, यहाँ व्यासजी का यही आशय दिखाई देता है ॥३०॥

आभास—कार्ये सति कारणस्याऽवश्यकत्वात्कारणजिज्ञासायां योगजधर्मेण स्फुरितं कारणमाह—

आभासार्थ--व्यासजी के इस असन्तोष रूप कार्य से यह अनुमान किया जा सकता है कि इसका कोई कारण अवश्य है—तदनुसार, इस कारण विचार के अनुसार योगज धर्म से जो कारण स्फुरित हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक—**किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः।**
प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः ॥३१॥

श्लोकार्थ—अथवा तो क्या मैंने भगवत्सम्बन्धी भागवत धर्म का निरूपण नहीं किया? ये भागवत धर्म ही परमहंस महात्माओं को प्रिय होते हैं, क्योंकि ये भागवत

धर्म ही भगवान् से साक्षात्कार को सिद्ध कर देते हैं। वस्तुतः ये भागवत् धर्म ही श्री भगवान् को प्रिय होते हैं ।।३१।।

सुबोधिनी—किं वेति । भागवताः प्रमाणतः साधनतः फलतश्च भगवत्सम्बन्धिनः । ते अनुष्ठिता अपि न निरूपिताः । अधिकारो हि निरूपणे । सर्वे धर्मा निरूपिताः सर्वेषां न परमहंसानाम् । यद्यपि तुर्याश्रमधर्मा निरूपिता अवधूतधर्माश्च । तथाऽपि ते न तेषां प्रियाः । क्लेशभूयर्ल्पसारत्वात् । नन्वानुशासनिके तेऽपि निरूपिताः ? तत आह— **प्रायेणेति** । भागवता धर्मास्तु स्वतन्त्राः । ते ह्यन्यशेषेण निरूपिता न निरूपिता एव । आनुशासनिके हि कालादिशेषत्वेन निरूपिताः । परमस्य हंसाः परमहंसाः । परमाश्च ते हंसाश्चेत्यत्राऽपि परमत्वं भगवदीयत्वेनैव परमहंसत्वसाधका एवाऽन्ये धर्माः । सिद्धे पुनः परमहंसत्वे भगवद्धर्मा एव प्रियाः । परमात्मत्वाद्भगवतः । गङ्गादर्शनानन्तरं यथा गङ्गादेवतादिदृक्षा । तथाऽऽत्मज्ञानानन्तरं परमात्मदिदृक्षा सा धर्मैरेव सम्पद्यते । ननु तथापि कोऽयमत्याग्रहस्तत्राऽऽह—**त एव ह्यच्युतप्रिया इति** । त एव धर्मा एव हीत्यात्मपर्यवसानात् । यदि ते परमहंसास्तदा पारम्पर्याद्गौणता । भगवतो भगवदीयानां च प्रिया इत्यर्थः ।३१।।

व्याख्यार्थ—भागवत-धर्म प्रमाण से, साधन से तथा फल से भगवत्सम्बन्धी है। इसका मैंने पालन तो किया किन्तु निरूपण नहीं किया। मेरा अधिकार निरूपण करने का है। मैंने सभी के सर्व धर्मों का निरूपण किया किन्तु भक्तों के, परमहंसों के धर्मों का निरूपण नहीं किया। यद्यपि मैंने सन्यासाश्रम का तथा अवधूत धर्मों का निरूपण किया, परन्तु ये धर्म परमहंसों को प्रिय नहीं है, क्योंकि इनके आचरण में क्लेश अधिक है और सार अल्प है। शंका करते हैं कि अनुशासन पर्व में तो भागवत धर्मों का निरूपण किया है तो निरूपण नहीं किया यह कैसे कहते हो ? इसके समाधान में कथन है कि 'न प्रायेण' प्रायः करके निरूपण नहीं किया। अर्थात् भगवत्सम्बन्धी धर्म स्वतन्त्र है, उनका यदि अङ्गरूप से वर्णन किया जाये तो वे निरूपित न किये गये जैसे ही है। अनुशासनिक पर्व में भगवत् धर्मों का निरूपण कालादि के अङ्गरूप में है स्वतन्त्र रूप में नहीं है। मैंने इनका मुख्य रूप से वर्णन नहीं किया इसलिए असंतोष है। परमहंस पद से यहाँ भगवद्भक्त लिये गये हैं क्योंकि परमहंस का विग्रह 'परमस्य हंसाः' 'परमाश्च ते हंसाः' ऐसा है। परम जो भगवान् उसके भक्त अथवा श्रेष्ठ जो भक्त। दूसरे विग्रह में जो श्रेष्ठता बताई गई है वह भगवदीय होने से है। अन्य जितने भी धर्म हैं वे भगवदीय बनाने के लिए ही है, भगवदीय हो जाने पर तो भगवत् धर्म ही प्रिय होते हैं क्योंकि भगवान् परम आत्मा है। आत्मा ही सर्वतोधिक प्रिय होती है। गङ्गादर्शन के अनन्तर जैसे उसके देवता के दर्शन की इच्छा होती है, उसी तरह आत्म ज्ञान होने पर परमात्मा के दर्शन की इच्छा होती है। परमात्मा के दर्शन की इच्छा भगवद्धर्मों से ही होती है। प्रश्न करते हैं कि आपको भगवदीय धर्मों के निरूपण करने का अत्यन्त आग्रह क्यों है ? तो कहते हैं कि 'त एव ह्यच्युत प्रियाः' यहाँ 'तत्' पद से भगवत्सम्बन्धी धर्म ग्रहण किया गया है। तत् शब्द के पूर्व जो 'परमहंस' पद है उसके अर्थ का 'तत्' शब्द से ग्रहण नहीं होता। यदि 'तत्' शब्द से 'परमहंस' लिया जाये तो वे परम्परया अक्षर ब्रह्म में निष्ठा वाले होते हैं, इसलिए उनकी यहाँ गौणता है, मुख्यता नहीं। अक्षर ब्रह्म में निष्ठा वाले परमहंस गौण हैं, वे भगवत् प्रिय नहीं बन सकते तो 'त एव ह्यच्युतप्रियाः' से विरोध आयेगा अतः श्लोकस्थ 'तत्' पद से असन्निकृष्ट 'धर्म' पद का ग्रहण

करना चाहिये । भगवत्सम्बन्धी धर्मों का फल आत्मा में होता है इसका निर्देश 'हि' पद से किया गया है अर्थात् वे धर्म निश्चयपूर्वक भगवान् को प्रिय है क्योंकि उनका फल आत्मगामी है। 'अच्युप्रियाः' अर्थात् भगवत्सम्बन्धी धर्म भगवान् तथा भगवदीय दोनों को ही प्रिय है । अच्युत पद से भगवान् तथा भगवदीय दोनों ग्रहण किये गये हैं ॥३१॥

श्लोक—**तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः ।**
कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—इस तरह अपने आपको असम्पन्न मानकर व्यासजी जब खेद कर रहे थे, तब उनके इस सरस्वती तटस्थ पवित्र आश्रम में भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त नारदजी का आगमन हुआ ॥३२॥

सुबोधिनी—पाषण्डनिवृत्तये आश्रमपदप्रयोगः । मुख्ये सम्प्रत्यय इति च । एतादृशे विषये नारदस्याऽधिकारात् प्रथममागत इत्याह—**तस्येति** । खिलं न्यूनम् । स्वत एव भगवद्धर्मनिरूपणे तु पूर्वोक्तभारत देरस्य च विरोधाद्विरुद्धवक्तृत्वेनाऽप्रामाण्यं स्यात् । अतः खिद्यतः । नारदवचनात्तु तथा कथने न विरोधः । **कृष्णस्येति** वाच्यनाम्नोत्तमवक्तृत्वं बोधयति । अथवा । कृष्णस्य नारद इति । प्रागुदाहृतं, सरस्वतीतटे ॥३२॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि मुद्रित सुबोधिनी में "पाखण्डनिवृत्तये आश्रमपदप्रयोगः" "मुख्ये सम्प्रत्यय इति च" यह पंक्ति "तस्यैवं खिलमात्मानम्" श्लोक की व्याख्या में दी गई है, किन्तु इसका सम्बन्ध प्रकाशकार के विवेचन से, "किंवा भागवताः धर्माः" इस श्लोक से है । उपरोक्त पंक्ति का आशय यह है कि सन्यासाश्रम धर्म की तरह परमहंसों के धर्म की तरह पाखण्डपूर्ण नहीं है । शङ्का करते हैं कि भागवत धर्म तो सबके लिए है तो परमहंस पद देने की क्या आवश्यकता है ? उत्तर में कहते हैं कि "गौणमुख्ययोर्मुख्येकार्यसंप्रत्ययः" इस न्याय से मुख्यतया परमहंसों को ही ये धर्म प्रिय हैं ।

इस प्रकार के धम के निरूपण करने में नारदजी का अधिकार है अतः पहिले उनका आगमन हुआ । श्लोकस्थ 'खिल' पद का अर्थ है 'न्यून' अर्थात् व्यासजी अपनी कृति में न्यूनता का अनुभव कर रहे थे और खिन्न इसलिए हो रहे थे कि यदि मैं स्वय ही भगवद्धर्मों का निरूपण करूंगा तो भारत आदि से विरोध आयेगा अतः विरुद्ध वक्ता होने से मेरे कथन में अप्रामाणिकता आ जायेगी । यदि नारदजी के कहने से भगवद्धर्मों का निरूपण किया जायेगा तो विरोध नहीं आयेगा । व्यासजी को कृष्ण इसलिए कहा है कि भागवत का वाच्य कृष्ण उत्तम है अतः व्यासजी भी उत्तम वक्ता है अथवा यह अर्थ भी किया जा सकता है कि 'कृष्णस्य नारदः' कृष्ण भगवान् के सम्बन्धी नारदजी पधारे । श्लोक में 'प्रागुदाहृतम्' का अर्थ यह है कि पूर्वोक्त सरस्वती के तट पर पधारे ॥३२॥

आभास—साकांक्षस्य कृत्यमाह—

आभासार्थ—खेद निवृत्ति की इच्छा वाले व्यासजी ने जो किया उसको कहते हैं—

श्लोक—**तमभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थायाऽऽगतं मुनिः ।**
पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम् ।।३३।।

श्लोकार्थ—मुनिवर नारदजी का आगमन जानकर व्यासजी शीघ्र खड़े हो गये और देवपूजित नारदजी का विधिपूर्वक पूजन किया अथवा उनका ब्रह्माजी की तरह पूजन किया ।।३३।।

सुबोधिनी– **तमभिज्ञायेति** । नारदेति (?) स्व इत्यत्र व्यासकार्य्यसाधक इति वा । स्वकार्यसाधक इति वा । **सहसेति** । अनभ्युत्थानकालेऽपि । मुनिः अकालाभ्युत्थानयोर्गुणदोषद्रष्टा । **विधिवत्** । गुरुजनपूजायां यो विधिः । अथवा । विधिमिव नारदस्य ब्रह्मपूजेव । शुद्धसात्त्विकानामपि किञ्चिज्ज्ञेयमस्ति । अत एव देवैर्नारदपूजनम् । अत एव स्वस्याऽपि । इति नाऽत्राऽलौकिकं किञ्चित् ।।३३।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां प्रथमस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

व्याख्यार्थ–नारदजी आत्मीय हैं इसलिए मेरे कार्य को सिद्ध करने आये हैं अथवा भक्ति प्रचाररूप जो नारदजी का कार्य है उसे पूर्ण करने के लिए पधारे हैं । व्यासजी अभ्युत्थान के लिए खड़े हों उसके पूर्व ही नारदजी आ गये क्योंकि वे समझते थे कि किस समय सम्मुख स्वागतार्थ आगमन उचित समझा जाता है और किस समय अयोग्य है अतः सहसा आ गये । व्यासजी गुरुजनों के सत्कार की विधि को जानते हैं अथवा नारदजी विधिवत् का तात्पर्य है 'ब्रह्मा की तरह' नारदजी का पूजन किया । शुद्ध सत्त्व वाले देवताओं के लिए भी कुछ जानने योग्य होता है अतः ज्ञान-प्राप्ति के लिए नारदजी देवताओं से पूजित हैं . नवीन ज्ञान प्राप्त करना है अतः व्यासजी ने भी नारदजी की विधिवत् अथवा ब्रह्मा की तरह पूजा की । पूजन का फल अदृष्ट न होकर ज्ञानरूप दृष्ट फल ही है । इसी का निर्देश यहां 'नात्रालौकिकं किञ्चित्" पद से किया गया है ।।३३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण प्रथम स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के वक्ता के हृत्प्रसाद प्रकरण का
चतुर्थ अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

◆

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद् भागवत संहिता

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका

हिन्दी अनुवादात्मक व्याख्या सहित

प्रथम स्कन्ध—अधिकार लीला

मध्यम प्रकरण—मध्यम अधिकार

अध्याय—५

❀ भक्ति की महिमा ❀

कारिका—**चतुर्थे सर्वधर्माणां सन्देहो विनिरूपितः ।**
निरूप्यते भक्तिमार्गे पञ्चमे तस्य निर्णयः ॥१॥
उट्टङ्कनं मध्यमत्वाद्दृष्टान्तस्य प्रदर्शनम् ।
आदावन्ते निर्णयार्थं हेतुत्वादुत्तरस्य हि ॥२॥

कारिकार्थ—चतुर्थ अध्याय में भगवान् के अतिरिक्त अन्य सर्व धर्मों के फल के विषय में सन्देह का निरूपण किया गया अर्थात् ये कहे गये धर्मपरक हैं अथवा ऊपर हैं इस पर व्यासजी को सन्देह रहा इसलिए भक्तिमार्ग के निरूपक पाँचवें अध्याय में इसका निर्णय किया जाता है । अर्थात् अब इस पाँचवें अध्याय में भक्तिमार्ग सम्बन्धित भगवद्धर्मों का फल अवश्य होता है ऐसा निर्णय किया जायेगा ।

नारदजी के मध्यमाधिकारी होने से 'पाराशर्य महाभाग' इत्यादि तीन श्लोकों से नारदजी ने व्यास के विषय में पहले तर्क किया और अन्त में उत्तर के निर्णय के लिए हेतु होने से नारदजी ने 'अहं पुरातीत भवे' अपने दृष्टान्त का निरूपण किया तो उत्तर के निर्णय में अपना दृष्टान्त कारण है अर्थात् नारदजी द्वारा जो व्यासजी को उत्तर दिया जा रहा है उसके निर्णय में अपना दृष्टान्त भी कारण है इसलिए अपना श्री नारदजी ने दृष्टान्त दिया ॥१॥२॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते नारदः पूजित इत्युक्तम् । तत्र प्रतिपूजनादिकमकृत्वा भिन्नक्रमेण पृच्छति—

आभासार्थ—पूर्वाध्याय के अन्त में व्यासजी ने नारदजी का पूजन किया, यह कहा। नारदजी ने प्रतिपूजन न कर और भिन्न क्रम से पूछा, यही यहाँ सूतजी कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—**अथ तं सुखमासीन उपासीनं बृहच्छ्रवाः ।**
देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं वीणापाणिः स्मयन्निव ।।१।।

श्लोकार्थ—सूतजी कहते हैं कि—तदनन्तर सुखपूर्वक विराजमान, महायश वाले, हाथ में वीणा धारण किये हुये देवर्षि नारदजी मानो स्मित पूर्वक अपने सम्मुख बैठे हुए विप्रर्षि व्यासजी से बोले ।।१।।

सुबोधिनी- **अथेति** । तं पूर्वोक्तधर्मवन्तम् । उत्तरपरिज्ञानान्निर्भयः **सुखमासीनः** । उत्तरप्रश्नार्थमुपासीनम् । महतो न्यूनताप्रश्नः साधारणस्य न घटत इत्याह । **बृहच्छ्रवाः** । बृहत्कीर्त्तित्वादुक्तविश्वासार्थं वा । देवर्षिः देवानामपि देवप्रतिपादकमन्त्रद्रष्टा । स ह्यलौकिको भवति । विप्रर्षिं पश्चिमबुद्धीनामुपायवक्तारं, सर्वपूरकाणां पूरकं वा । भागवतधर्माणामुत्तमत्वं ख्यापयन्निव वीणापाणिः । स्वावसरं प्राप्य ऊर्जितो विकसन्मुखो लोकैर्हसन्निव दृष्टः ।।१।।

व्याख्यार्थ चिन्ताव्याप्त उन व्यासजी को क्या उत्तर दिया जायगा इसका ज्ञान होने से नारदजी निर्भय हैं । सुखपूर्वक बैठे हैं । उत्तर पूछने के लिए पास में बैठे हुए व्यासजी से नारदजी ने पूछा । महान् को न्यूनता के विषय में पूछना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है इसी बात को कहते हैं कि बृहच्छ्रवाः’ नारदजी साधारण नहीं थे बड़ी कीर्त्ति वाले थे । अथवा ‘बृहच्छ्रवाः’ पद इसलिए है कि जो कहा जायगा उसमें विश्वास हो । देवर्षि का अर्थ यह है कि देवताओं में भी नारदजी ऐसे हैं कि देवताओं के प्रतिपादक मन्त्रो के द्रष्टा हैं इस तरह का व्यक्ति अलौकिक होता है । विप्रर्षि का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण को बाद में सूझता है और उनको ये व्यासजी उपाय बताने वाले हैं । अथवा विप्रर्षि का यह तात्पर्य है कि सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करने वाले ब्राह्मणों को कामनाओं के पूर्ति करने वाले ये व्यासजी हैं ।

नारदजी वीणा हाथ में लिये हुये यह बताते हैं कि भागवत धर्म सबसे उत्तम है, जिसका गान, वीणा लेकर मैं भी किया करता हूं । अपने बोलने के लिए यही अवसर है ऐसा समझकर नारदजी को मुख पर विशेष रूप से प्रसन्न होने के कारण लोगों ने उन्हें हँसते हुए की तरह देखा ।।१।।

आभास—महानपि मुह्यतीति **वृद्धिमिच्छतो मूलमपि नष्टमि**त्यभिप्रायेण स्वाभाविकं कुशलं पृच्छति—

आभासार्थ—व्यासजी जैसे महाव्यक्ति भी मोहित हो जाते हैं इस बात से नारदजी के हृदय में यह आया कि वृद्धि चाहने वाले का मूल ही नष्ट हो जायगा। इस अभिप्राय से नारदजी व्यासजी से स्वाभाविक कुशल प्रश्न करते हैं—

नारद उवाच—श्लोक—पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना।
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा ।।२।।

श्लोकार्थ—नारदजी ने कहा—महाभाग व्यासजी ! आपका शरीराभिमानी एवं मनोभिमानी आत्मा सन्तुष्ट तो है ।।२।।

सुबोधिनी—पाराशर्य इति। पराशरस्त्वतिवैष्णवः। तत्पुत्रः कथं भगवन्मार्गे सन्दिग्ध इति पितृनाम्ना सम्बोधनेन तदुद्बोधितम्। समर्थस्याऽधिकारे भगवन्मार्गबोधनसम्भवात्। कृतार्थत्वमाह—**हे महाभागेति**। **कच्चिदिति** कोमलप्रश्ने। **शारीर आत्मा**। आत्मना भवता। स्वेन वा भवत इति तु समुदायः। विषयाऽप्राप्तौ तु स्वेनैवाऽपरितोषः। भगवता तु भवता। अनेन लौकिकमलौकिकं वा निमित्तं पृष्टं भवति। एवं मानसः। एवशब्देन पूर्वरूपे गौणता सूचिता ।।२।।

व्याख्यार्थ—नारदजी का व्यासजी को पाराशर्य शब्द से सम्बोधित करने का तात्पर्य यह है कि आपके पिता पराशरजी बड़े ही वैष्णव थे आप उनके पुत्र होते हुए भी क्यों सन्देह में पड़े हैं ? इस बात को पिता के नाम का उल्लेख कर सूचित किया। समर्थ के अधिकारी होने पर भगवन्मार्ग का समझाना सम्भव है फिर भी ऐसा क्यों नहीं हुआ ? आप बड़े भाग्य वाले हैं इसलिए कृतार्थ हैं। श्लोक में आया कच्चित् कोमल प्रश्न के अर्थ में है। आपका शरीरादि संघाताभिमानी आत्मा अपने से प्रसन्न है न ! 'स्वेन वा भवतः इति तु समुदायः' इस सुबोधिनी के वाक्यों का तात्पर्य यह है कि पहले व्यासजी की चिन्ता में 'मे देह्य' कहा गया है। वहां 'मे' पद से जैसे देहेन्द्रियादि संघात का ग्रहण किया गया है उसी प्रकार यहां 'भवतः" पद से संघात लिया गया है अर्थात् आप संघाताभिमानी हैं इसलिए अपने से आपको असन्तोष है। विषयों के प्राप्त न होने पर अपने आप असन्तोष हो सकता है परन्तु आप तो भगवान् हैं इसलिए आपको सभी विषय प्राप्त हैं फिर असन्तोष क्यों ? इस प्रकार लौकिक एवं अलौकिक रूप से असन्तोष का कारण पूछा। इसी प्रकार मनोऽभिमानी आत्मा भी क्यों असन्तुष्ट है यह पूछा। श्लोक में एव पद आया है उसका तात्पर्य यह है कि शरीर सम्बन्धी आत्मा का प्रश्न गौण है और मनोऽभिमानी आत्मा के विषय में मुख्य रूप से प्रश्न है ।।२।।

आभास—उत्तरार्थं तत्कृतं पूर्वपक्षेणाऽभिनन्दति—

आभासार्थ—व्यासजी उत्तर देवें इसके लिए व्यासजी के किये हुये कार्य को पूर्वपक्ष करके नारदजी अभिनन्दन करते हैं—

श्लोक—**जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम्।**
कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम् ।।३।।

श्लोकार्थ—आपने जो विचार किया वह सब लोकों के हित का करने वाला सिद्ध हुआ क्योंकि आपने धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का प्रतिपादक अति अद्भुत् महाभारत बनाया ।।३।।

सुबोधिनी – **जिज्ञासितमिति** । विचारितम् । सर्वलोकहिताचरणं सुष्ठु सम्पन्नम् । एककृत्यैव आकल्पकरणसिद्धेः । **अपीत्याश्चर्ये** । भगवतोऽपि प्रकृत्यपेक्षा, तव तु तदपि **नास्तीत्याह**—**इति (?) ते महदद्भुतमिति । इतीति** समाप्तौ (?) । अद्भुतस्यैत्र महत्त्वम् । **सम्पत्तिमेवाऽऽह**—**कृतवानिति** । एकं हि **शास्त्रमेकपुरुषार्थ**प्रतिपादकम् । भारतं तु धर्मादिचतुष्टयप्रति**पादकमित्याह** । सर्वैर्धर्मादिपुरुषार्थैः परितः साधनसहितं बृंहितं सम्बद्धमित्यर्थः ।।३।।

व्याख्यार्थ—जो आपने विचार किया वह सब लोगों के हित के लिए अच्छे रूप में सिद्ध हुआ । एक कार्य से ही कल्पपर्यन्त का कार्य हो गया । श्लोकस्थ 'अपि' शब्द **का आश्चर्य अर्थ है** अर्थात् आश्चर्य है कि आपने ऐसा कार्य किया । भगवान् को भी सृष्टादि के करने में प्रवृत्ति की अपेक्षा होती है । परन्तु आपको किसी की अपेक्षा नहीं रही यह महान् अद्भुत बात है । यहां "अपिते महदद्भुतम्" की जगह "इति ते महदद्भुतम्" पाठ मानते हैं तो 'इति' शब्द का अर्थ समाप्ति है अर्थात् आपका बड़ा अद्भुत जो लोक हित करने का कार्य है वह समाप्त हुआ वह कार्य कौनसा है तो कहते हैं कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का जिसमें प्रतिपादन है वह महाभारत आपने बनाया । एक शास्त्र एक ही पुरुषार्थ का प्रतिपादन करने वाला होता है परन्तु भारत में तो चारों पुरुषार्थों का प्रतिपादन है अर्थात् साधन सहित धर्मादि का उसमें वर्णन है ।।३।।

आभास—स्वाभाविकधर्मेऽपि विशेषमाह—

आभासार्थ – स्वाभाविक धर्म में भी विशेष बात कहते हैं—

श्लोक—**जिज्ञासितमधीतं च ब्रह्म यत्तत्सनातनम् ।**
तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो ।।४।।

श्लोकार्थ—हे समर्थ व्यासजी ! आपने सनातन परब्रह्म तथा वेद का विचार किया है । ऐसी स्थिति में भी आप अकृतार्थ के समान कैसे चिन्तित हैं ? ।।४।।

सुबोधिनी– **जिज्ञासितमिति** । ब्रह्म परब्रह्म वेदश्च । तत्रैकं जिज्ञासितमपरमधीतम् । चकारादध्यापितम् । धर्मश्च । **जैमिनेरपि** तदुक्तार्थोपनिबन्धनात् । अथवा । **प्रथमा जिज्ञासा** ब्रह्मविषयिणी । द्वितीया वेदस्य । **यत्तदिति** । अतिप्रसिद्धम् । सनातनमविकृतम् । **ब्रह्म**शब्देन बृहत्त्वमेवोक्तम् । फलविपर्ययेण दूषयति—**तथापीति** । **"तरति शोकमात्मविदि"** ति श्रुतेः—**'अनीहया शोचति मुह्यमान**"इति च ज्ञानधर्मसम्पत्तौ शोकाभावः श्रुतिसिद्धः । स चाऽनुभवेन बाध्यते । न चाऽयं शोको लौकिक इत्यत आह— **अकृतार्थ इवेति** । यथा जिज्ञासाद्वयाभावे असिद्धपुरुषाथस्य शोकस्तथा सम्पन्नदशायामपीति । अत्रोत्तरकथनसामर्थ्यं तवाऽस्तीत्यत आह—**प्रभो इति** ।।४।।

व्याख्यार्थ– श्लोक में आये ब्रह्म शब्द से परब्रह्म और वेद दोनों लिये गये हैं। **परब्रह्म का तो आपने विचार किया और वेद का अध्ययन किया।** च' कार से आपने वेद को पढ़ाया तथा धर्म का विचार किया यह कहा गया है। शङ्का होती है कि धर्म का विचार तो जैमिनि ने किया है तो श्लोकस्थ 'च" से धर्म का विचार व्यासजो ने किया यह कैसे कह सकते हैं तो कहते हैं कि जैमिनि ने जो कहा है वह व्यासजी के कहे अर्थ को ही कहा है क्योंकि औत्पत्तिक सूत्र आदि में व्यासजो के कहे हुए अर्थ का ही अनुवाद देखा गया है। अथवा यों कहिये कि पहलो जिज्ञासा आपने ब्रह्म की की और दूसरी जिज्ञासा वेद की की। इससे यह सूचित हुआ कि धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा ये दोनों व्यासजी ने ही की अर्थात् उत्तर मीमांसा की तरह पूर्व मीमांसा के सूत्र भी व्यासजी ने ही बनाये। जो ब्रह्म अति प्रसिद्ध एवं अविकृत है उसका विचार किया। यहां 'ब्रह्म' शब्द से वह 'ब्रह्म' महान् हैं अथवा व्यापक है यह अर्थ लिया गया है इतना करने पर भो अशान्ति आपको क्यों है ? इसका कारण नहीं मालूम होता। वैसे तो आप आत्मवेता हैं इसलिए शोक होना ही नहीं चाहिये जैसा कि कहा है—"तरति शोक मात्मवित्" "अनोहया शोचति मुह्यमान:" इन दोनों श्रुतियों का तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञानी को शोक नहीं होता और जो धर्म के लिए चेष्टा नहीं करता वह शोक करता है परन्तु आप में तो ज्ञान एवं धर्म दोनों हैं फिर शोक क्यों हो रहा है ? आप शोकयुक्त हो ऐसा मुझे अनुभव हो रहा है। यह आपका शोक लौकिक नहीं है। यह शोक इस तरह का है कि किसी को ब्रह्म विचार और धर्म विचार न करने पर पुरुषार्थ सिद्ध न होने से जैसे शोक होता है वैसा ब्रह्म और धर्म की जिज्ञासा करने पर भी आपको शोक हो रहा है यह शोक किसलिए हो रहा है ? इसके उत्तर देने में आप समर्थ हैं इसी बात को श्लोक में आये 'प्रभो' इस पद से कहा गया है ॥४॥

आभास—प्रमाणबलविचारकाणां नाऽत्रोत्तरस्फूर्तिरित्याह—

आभासार्थ—जो लोग प्रमाण बल से ही विचार करते हैं उन्हें यहां उत्तर नहीं सूझ सकता अर्थात् व्यासजी प्रमाण बल के विचारक हैं इसलिए उन्हें उत्तर नहीं सूझ सकता इसी बात को स्वयं व्यासजी कहते हैं—

व्यास उवाच—

श्लोक—**अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं तथापि नाऽऽत्मा परितुष्यते मे।**
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं पृच्छामहे त्वाऽऽत्मभवात्मभूतम् ॥५॥

श्लोकार्थ—व्यासजी बोले—आप मेरे विषय में जो कुछ कहते हैं वह सब बिलकुल ठीक है फिर भी मेरा चित्त सन्तुष्ट नहीं है इसका कारण मुझसे छिपा हुआ है। आप बड़ी गम्भीर बुद्धि वाले और साक्षात् ब्रह्माजी के पुत्र हैं अतः मैं आपसे इसका कारण पूछता हूँ ॥५॥

सुबोधिनो—अस्त्येवेति। साधनस्य फलव्यभिचारे यन्मूलं तदव्यक्तं न प्रकटम्। लोकवेदयोरसिद्धत्वात्। अतः अगाधबोधं त्वां पृच्छामहे। अगाधं प्रमाणागम्यम्। तत्राऽपि प्रमेयबलाद्बोधः।

तदाह—**आत्मभवात्मभूतमिति** । आत्मा नारायणः । तद्भवो ब्रह्मा । तस्याऽऽत्मनो देहाज्जातम् । **आत्मभवेति** सम्बोधनं वा । हे भगवदवतार । आत्मवित् । **"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति"** श्रुतेः । आत्मैव जातः । असाधनकफलसम्बन्धो वा सूचितः । भगवत्सेवकं वा । **"भूतानि विष्णोः सुरपूजितानी"**ति वाक्यात् ॥५॥

व्याख्यार्थ - साधन, यानि धर्म जिज्ञासा ब्रह्म जिज्ञासा करते हुए भी फल के नहीं मिलने में जो कारण है वह प्रकट नहीं है अर्थात् उस कारण को मैं नहीं समझता क्योंकि लोक और वेद में वह कारण बताया नहीं गया है इसलिए "अगाधबोधं त्वां पृच्छामहे" । यहां 'अगाध' शब्द का अर्थ जो प्रमाण से नहीं जाना जाता उसे आप जानते हैं क्योंकि आप भगवान् के निकट हैं अतः भगवान् के स्वरूप के बल से उसका आपको ज्ञान है इसी बात को कहते हैं कि "आत्मभवात्मभूतम्" आप आत्मा जो नारायण है उनसे उत्पन्न जो ब्रह्मा उनके देह से उत्पन्न हुए हो । अथवा 'आत्मभव' यह सम्बोधन है । इसका अर्थ है कि हे भगवान् के अवतार नारदजी ! आप आत्मज्ञानी हैं। "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" में कहा है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है अर्थात् 'आत्मभूतं' का यह अर्थ है कि आप ब्रह्मज्ञानी हैं इसलिए आत्मा (ब्रह्म) ही हो गये हैं । आपके ब्रह्म रूप होने से बिना ही किसी साधन के आपको भगवदैक्य प्राप्तिरूप फल प्राप्त हो गया है यह भी बात उक्त कथन से सूचित होती है अथवा श्लोक में आये "आत्मभूतम्" का अर्थ है कि नारदजी ! आप आत्मा जो भगवान् उनके भूत अर्थात् सेवक हैं "भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि" इसमें जैसे भूत पद से सेवक लिया जाता है वैसे ही यहां भी भूत पद से सेवक लेना चाहिये "भूतानि विष्णोः" इत्यादि वाक्य का अर्थ यह है कि भगवान् के सेवक देवताओं से पूजित हैं । ऐसे आप हैं इसलिए मैं आपको 'अकृतार्थता' का कारण पूछना चाहता हूं ॥५॥

आभास — तस्य प्रमेयबलमाह—

आभासार्थ—नारदजी में प्रमेय बल है-यह बात व्यासजी कहते हैं—

श्लोक—**स वै भवान् वेद समस्तगुह्यमुपासितो यत्पुरुषः पुराणः ।**
परावरेशो मनसैव विश्वं सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः ॥६॥

श्लोकार्थ—आप समस्त गुप्त बात को जानते हैं अथवा वेदों का समस्त गुप्त अर्थ रूप आप हैं क्योंकि आपने श्री पुरुषोत्तम की सेवा की है । श्री पुरुषोत्तम 'पर' और 'अवर' सबके स्वामी हैं और चिन्तन मात्र से ही इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करने वाले हैं तथा गुण सङ्ग रहित होने से निर्दोष हैं ॥५॥

सुबोधिनी—स वै भवानिति । वेदानां समस्तं गुह्यं भवानिति वा । उभयत्रऽपि हेतुः—**उपासित इति** पुराणत्वमुत्तमत्वाय । तेन पुरुषोत्तमः सेवित इति कालादिनिरपेक्षः । सेव्यसामर्थ्येन सेवकसामर्थ्यं वक्तुं भगवद्गुणानाह—**परेति** । सर्वेश्वरत्वं सर्वकर्तृत्वं निर्दोषत्वं **च कर्तृत्वं च** चिन्तनमात्रेणेति गुणाः ॥६॥

व्याख्यार्थ व्यासजी नारदजी से कहते हैं कि वेदों की समस्त गुप्त बात को आप जानते हैं अथवा वेदों का जो सम्पूर्ण गुप्त अर्थ है वह आप है इन दोनों अर्थों में जो कारण है उसे कहते हैं कि आपने पुराण पुरुष की उपासना की है। पुराण पुरुष में जो पुराण पद है उसका तात्पर्य उत्तम है इसलिए पुराण पुरुष का अर्थ है पुरुषोत्तम जितने भी मर्यादा सम्बद्ध अवतार हैं वे कालादि सापेक्ष हैं अर्थात् ऐसे अवतार काल, कर्म, स्वभाव का उल्लंघन नहीं कर सकते। पुरुषोत्तम तो कालादि निरपेक्ष है क्योंकि मर्यादा सम्बद्ध में ही काल, कर्म, स्वभाव का बल है और आपने कालादि निरपेक्ष प्रभु की सेवा की है। जो सेव्य प्रभु) में सामर्थ्य होती है वही सेवक में आती है। आप पुरुषोत्तम के सेवक हैं इसलिए आप में भी पुरुषोत्तम के गुण आ गये हैं। पुरुषोत्तम में क्या-क्या गुण हैं? यह 'परावरेशो' इत्यादि पदों से कहे हैं अर्थात् 'परावरेश:' से भगवान् को सर्वेश्वर बताया है। 'मनसैव विश्वं सृजत्यवत्यत्ति' पदों से सर्व कर्तृत्व बताया है और वह भी चिन्तन मात्र से हो। अर्थात् संकल्प मात्र से इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति प्रलय करते हैं इसमें भी आपको प्रयास नहीं करना पड़ता। 'गुणैरसङ्ग.' से पुरुषोत्तम निर्दोष है यह कहा गया। सेव्य में ये गुण हैं अत: सन्निधान से सेवकों में भी आ जाते हैं अत: सेवक भी सेव्य जैसा बन जाता है अत: आप सेव्य जैसे बन गये हैं इसलिए आप वेदों के सम्पूर्ण गुप्त अर्थ को जानते हैं अथवा पुरुषोत्तम स्वरूप बन जाने से वेद में कहे गये गुप्त अर्थ रूप है। गीता में कहा है कि "यो यच्छ्रद्धः स एव स:' जो जिसमें श्रद्धा रखता है वह वैसा ही बन जाता है अत: आप में प्रमेय बल है और मेरे में प्रमाण बल है इसलिए आप सब कुछ जानते हैं ॥६॥

आभास— नारदस्य स्वतोऽपि सामर्थ्ये हेतुमाह—

आभासार्थ—भगवान् की सेवा से प्राप्त सामर्थ्य से अतिरिक्त भगवदवतार होने से नारदजी में स्वत: सामर्थ्य भी है इसमें कारण कहते हैं कि—

श्लोक— **त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकीमन्तश्चरो वायुरिवाऽऽत्मसाक्षी।**
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व ॥७॥

श्लोकार्थ— आप सूर्य के समान तीनों लोकों में विचरते हैं इसलिए आपको बाहरी सब ज्ञान है और योग बल से प्राणवायु के समान भीतर रहने से आपको भीतर का भी ज्ञान है तथा ज्ञानी होने से सबके साक्षी हैं अत: धर्म द्वारा परब्रह्म का और स्वाध्याय आदि नियमों से वेद का मर्म जानने वाले मुझ में जो कुछ कमी हो उसे कहिये ॥७॥

सुबोधिनी— **त्वं पर्यटन्निति**। बहिरन्त:सर्वपरिज्ञानार्थं दृष्टान्तद्वयम्। अपेक्षितरूपं च क्रियया सर्वलोकगमनम्। योगेनाऽन्त:प्रवेश:। ज्ञानेन सर्वसाक्षित्वम्। एवं सार्द्धश्लोकेन भक्त्यादिभि: सर्वसामर्थ्यं प्रतिपाद्य स्वसन्देहं पृच्छति— **परावरे ब्रह्मणीति**। परं वेदान्तप्रतिपाद्यम्। अवरं वेद:। तत्र क्रमेणैव धर्मतो यज्ञादिकरणाद्ब्रह्मणि निष्णात:। वेदव्रतादिना वेदे निष्णात:। तदुभयनिष्णातस्य यन्न्यूनं तद्विचारय। आपाततो विचारितं न भविष्यतीत्याह— **अलमिति** ॥७॥

व्याख्यार्थ – बाहरी और भीतरी सभी का नारदजी को पूर्ण ज्ञान है इसलिए यहां व्यासजी ने सूर्य और प्राणवायु के दो दृष्टान्त दिये हैं।

व्यासजी को अपने खेद की निवृत्ति के लिए जितना ज्ञान अपेक्षित है उतना ज्ञान नारदजी में है। सूर्य जिस प्रकार सर्वत्र जाता है उसी प्रकार आप भी ऐसी क्रिया करते हैं जिससे सर्वत्र आपका भी गमन अबाध है और योग बल से आप प्राणवायु की तरह भीतर भी प्रविष्ट हो जाते हैं। आप में ज्ञान है इसलिए आप सब के साक्षी भी हैं।

इस प्रकार 'स वै भगवान् वेद' से लेकर 'आत्मसाक्षी' तक डेढ श्लोक से भक्तिज्ञान और योग से आप में सब सामर्थ्य है इस प्रकार कहकर व्यासजी अपने सन्देह को पूछते हैं—

'परावरे ब्रह्मणि' वेदान्त प्रतिपाद्य जो परब्रह्म और अवर जो वेदरूप (ब्रह्म) उनमें क्रमशः धर्मतः यज्ञादि करने से आप ब्रह्म में निष्णातरूप और नियमपूर्वक वेदों का स्वाध्याय करने से वेदों में भी निष्णात हैं। इन दोनों में पारंगत मेरे में जो कुछ न्यूनता है उसको आप विचार करिये। एकदम विचार किया हुआ ठीक न होगा इसलिए पूरी तरह से विचार करिये ॥७॥

आभास—नारदस्तु विचारितमेव वर्त्तत इति सिद्धवत्कारेणाऽऽह—

आभासार्थ—नारदजी ने व्यासजी के विषय में सब कुछ विचार कर ही रखा है अतः व्यासजी की न्यूनता में नारदजी कारण बताते हैं—

नारद उवाच —श्लोक— भवताऽनुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्।
येनैवाऽसौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥८॥

श्लोकार्थ—नारदजी बोले— आपने कौरव पाण्डवों के अङ्गरूप में गीता आदि के द्वारा भगवान् के अमल यश का वर्णन किया है अतः वह नहीं कहा जैसा ही है जससे भगवान् ही सन्तुष्ट न हो ऐसे ज्ञान को मैं न्यून मानता हूँ ॥८॥

सुबोधिनी– भवतेति अग्निहोत्रसुवर्णस्त्रीज्ञानसद्भावेऽपि यथा दीपसूर्यादिव्यतिरेकेण न बहिःप्रकाशस्तथा भगवद्यशोव्यतिरेकेण नाऽन्तःप्रकाशः। भगवदीयास्तु धर्मा न ज्ञानादिभिः प्रकाश्याः। ते च महान्तो बहवश्च यद्विषयं व्याप्य तिष्ठन्ति स च विषयो न ज्ञानादिभिः प्रकाश्यते। यद्यपि भारते भगवद्यशः प्रतिपादितं गीतायां च विशेषतस्तथापि इतरशेषत्वेन प्रतिपादनात्। व्यामोहकलीलात्वेऽपि हृदये तथवाऽऽवेशात्। पूर्वकाण्डशेषत्वेनोत्तरकाण्डनिरूपणेन वेदान्तैः स्वातन्त्र्येण ब्रह्मप्रतिपादनम्। तथा भगवद्यशोऽपि गीतादौ। तदेवाऽऽह। अमलं यशः। तेनैवाऽन्तः-करणदोषाभावः। तद्व्यतिरेकेणाऽपि सर्वं भविष्यतीति ज्ञाने खिलता ॥८॥

व्याख्यार्थ—अग्निहोत्र सुवर्ण स्त्री इनका ज्ञान होने पर भी जैसे दीपक और सूर्यादि के बिना बाहर प्रकाश नहीं होता अर्थात् अग्निहोत्रादि बाह्य विषयों का ज्ञान रहते हुए भी दीप सूर्य आदि के बिना उनकी (सुवर्ण स्त्री) आदि की उपलब्धि नहीं हो सकती है इसलिए अग्निहोत्रादि

विषयक जो ज्ञान है वह न्यून है पूरा नहीं है । इसी प्रकार अन्तः प्रकाशक भगवद्यश के वर्णन के बिना भीतर रहने वाले जो भगवान् हैं उनकी प्राप्ति न होने से जो कुछ भी ज्ञान है वह न्यून है । अर्थात् आपने भगवद्यश नहीं कहा यही न्यूनता है ।

शङ्का करते हैं कि भगवद्यश के नहीं कहने पर भी ज्ञान आदि से जो अहम् आदि का आन्तर प्रकाश हो जाता है तो ज्ञान में न्यूनता कैसी ? तो इसका उत्तर देते हैं कि भगवदीय धर्म ज्ञान आदि से प्रकाश्य नहीं है क्योंकि वे भगवदीय धर्म महान् हैं और बहुत हैं । छोटा दीपक बहुत बड़े विशाल मकान में प्रकाश नहीं कर सकता और जिस परमात्मा में ये धर्म रहते हैं वह भी ज्ञानादि से प्रकाशित नहीं हो सकता । अतः भगवद्यश वर्णन करना आवश्यक है । मैंने भारत एवं गीता में भगवान् के यश का प्रतिपादन किया ही है ।

शङ्का करते हैं कि फिर मेरे ज्ञान में न्यूनता कैसी ? इसका उत्तर देते हैं कि यद्यपि महाभारत एवं गीता में आपने भगवद्यश का प्रतिपादन किया और गीता में विशेष रूप से प्रतिपादन किया है तथापि उन ग्रन्थों में आपने उस भगवद्यश को अन्य का अङ्ग बनाकर प्रतिपादन किया है मुख्य रूप से नहीं । सारथि के कार्य आदि जो महाभारत, गीता आदि में वर्णित हैं वे यद्यपि व्यामोहक लीला है तो भी हृदय में व्यामोहक रूप से उस लीला का आवेश हो जायगा अर्थात् उससे हृदय में भगवान् के प्रति सन्देह होगा । जिस प्रकार वेद के पूर्वकाण्ड को अङ्ग बनाकर उत्तरकाण्ड के निरूपण में वेदान्तों के द्वारा स्वतन्त्र रूप से ब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है उसी रूप में भगवद्यश का गीतादि में प्रतिपादन नहीं हुआ है । इसी बात को 'अनुदित प्रायम्' पद में कहा है । अर्थात् वहां वह भगवद्यश नहीं कहा जैसा ही है ।

आपको ज्ञान में न्यूनता इसलिए है कि आपने भगवान् के अमल यश को नहीं गाया । क्योंकि महाभारतादि में पाण्डव और कौरवों के अङ्गरूप में भगवद्यश का प्रतिपादन होने से भगवद्यश के इतरशेषत्व आदि आवरण हैं । इसलिए वहां अमल यश नहीं है । अन्त करण के दोष भगवान् के अमल यश के वर्णन से हो मिटते हैं और भगवान् के अमल यश के बिना ही सब कुछ कार्य हो जायगा ऐसी भावना ही ज्ञान में न्यूनता है । इसलिए आपकी आत्मा सन्तुष्ट नहीं हुई ।।८ ।

आभास—"**सर्वेषामेव भूतानां पिता माता स माधवः । तमेव शरणं यात शरण्यं कौरवर्षभाः । अच्युताऽच्युत मा मैवं व्याहराऽमित्रकर्षण । पाण्डवानां भवान्नाथो भवन्तं चाऽऽश्रिता वयम् । करिष्ये वचनं तवे**" त्यादिश्लोकसहस्रैः स्वातन्त्र्येण भगवद्यशसः प्रतिपादनात्कथमुच्यतेऽनुदितप्रायमिति ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—शङ्का करते हैं कि महाभारत आदि ग्रंथों में कहा गया है कि भगवान् ही सब प्राणियों के माता-पिता हैं इसलिए कौरव श्रेष्ठ शरण देने में (शरणार्ह) अच्छे भगवान् के ही शरण जाओ । हे शत्रुओं को नष्ट करने वाले ! हे अच्युत ! हे अच्युत ! ऐसा मत कहो मत कहो । क्योंकि हम पाण्डवों के आप ही स्वामी हैं और हम आप ही के आश्रित हैं । गीता में भी कहा है कि आपकी आज्ञा का पालन करूंगा । इत्यादि हजारों श्लोकों से स्वतन्त्र रूप से भगवद्यश का प्रतिपादन है तो आप यह कैसे कह रहे हैं कि यह प्रतिपादन नहीं करने के बराबर है इस पर कहते हैं कि—

श्लोक—**यथा धर्मादयश्चाऽर्था मुनिवर्याऽनुकीर्तिताः ।**
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः ॥९॥

श्लोकार्थ— हे मुनिश्रेष्ठ ! आपने जिस प्रकार प्रकरणशः धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का निरूपण किया उस प्रकार भगवान् वासुदेव की महिमा का वर्णन नहीं किया ।९॥

सुबोधिनी- **यथेति** । सत्यं प्रतिपादितम् । तथापि प्रकरणाभावात्— **"प्रकरणेन विधयो बध्यन्त"** इति न्यायात्तत्रत्यानां तच्छेषत्वम् । आनुशासनिकेऽपि भगवद्धर्माणां धर्मत्वेन प्रतिपादनं न यशस्त्वेन । तदाह । धर्मार्थकाममोक्षा यथा प्रकरणभेदेन प्रतिपादिता न तथा भगवन्महिमा प्रकरणभेदेन प्रतिपादित इत्यर्थः ॥९ ।

व्याख्यार्थ- महाभारत आदि में भगवद्यश का प्रतिपादन किया यह ठीक है तथापि भगवद्यश का उसमें स्वतन्त्र प्रकरण नहीं है । प्रकरण से विधि निर्बल है इस न्याय से उस-उस धर्मार्थ काम मोक्ष के प्रकरण में से महाभारतादि में उपवर्णित भगवद्यश अङ्गभूत है । क्योंकि जिसका वह प्रकरण है उसी को वहां प्रधानता रहती है । आनुशासनिक पर्व में भी भगवद्धर्मों का धर्म रूप से प्रतिपादन है यश रूप से नहीं । इसी बात को कहते हैं कि धर्म अर्थ, काम, मोक्ष इनका जिस प्रकार अलग अलग प्रकरणों में निरूपण किया गया है इस प्रकार भगवान् की महिमा का कोई स्वतन्त्र प्रकरण नहीं है इसलिए मुख्य रूप से भगवन्महिमा का प्रतिपादन वहां नहीं है ॥९॥

आभास—ननु प्रतिपादकानां (?) कथं न फलसाधकत्वम् ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ शङ्का करते हैं कि जो भगवद्यश अङ्गरूप से प्रतिपादित है वह व्यासजी को अन्तःकरण प्रसादरूप फल साधक क्यों नहीं हुआ ? इसके उत्तर में नारदजी कहते हैं कि –

श्लोक— **न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।**
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ॥१० ।

श्लोकार्थ - जिस वाणी से चाहे वह विचित्र विन्यास वाली ही क्यों न हो जगत् को पवित्र करने वाला हरि का यश किसी भी अंश में नहीं गाया गया हो उसे काक तीर्थ (उच्छिष्ट आदि अमेध्य वस्तुएं फेंकने का स्थान) ही माना जाता है उसमें कमनीय स्थान में रहने वाले हंस (परमहंस या मानसरोवर के हंस पक्षी) रमण नहीं करते ॥१०॥

सुबोधिनी—**न यद्वचश्चित्रपदमिति** । कीदृशमत्र फलं मृग्यते । कृतार्थता अन्तःकरणप्रसादः परमानन्दश्चेति चेत् ? न तस्येदं तीर्थं, किन्तु काव्यवच्छृङ्गारादिरसाविष्टानां कामिनामाश्चर्यरसजनकम् । काकानामिवोच्छिष्टगतः । प्रमाणबलं दुर्बलमिति वक्तुमाह—**चित्रपदमिति** । अर्थविशेषाभावे पदचित्रता हीनत्वबोधिका । "**शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतमि**" ति वाक्यात् ।

विषपत्रैर्भोजनवच्च तत्रत्यं प्रमेयं न हरिरूपं किन्तूत्कृष्टत्वेन प्रतिपादितम् । तदाह— **हरेर्यश इति । जगत्पवित्रमिति** । साधारणानां हि भारतं पावित्र्यजनकम् । न पतितानां न वा शुकादितुल्यानाम् । तेन न सर्वाकांक्षापूरकम् । इद तु जगत एव पवित्रम् । **वच** इति शब्दमात्रम् । **तेन** सामरागादीनामपि निवृत्तिः । **कर्हिचिदिति** मुख्यगौणलक्षणाप्रकरणादिभेदेषु एकस्मिन्नप्यंशे भगवत्प्रतिपादने न दोष इति सूचितम् । तत् काव्यवत्पदार्थप्रतिपादकम् । वायस तीर्थम् । काकतीर्थमिति यावत् । वायसा वृद्धाः काकाः । लोके चतुराश्च । तथा कामिनो राजपुत्रादयो भारते श्रद्धालवो न तु परमहंसाः । तीर्थं प्रवेशनमार्गः । दोषनिवारकं वा । तत्रोच्छिष्टगर्तादिः काकानां क्षुन्निवारकः । न त्वन्येषाम् । काकानां च न ततोऽधिकदोषनिवृत्तीच्छा । न वा तादृशगर्त्तनिर्मातुस्ततः क्षुन्निवृत्तिः । हंसत्वाच्च तस्य । उशन्ति वदन्ति । **मानसा इति** । मनस्येव तिष्ठन्ति न देहादौ । देहहितकरं च भारतम् । अहं स इति ब्रह्मात्मबुद्धिः । तद्युक्ताः परोक्षेण हंसा इत्युच्यन्ते । क्षीरनीरविवेकिनश्च सहजसिद्धमपि संश्लेषं त्याजयन्ति, न तु संश्लेषजनके रमन्ते । **"पुंसां किलैकान्तधियामि"** ति वाक्यात् । भगवच्चरित्रं तादृशम् । उशिक् कमनीयं क्षयो निवासस्थानं येषाम् । यथा यथा कमनीयता स्वरूपतो ज्ञानतश्च, तथा तथा हंसनिवासत्वम् । ततश्च युक्तितो दृष्टान्ताच्च न भारतादेरन्तःकरणशोधकत्वम् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—यहां कैसा फल चाहा जाता है ? कृतार्थता अन्त.करण प्रसाद अथवा परमानन्द की प्राप्ति । जिसमें मुख्य रूप से भगवद्यश नहीं गाया जा रहा है उन वचनों से कृतार्थता आदि उपर्युक्त फल नहीं मिलते । शृङ्गारादि रस में आविष्ट जो कामी हैं उनको वे वचन काव्य की तरह आश्चर्य रस को उत्पन्न करने वाले हैं । जिस प्रकार काक को उच्छिष्ट खट्टा अच्छा लगता है उसी तरह जिसमें भगवद्यश नहीं है ऐसा काव्य कामियों को अच्छा लगता है । इस प्रकार के वाक्यरूप प्रमाण का बल दुर्बल होता है । इसलिए कहा है कि 'चित्रपदम्' विचित्र पदशय्या जिसमें है ऐसे वचनों से अर्थ विशेष नहीं होने पर अर्थात् सुन्दर वैचित्र्य पद चित्रता पदशय्या सुन्दर होना उस वाक्य में हीनता की बोधिका है । अर्थात् जिसमें भगवद्यश गान नहीं होता वह वाक्य ही नहीं है । जिस काव्य में शब्द अच्छे हों अर्थ अच्छा हो और व्यङ्ग्यार्थ न हो वह काव्य हीन श्रेणी का माना जाता है । इस वाक्य से सुन्दर पद होने पर भी उन वचनों में हीनता है जैसे विष के पत्तों पर भोजन करने पर क्षुधा शान्त हो जायगी किन्तु आगे अनिष्ट होगा । इसी प्रकार अन्य के अङ्गरूप में वर्णित भगवद्यश के सुनने पर सुनने का (मैंने सुना है) यह अभिमान मात्र होगा किन्तु आगे कृतार्थता अन्तःकरण प्रसाद एवं परमानन्द प्राप्ति नहीं होगी । वहां अर्थ विशेष क्यों नहीं है इसके लिए कहते हैं कि वहां का प्रमेय हरिरूप नहीं है किन्तु वैसे ही उत्कृष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है । यशरूप से केवल कहा जाता है जैसे वाणी को धेनुरूप से उपासना कही गई है । इसी बात को 'हरेर्यशः' से कहा है अर्थात् वह हरि का यश नहीं है किन्तु जो वाक्य प्रबन्ध मुख्य रूप से हरि का प्रतिपादन करते हैं वे जगत् को पवित्र करने वाले हैं । साधारण व्यक्तियों को भारत पवित्र कर सकता है किन्तु पतितों को और बहुत ऊचे शुकादि तुल्यों का हित करने वाला नहीं है । इसलिए महाभारत में भगवद्यश का वर्णन करने वाला जो वाक्य प्रबन्ध है उससे सबकी आकांक्षा पूर्ति नहीं होगी और भगवद्यश को निरूपण करने वाला जो वाक्य है वह तो सम्पूर्ण जगत् को ही पवित्र करने वाला है ।

श्लोक में जो 'वचः' पद कहा है उससे यह कहा गया है कि भगवद्यश को वर्णन करने वालों के केवल शब्दोच्चारणमात्र से जगत् पवित्र हो जाता है भले ही उसे सामवेद की तरह राग आदि

से न गाया जाय। महाभारत भरतवंशी राजाओं का मुख्य रूप से प्रतिपादन करता है इसलिए वह भगवान् का मुख्य रूप से प्रतिपादन नहीं करता और 'छत्रिणोयान्ति' 'कुन्ताः प्रविशन्ति' की तरह भी गौण वृत्ति लक्षणा से और शैत्य पावनत्व इत्यादि बताने के लिए 'गङ्गायां घोषः' यहां गङ्गा पद से तीर का बोध होता है इसी प्रकार उन पदों से जिनमें मुख्य रूप से भगवद्यश नहीं गाया गया है कृतार्थता आदि के लिए भगवान् लक्षित नहीं हुए हैं। इससे लक्षणा से भी वे वाक्य भगवद्यश का प्रतिपादन नहीं करते हैं और भगवद्यश का अलग प्रकरण न होने से प्रकरण से भी भगवान् प्रतिपादित नहीं है और न व्यञ्जना वृत्ति और तात्पर्य वृत्ति से ही वहां भगवान् का प्रतिपादन है। यदि वे वाक्य मुख्य गौण लक्षणा और प्रकरण व्यञ्जना व तात्पर्य इन में से एक भी अंश को लेकर यदि भगवान् का प्रतिपादन करते तो दोष नहीं था। ऐसा शब्द जो मुख्य रूप से भगवान् का प्रतिपादन नहीं करता है वह काव्य की तरह पदार्थ का प्रतिपादन करने वाला है।

वह काव्य की तरह पदार्थ का ही प्रतिपादन करता है इसलिए काकतीर्थ है। वायस शब्द के यहां दो अर्थ हैं-बूढ़े कौए और लोक में चतुर व्यक्ति। जिस प्रकार ऐसे काकतीर्थ (उच्छिष्ट गर्त्त) में बूढ़े कौए प्रसन्न होते हैं उसी प्रकार जिसमें भगवच्चर्चा नहीं ऐसे वाक्य में लोक में चतुर रमण करते हैं। उसी प्रकार कामी राजपुत्र आदि वे भारत में श्रद्धा रखने वाले हो सकते हैं। किन्तु परमहंस उसमें श्रद्धा रखने वाले नहीं हो सकते एवं हंस भी उच्छिष्ट गर्त्त में आनन्द नहीं मनाते। हंस से यहां हंस और परमहंस दोनों अर्थ हैं। तीर्थ शब्द के यहां दो अर्थ हैं- प्रवेश का मार्ग और दोष निवारण करने वाला। उच्छिष्ट गर्त्त कौओं की क्षुधा निवृत्ति कर सकता है अन्य की नहीं। कौओं को तो उससे अधिक क्षुधा दोष निवृत्ति की इच्छा है ही नहीं इस प्रकार के गर्त्त बनाने वाले की क्षुधा भी उससे शान्त नहीं हो सकती है। क्योंकि ऐसे उच्छिष्ट गर्त्त में तो कौए ही रमण कर सकते हैं हंस नहीं और इस प्रकार के गर्त्त को कौओं का प्रवेशमार्ग (तीर्थ) कहा है। यहां उशन्ति' का अर्थ 'कहते है' और जिन्हें .... देह आदि का अध्यास है उनका हितकर भारत है और जो केवल मन से ही 'वह भगवान् मेरी आत्मा है' अथवा 'मैं ब्रह्म ही हूं' इस प्रकार का मनन करने वाले हंस हैं वे परोक्ष रूप से हंस कहे गये हैं। जल और दूध का विवेक रखने वाले जो हंस हैं वे सहज सिद्ध जो जल की मिलावट है उसमें से दूध पानी अलग कर लेते हैं। वे मिश्रित गाथाओं में रमण नहीं करते। जैसे हंस जिसमें अनेक प्रकार के अन्न हैं ऐसे उच्छिष्ट गर्त्त में रमण नहीं करते। उसी प्रकार अर्थात् परमहंस भी उच्च एवं हीन गाथाओं के एक जगह समाविष्ट होने पर भी हीन को छोड़कर उच्च जो भगवद्गाथा है उसे ही ग्रहण करते हैं तो उच्छिष्ट गर्त्त में वे कैसे रमण करेंगे ? उसमें तो कई तरह के अन्नों का सम्मिश्रण है। इसी तात्पर्य को 'पुंसां किलैकान्तधियाम्' में कहा है। भगवच्चरित्र ही वैसा है जिसमें सुन्दर भगवच्चरण के आश्रम वाले परमहंस रमण करते हैं। यहां 'उशिक्क्षयाः' का अर्थ है कमनीय निवास स्थान जो हंस और परमहंस दोनों के लिए प्रयुक्त है। जैसे-जैसे उस स्थान की स्वरूपतः ज्ञानतः कमनीयता होती है वैसे-वैसे ही उसमें परमहंस एवं हंस पक्षियों का निवास होता है। इसलिए युक्ति से और दृष्टान्त से यह सिद्ध हुआ कि भारत आदि अन्तःकरण शोधक नहीं है। तात्पर्य यह है कि परमहंस भगवच्चरित्र में ही आनन्द मनाते हैं और हंस पक्षी मान सरोवर में आनन्द मनाते हैं ॥१०॥

आभास—किञ्च। यद्यप्यस्मदादीनां न तादृशवक्तृत्व, न वा पदानां चित्रता,

प्रत्युताऽऽलापार्थं पदानामन्यथा करणं, तथापि भगवद्विषयकत्वात्पूर्वोक्तविपरीतमस्मदादीनां वचनमित्याह—

आभासार्थ—और यह बात है कि हम लोग वैसे वक्ता नहीं हैं न हमारे पदों में ही सुन्दरता है। प्रत्युत ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व व गाने के लिए पदों को व्याकरण के नियम के विरुद्ध बोलते हैं तो भी वे हमारे वचन भगद्विषयक होने से उपर्युक्त गुण नहीं होते हुए भी अच्छे हैं इसी बात को कहते हैं –

श्लोक—तद्वाग्विसर्गो जनताऽघविपल्वो
यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥११॥

श्लोकार्थ—भक्तों द्वारा उच्चारण किया गया वाक्य विन्यास जैसे भाषा के कीर्तन आदि जो व्याकरण आदि से तथा छन्द आदि से अशुद्ध है तो भी भगवान् के यश का प्रतिपादक होने से अच्छा है क्योंकि साधुजन उन्हीं वाक्यों का श्रवण, गान और कीर्तन किया करते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—तद्वागिति स चाऽसौ वाग्विसर्गश्च । स इति प्रसिद्धया भक्तकृतः । भाषागीतगीतगोविन्दादिरपि । जनतायाः प्राणिमात्रस्य अघं विशेषेण प्लावयति । सर्वथाऽत्र शब्दबलमप्रयोजकमित्याह-**यस्मिन्निति** । यस्मिन् वाग्विसर्ग । भाषाग्रन्थश्लोकेषु व्याकरणदुष्टस्य प्रयोगः अबद्धम् । तानार्थं वा अबद्धप्रयोगः । अभ्युपगमेन वा मूर्खहृदये । तत्र हेतुः–**नामान्यनन्तस्येति** । एकस्मिन्नप्यर्थे बहूनि नामानि प्रयुज्यन्ते । यथा त्रिभुवनाऽऽत्मभुवनेत्यादि । सर्वतोऽनन्तस्य अनन्तान्येव नामानि भवन्ति । न केवलं संज्ञाप्रतिपादकानि किन्तु यशसा अङ्कितानि । श्रवणे हेतुः । यत् यानि, यस्माद्वा । वक्तरि सति शृण्वन्ति । श्रोतरि सति गायन्ति । अन्यथा गृणन्ति । एतच्च पूर्वोक्तहंसादिसतां कृत्यम् । भगवत्सम्बन्धिनां धर्माणां भगवता सह अभेदाद्यत्र क्वचिदवतीर्णो भगवान् यथा सेव्यते, तथा यत्र क्वचिदपि स्थितानि नामानि श्रूयन्त इत्यर्थबलं निरूपितम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—नारदजी कहते हैं कि वह शब्द प्रयोग जो प्रेम से भक्त से बनाये गये हैं जैसे भाषा के कीतनादि और गीत गोविन्द आदि वे प्राणी मात्र के पाप को विशेष रूप से नष्ट करते हैं। इस प्रकार बिना भगवत्सम्बन्धो वाक्यों के प्रयोग में सब प्रकार के निर्दुष्ट शब्दों का प्रयोग होना चाहिये वे व्याकरणादि दोष रहित होने चाहिये यह यहां आवश्यक नहीं है। इसो बात को 'यस्मिन्' आदि से कहा है। जिस भगवत्सम्बन्धी वाक्य के प्रयोग में जो कि भाषा के ग्रन्थों के हैं भले ही वे व्याकरण के नियम के विरुद्ध हो और व्याकरण नियमों के बन्धन से रहित है अथवा अलाप के लिए ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व करके बोला गया हो तो भी अच्छा ही है अथवा अबद्धता को लेकर मूर्ख के हृदय में आते हो वे भी अच्छे हैं उसमें कारण कहते हैं कि

'नामान्यनन्तस्य" भगवद्यशोगान करने वाले वाक्यों में एक ही भगवान् को बताने वाले बहुत से नाम रहते हैं जैसे त्रिभुवन आत्मभुवन आदि आदि सब ओर से जो अनन्त हैं अतः उसके नाम भी अनन्त हैं ऐसे भगवन्नाम केवल अर्थशून्य ही नहीं होते किन्तु उनसे भगवान् का यश भी प्रतिपादित होता है। श्लोकस्थ 'यत्' का अर्थ है जिनको और जिस कारण से। जिन भगवन्नामों को वक्ता मिलने पर सुनते हैं, श्रोता मिलने पर गाते हैं और श्रोता के न मिलने पर स्वयं उन नामों का उच्चारण करते हैं। यह कार्य परमहंस आदि सत्पुरुषों का है। भगवत्सम्बन्धी धर्मों का भगवान् के साथ अभेद होने से जैसे जहां कहीं भी अवतीर्ण हुए भगवान् की सेवा की जाती है वैसे कहीं भी उच्चारण किये गये भगवन्नाम सुने जाते हैं। भगवन्नाम भगवद्रूप होने से उनमें भगवद्रूप अर्थ का बल है यह इससे कहा गया ॥११॥

आभास—एवं शब्देषु भगवच्छब्दा एवोत्तमा नाऽन्य इति निरूपितम्। इदानीमर्थे विचारः क्रियते। तत्र ज्ञानं स्वरूपतः फलतश्च महत्। तथा यज्ञादिस्तथैवाऽऽचारस्तथाऽन्ये धर्मादयः। एते भगवता भगवदीयैश्च सह स्वरूपतः फलतः समा आहोस्विन्नेति भवति विचारणा। तत्र प्रथमं ज्ञानं निन्दति—

आभासार्थ—इस प्रकार शब्दों में भगवान् के प्रतिपादक शब्द ही उत्तम है अन्य नहीं यह निरूपण किया गया अब अर्थ के विषय में विचार किया जाता है अर्थात् कौनसा अर्थ अच्छा है यह विचार किया जाता है।

वहां ज्ञान, स्वरूप और फल से महान् है क्योंकि वह मोक्ष का साधक है। यज्ञ, आचार तथा अन्य धर्म भी महान् है परन्तु ये सब भगवान् के एवं भगवदीयों के स्वरूपतः फलतः समान है या नहीं ऐसे विचार होने पर पहले ज्ञान की निन्दा करते हैं।

श्लोक—**नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।**
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चाऽर्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—भगवान् की भक्ति से रहित साङ्ख्य अथवा वैदिक ज्ञान भी शोभित नहीं होता तो कामना से होने वाला, ज्ञान का अङ्गभूत, ईश्वराराधन रूप कर्म तथा जो अकारण कर्म है वह भक्ति के बिना कैसे शोभित हो सकता है? ॥१२॥

सुबोधिनी—नैष्कर्म्यमिति। भक्तिसहितज्ञानादौ फलसिद्धेर्भवति **सन्देहः**— किं **भक्तेः** फलं ज्ञानस्य वेति? तदर्थं केवले निर्णय उच्यते। अच्युतभक्तिरहितं ज्ञानं सांख्य वैदिक वा भक्त्याऽनलंकृतत्वान्न शोभते। ज्ञानस्य शोभया तद्वतः शोभा भवति। अज्ञाननिवृत्तिश्व दीपवत्। सुवर्णपुत्तलिकाऽप्यनलकृता न शोभते। यद्यपि निरीश्वरसाङ्ख्यमते ईश्वराभावादेव भक्तिर्नास्ति। निरूप्येऽर्थे श्रद्धामात्रम्। सेश्वरेऽपि सगुण एवेश्वरः। वैदिकेऽपि यजमानादिदेवताऽऽवेशाभावे लौकिकत्वात्सर्वापेक्षायाश्चोक्तत्वादन्तःकरणशुद्धयर्थं भक्तिरपेक्ष्यते। सा च भगवच्छास्त्रानुसारिण्येव। निर्गतमञ्जनं यस्मादिति। अविद्यानिवर्तकं निरुपाधिकं वा। किं बहुना। सर्वेषु शास्त्रेषु यज्ज्ञान-

मुक्तं तस्य स्वरूपोपकारिणी फलोपकारिणी वा भक्तिरिति भक्त्यभावे स्वरूपं फलं वा न सिद्धचेदित्यर्थः । कर्माऽपि भक्तिसापेक्षमित्याह – **कुतः पुनरिति** । तत्र कर्म त्रिविधम् । कामनया क्रियमाणं ज्ञानाङ्गमीश्वराराधनलक्षणं वा । तत्राऽऽद्ये भक्त्यपेक्षा नियता । तदाह—**शश्वदभद्रमिति** । साधनकाले फलकाले च क्लेशरूपत्वाद्भक्त्यभावे न पुरुषार्थरूपं स्यात् । द्वितीये भगवति समर्पणव्यतिरेकेण ज्ञानाङ्गतैव नास्ति । समर्पणमेव भक्तिः । भक्तिसाध्यं वा । तदाह—**न चार्पितं कर्मेति** । न च भगवति अर्पितं कर्म भवतीत्यर्थः । चकारादीश्वरार्थं वा क्रियमाणम् । यदपि अकारण पञ्चरात्रोक्तम् । तस्य लौकिककर्मवत्संसारकारणत्वाभावात् । तस्मात्सर्वकर्मसु भक्तिः सहकारिणी ॥१२॥

व्याख्यार्थ- भक्ति सहित ज्ञान आदि से फल सिद्धि होने पर यह सन्देह होता है कि यह फल भक्ति से हुआ है अथवा ज्ञान से इस सन्देह को मिटाने के लिए केवल भक्ति व केवल ज्ञान का निर्णय कहते हैं। भगवान् की भक्ति से रहित जो साङ्ख्यज्ञान एवं वैदिक ज्ञान है वह भक्ति से अलंकृत न होने से शोभित नहीं होता । ज्ञान की शोभा से ज्ञानवान् की शोभा होती है । तात्पर्य यह है कि ज्ञान वाले आपका (व्यास का) मन प्रसन्न न होने से आपकी शोभा न होने के कारण केवल ज्ञान की शोभा नहीं है। यहां अशोभा से यह तात्पर्य है कि ज्ञान अल्प प्रकाश देने वाला है और मन को प्रसन्न करने वाला नहीं है अतः उसकी शोभा नहीं है जैसे दीपक अन्धकार को दूर करता है वैसे ज्ञान प्रकाशक नहीं है। शङ्का करते हैं कि व्यासजी में ज्ञान है किन्तु भक्ति नहीं है परन्तु भगवान् के अवतार तो हैं ऐसी स्थिति में उनकी (व्यासजी की) शोभा क्यों नहीं ? तो उत्तर देते हैं कि ज्ञान सुवर्ण की प्रतिमा के समान है जैसे सुवर्ण की प्रतिमा को आभूषण आदि नहीं पहनाये जाय तो उसकी शोभा नहीं होती वैसे ही भक्तिरूप अलङ्कार न होने से ज्ञान की शोभा नहीं होती । जब ज्ञान की शोभा नहीं है तो ज्ञान वाले की शोभा कैसे हो सकती है ?

शङ्का करते हैं कि साङ्ख्य में पच्चीस तत्वों के ज्ञान से फल मिलता है और वेद में ब्रह्म ज्ञान से फल मिलना बताया गया है तो फिर ज्ञान की अशोभा कैसे ? इस पर कहते हैं कि जो साङ्ख्य ईश्वर नहीं है यह मानता है उसके मत में, ईश्वर के न होने से भक्ति किसकी की जाय अतः उनके मत में भक्ति है ही नहीं ऐसी स्थिति में उससे निरूपणीय अर्थ में केवल श्रद्धा रखना बताया गया है अतएव "शैवान् पाशुपतान् दृष्ट्वा लोकायतिक कापिलान्……… सवासा जलमाविशेत्" से उसकी निन्दा बताई गई है इससे निरीश्वर साङ्ख्य में बताये गये ज्ञान की अशोभा बताई गई है यही बात ईश्वर सत्ता को मानने वाले साङ्ख्य ज्ञान की भी है क्योंकि उसके मत में ईश्वर सर्वदा सात्त्विक विग्रह वाला माना गया है अतः अच्युत प्रणिधान रूप भक्ति न होने से उसके ज्ञान की भी शोभा नहीं है अब रही वैदिक की बात उसके विषय में भी कहा गया है कि इस समय ज्ञानपूर्वक यज्ञादि न होने से यजमानादि रूप देवताओं का यजमान में आवेश न होने से यज्ञ आधिदैविक न होकर लौकिक होता है और 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इस तृतीय अधिकरण में ज्ञान स्वरूप के उपकारार्थ सबकी अपेक्षा बताई गई है अतः वहां अन्तःकरण शुद्धि के लिए भक्ति की अपेक्षा है। यदि भक्ति नहीं है तो ज्ञान न होने से ज्ञान की शोभा नहीं है।

शङ्का करते हैं कि "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः इत्यादि में उपासना रूप भक्ति होना बताया गया है तो भक्ति होने से ज्ञान की शोभा क्यों नहीं इस पर कहते हैं कि वह भक्ति शास्त्रानुसारिणी (विहित) भक्ति है स्नेहरूपा भक्ति नहीं है अतः केवल ज्ञान की शोभा नहीं है यह

कहा गया है । निरञ्जन पद का अर्थ यह है कि जो अविद्या निवर्तक अथवा निरुपाधिक ज्ञान, उसकी शोभा नहीं है । यहां श्लोक में आया 'अपि' शब्द 'च' के अर्थ में है अर्थात् 'च' का अर्थ समुच्चय है अतः उससे प्राप्त अभिप्राय कहते हैं कि 'किं बहुना' बहुत क्या कहा जाय । जो भी सब शास्त्रों में कहा गया ज्ञान है उसके स्वरूप की तथा फल की उपकारिका भक्ति है । भक्ति के न होने पर ज्ञान के स्वरूप का एवं फल की सिद्धि नहीं होती । अब कर्म भी भक्ति की अपेक्षा रखता है यह श्लोक में आये "कुतः पुनः" आदि से कहते हैं । कर्म तीन प्रकार का बताया है—पहला कर्म वह है जो किसी फल कामना से किया जाता है, दूसरा ज्ञान का अङ्गभूत है, तीसरा कर्म ईश्वराराधन रूप है । इनमें पहला जो कामना से होने वाला कर्म है उसमें भक्ति की अपेक्षा नियत है क्योंकि कामना से होने वाला कर्म साधन दशा में और फल दशा में क्लेशरूप है अतः उससे यदि भक्ति नहीं होती है तो वह कर्म पुरुषार्थरूप नहीं है ।

भगवान् की समर्पण रूप भक्ति के बिना कर्म, ज्ञानाङ्ग ही नहीं हो सकता अतः दूसरा कर्म जो ज्ञानाङ्ग है वह भी समर्पण रूप भक्ति के बिना फल साधक नहीं है ।

समर्पण ही भक्ति रूप है अथवा भक्ति से होने वाला है इसी बात को श्लोकस्थ "न चाऽर्पितं कर्म" से कही है । अर्थात् भगवान् के अर्पण नहीं हुआ कर्म कर्म ही नहीं है ।

श्लोक में आये च' कार से वह कर्म लिया गया है जो ईश्वर के लिए ही किया जाता है अर्थात् जो भगवदर्थ ही होता है वहां तो भक्ति है ही और जो कर्म लौकिक कर्म की तरह संसार का कारण नहीं है वह भी अकारण कर्म भक्ति के बिना फलदायक नहीं है । इससे सिद्ध हुआ कि सब कर्म में भक्ति की अपेक्षा है और उसके बिना न ज्ञान का शोभा है और न कर्म की ही ।।१२।।

आभास—यतो भक्तिव्यतिरेकेण ज्ञानं कर्म वा न फलसाधकमतः । आवश्यकत्वाल्लाघवाच्च मुख्यतया भक्तिरेवोपदेष्टव्या । सा च श्रवणरूपा । प्रथमं श्रवणसापेक्षा वा । अतः श्रोतव्यविषयत्वेन भगवच्चरित्रं भक्तिमार्गानुसारियोगजधर्मेण स्मृत्वा कथयेत्याह—

आभासार्थ—भक्ति के बिना ज्ञान अथवा कर्म फलसाधक नहीं है इसलिए भक्ति के आवश्यक होने से और ज्ञान कर्म के बिना ही केवल भक्ति से ही मिल जाने से तथा भक्ति में किसी की अपेक्षा न होने से केवल भक्ति के आश्रय को मानने पर लाघव है अतः मुख्यरूप से भक्ति का ही उपदेश करना चाहिये । भक्ति श्रवणरूपा है अथवा भक्ति पहले श्रवण की अपेक्षा रखती है इसलिये भक्ति मार्ग के अनुसार ही जो योगज धर्म है उससे श्रोतव्य भगवच्चरित्र का स्मरण करके कहिये इसी बात को निम्न श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**अथो महाभाग भवानमोघदृक् शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः ।**
उरुक्रमस्याऽखिलबन्धमुक्तये समाधिनाऽनुस्मर तद्विचेष्टितम् ।।१३।।

श्लोकार्थ—अतः हे महाभाग्यवान् व्यासजी ! आप सफल ज्ञान वाले पवित्र कीर्ति वाले सत्य जो भगवच्चरित्र हैं उनके वर्णन करने में लगे हुए तथा स्वाध्याय आदि नियमों को धारण करने वाले हैं अतः काल पाश से बन्धे हुए लोगों के बन्धन से मुक्ति देने के लिए जो बहुत प्रदेश को आक्रान्त करने वाले भगवान् हैं उनकी लीलाओं को समाधि के द्वारा आप स्मरण करें ॥१३॥

सुबोधिनी—**अथो महाभागेति** । यद्यप्यस्माभिर्ज्ञायते तथाप्यधिकाराभावाद्वक्तुं न शक्यते । तव त्वेतादृशेऽर्थेऽधिकार इति **महाभागेति** सम्बोधनम् । मनसा भावितोऽर्थः कदाचिदन्यथा भविष्यतीति न शङ्का कर्तव्या । यतो—**भवानमोघदृक्** । अमोघा दृष्टिर्यस्येति । नापि त्वदुक्तमन्यैर्नाऽङ्गीकर्तव्यमिति शङ्कनीयमित्यभिप्रायेणाऽऽह— **शुचिश्रवा इति** । शुचि पवित्रं श्रवः कीर्तिर्यस्येति । लोके ह्यादरणीयं रूपमेतदेव । किञ्च । तवाऽप्येतदेवाऽभीष्टमित्याह— **सत्यरत इति** । सत्ये रतः । भगवद्धर्मव्यतिरेकेणाऽन्येषामसत्यत्वात् । किञ्च । यथा व्रताचरणं धमहेतुस्तथा भगवच्चरित्रश्रवणमपीत्यभिप्रायेणाऽऽह— **धृतव्रत इति** । धृतानि व्रतानि स्वाध्यायादीनि येन । भगवद्धर्मस्फुरणे वा हेतुः । न च तादृशधर्मा भगवति न सन्तीति मन्तव्यम् । यतोऽयमुरुक्रमः । उरु अधिकः क्रमः पादविक्षेपो यस्य । वामनस्य क्षणेनैकेन पदा सर्वलोकाक्रमणमित्यग्रे विस्तारयिष्यते । सर्वे हि जीवाः स्वभावतो बद्धाः कालपाशेन । तेषां बन्धननिवृत्तिर्महानुपकारः । सा च कालनियामकभगवच्चरित्राऽऽवेशादेव भवतीत्याह—**अखिलबन्धमुक्तय इति** । लोकवेदयोरप्रसिद्धत्वादुपायान्तरमाह—**समाधिनेति** । भगवानेव स्वयं सर्वोद्धारकः स्फुरिष्यति । अनु पश्चात्त्वयाऽपि स्मर्तव्यम् । विशेषचेष्टितं भक्तिजनकं न तु व्यामोहकम् । तस्याऽपि व्यामोहकत्वे ज्ञाते विशेषचेष्टितत्वमेव ॥१३॥

व्याख्यार्थ—नारदजी कहते हैं कि—यद्यपि भगवच्चरित्र को हम भी जानते हैं तथापि हमारा अधिकार भगवच्चरित्र कहने का नहीं है और व्यासजी तुम्हारा तो अधिकार है क्योंकि तुम महाभाग्यशाली हो इसी बात को 'महाभाग' यह सम्बोधन कहता है कदाचित् आप यह शङ्का करें कि मन से विचार किया हुआ अर्थ कभी अन्यथा हो सकता है तो कहते हैं कि आपका ज्ञान निष्फल नहीं है अतः आपका मनसा भावित अर्थ ठीक ही होता है और आपको यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिये कि मेरे से कही गई बात को दूसरे नहीं मानेंगे तो कहते हैं कि आपका यह समझना ठीक नहीं है क्योंकि आप शुचिश्रवाः हैं अर्थात् पवित्र कीर्ति वाले हैं । लोक में उनका ही आदर होता है जो पवित्र कीर्ति वाले होते हैं । आपको भी भगवच्चरित्र वर्णन करना अभीष्ट है क्योंकि आप सत्यरत हैं अर्थात् सत्य में ही रत रहने वाले हैं । भगवद्धर्म ही सत्य है अन्य सब असत्य है । जैसे व्रत का आचरण धर्म का कारण है वैसे ही भगवच्चरित्र श्रवण भी धर्म का कारण है अर्थात् भगवच्चरित्र श्रवण से भी धर्म होता है क्योंकि आप स्वाध्याय आदि नियमों को धारण करने वाले हैं इसी बात को 'धृतव्रतः' इस पद से कहा है अथवा यों कहिये कि भगवद्धर्मों की स्फूर्ति में व्रत धारण करना ही कारण है अर्थात् आप स्वाध्याय आदि नियमों का पालन करने वाले हो इसलिए आपको भगवद्धर्मों की स्फूर्ति होती है । यदि कहो कि सबको बन्धन से छुड़ाने वाले धर्म भगवान् में है ही नहीं तो कहते हैं कि भगवान् उरुक्रम है अर्थात् भगवान् का चरण धरना बहुत लम्बा है । वामनजी के लिए कहा गया है कि एक क्षण में उनने अपने चरणों से सबको आक्रान्त कर लिया यह बात आगे कही जायगी ।

सब जीव कालपाश से बंधे हुए हैं उनको बन्धन से छुड़ाना महान् उपकार है परन्तु उनके बन्धन की निवृत्ति काल के नियामक भगवच्चरित्र के आवेश से हो सकती है इसी बात को "अखिलबन्धमुक्तये" से कहा है। यदि आप कहें कि लोकवेद में यह प्रसिद्ध नहीं है कि भगवच्चरित्र से बन्धन निवृत्ति होती है तो इस शङ्का पर दूसरा उपाय कहते हैं कि "समाधिनानुस्मर" अर्थात् समाधि के द्वारा भगवान् की लोलाओं का स्मरण करिये। यदि आप लोलाओं का स्मरण करेंगे तो सर्वोद्धारक भगवान् स्वयं स्फुरित हो जायंगे और उनकी स्फूर्ति के अनन्तर आप भी स्मरण करें। परन्तु वे विशेष लीलायें भक्ति पैदा करने वाली होनी चाहिये व्यामोहक नहीं होनी चाहिये। भगवल्लीलाओं को व्यामोहक जान लें तब भी वे भक्तिजनक ही होंगी इस प्रकार खेद निवृत्ति के लिए साधन कहा ।।१३।।

आभास—विपरोते बाधकमाह—

आभासार्थ—भगवच्चरित्र से दूसरी बात कहने पर बाधक कहते हैं कि—

श्लोक—**ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः ।**
न कर्हिचित्क्वापि च दुःस्थिता मतिर्लभेत वाताहतनौरिवाऽऽस्पदम् ।१४।

श्लोकार्थ—भगवान् की लीलाओं के अतिरिक्त जो पुरुष कुछ और कहना चाहता है उस पृथक्दर्शी की कथन की इच्छा से स्फुरित हुए नाम रूपों द्वारा चञ्चल हुई बुद्धि को वायु से डगमगाती हुई नौका के समान कभी कहीं भी ठहरने के लिए स्थान नहीं मिलता ।।१४।।

सुबोधिनी—ततोऽन्यथेति। अभिधेयाऽपर्यवसानं हि सर्ववस्तुषु। मरुमरीचिकावन्नियतत्वाऽभावात्। भगवतो गुणानामनन्तत्वेऽपि नियतत्वम्। अतः कार्याऽसमाप्तिशङ्कया प्रथमत एवाऽन्यन्नाऽऽरम्भणीयम्। किञ्च। विचारदशायामपि दुःखात्मकत्वात्तद्विचारिका बुद्धिरपि दुःखिता भवति। तदाह—**अन्यथेति**। ततो भगवच्चरित्रात्। यद्यपि सर्वमेव भगवच्चरित्रं तथापि भगवच्चरित्रत्वेनाऽनिरूपणात्तत्त्वेऽपि न तथात्वमित्याह—**अन्यथेति**। **किञ्चने**त्यव्ययसमुदायः। यत्किञ्चिदित्यर्थः। अनादरणोयमिति वाक्यसमाप्तिः। तदनूद्य दूषयति—**यद्विवक्षत इति**। वचनानन्तरं मध्ये वा दुःखं भविष्यतीति किं वक्तव्यं तद्वक्तुमिच्छत एव भवति। तत्र हेतुः। पृथग्दृश। भगवत्त्वेन स्तोत्रे तत्पर्यवसानाभावाद्भिन्नतया निरूपणमावश्यकम्। तथाच भगवद्धर्माऽस्फुरणादन्यत्रोत्कर्षाभावादविद्यमानविवक्षायां बुद्धिर्दुःस्था भवति। किञ्च। तत्कृतानि पृथग्दर्शनकृतानि पदार्थान्तरस्य रूपनामानि न भगवत्कृतानि। ततश्च सिद्धत्वाभावात्स्वयं कृत्वा स्वयं निरूपणे स्वयमेव पर्यवसानमिति कर्हिचिदपि कस्मिंश्चित्काले कस्मिंश्चिद्देशे च बुद्धिरास्पदं न लभेत। सर्वस्याऽपि बुद्धिकृतत्वात्। अन्यदन्यस्याऽऽस्पदं न भवति। अब्रह्मत्वेन स्वाश्रयत्वाभावाच्च। दुःखेन स्थिता दुष्टतया वा स्थिता। सदोषो वायुवत्सर्वतारिकां बुद्धि नौकामिव नाऽभीष्टदेशं प्रापयतीत्याह— **वाताहतेति**। आहता घूर्णिता ।।१४।।

व्याख्यार्थ—भगवद्धर्मों के अतिरिक्त जितने भी धर्म हैं वे बुद्धि कल्पित हैं । अतः उनकी स्थिरता नहीं है । एक-एक धर्म आदि के बुद्धि कल्पित होने से एक का भी स्वरूप अच्छे रूप से निरूपित नहीं किया जा सकता । क्योंकि मृग तृष्णा की तरह वे नियत नहीं है । अतः वाच्य अर्थ का पर्यवसान न होने से भगवच्चरित्र से अतिरिक्त कहने पर बाधकता है । शङ्का करते हैं कि आपने भगवच्चरित्र को भी अनन्त बताया है तो यह दोष वहां भी है इस पर कहते हैं कि भगवच्चरित्रों के बुद्धि कल्पित न होने से अनन्त होने पर भी उनमें नियतता है अतः वे अच्छे रूप से कहे जा सकते हैं । अन्य निरूपण की इयत्ता न होने से मेरा यह कार्य समाप्त न होगा इस आशङ्का से पहले ही अन्य निरूपण आरम्भ नहीं करना चाहिये ।

एक बात यह भी है कि भगवच्चरित्रों के सिवाय दूसरे धर्म विचार दशा में भी दुःखात्मक हैं अतः उनके विचार करने वाली बुद्धि भी दुःखित हो जाती है इस बात को श्लोक के 'अन्यथा' पद से कहा है । श्लोकस्थ 'ततः' पद का अर्थ यह है कि भगवच्चरित्र से । ततोऽन्यथा इन दो पदों का तात्पर्य यह है कि भगवच्चरित्र से अन्य जो कहना चाहता है वह ठीक नहीं करता । यद्यपि जो कुछ है वह भगवच्चरित्र ही है परन्तु वे भगवच्चरित्र रूप से नहीं कहे जाने से भगवच्चरित्र नहीं है । श्लोकस्थ किञ्चन यह अव्यय समुदाय है इसका अर्थ जो कुछ है अर्थात् भगवच्चरित्र से अन्य जो भी कुछ कहा जाता है वह आदरणीय नहीं है । भगवच्चरित्र से अन्य कहना अनादरणीय है इसका अनुवाद करके दूषित करते हैं कि "यद्विवक्षतः" अन्य बात के कहने पर अथवा कहते हुए दुःख होता है इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है किन्तु कहने की इच्छा करने पर भी दुःख होता है क्योंकि ऐसा ज्ञान भगवान् से पृथक् है उसका पर्यवसान भगवान् में नहीं है । उनको कहने वाला यदि भगवान् के स्तोत्र को मानता है तो भी उसकी दृष्टि भगवान् से पृथक् रहने के कारण उसका पर्यवसान भगवान् में न होने से उनका भिन्नरूप से निरूपण करना आवश्यक है ऐसी स्थिति में उनमें भगवद्धर्म की स्फूर्ति न होने से और अन्यत्र उत्कर्ष न होने से उत्कर्ष बताने की इच्छा करने से वर्णन करने वाले की बुद्धि दुःखित हो जाती है । पृथक् दर्शन से किये हुए दूसरे पदार्थों के नाम रूप भगवत्कृत नहीं है अतः वे सिद्ध नहीं है किन्तु बुद्धि कल्पित है बुद्धि स्वयं कल्पना करती है इसलिए उनका पर्यवसान बुद्धि से ही होता है । बुद्धि की कल्पना का पर्यवसान न होने से किसी भी समय में एवं किसी भी प्रदेश में बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती क्योंकि सभी ही बुद्धिकृत है । भगवच्चरित्र से अन्य बुद्धि कल्पित होने से बुद्धि कहीं भी स्थिर नहीं हो सकती और वह कल्पना ब्रह्मरूप न होने से ब्रह्म के आश्रित नहीं है अतः बुद्धि दुःस्थित है अर्थात् दुःखित हो जाती है अथवा दुष्ट हो जाती है । कल्पना का दोष जैसे वायु नौका को अभीष्ट प्रदेश में नहीं पहुँचने देती वैसे ही बुद्धि को पर्यवसित नहीं होने देता ।।१४।।

आभास—एवमपर्यवसानेन बुद्धिदुःखदातृत्वेन च अन्यन्न वक्तव्यमित्युक्तम् । इदानीं प्रतारकशास्त्रवदन्यकथनं पापहेतुरित्याह—

आभासार्थ—इस तरह कल्पनाओं के अनन्त होने से कहीं पर्यवसान न होने के कारण तथा अन्य चर्चा बुद्धि को दुःख देने वाली होने से भगवच्चर्चा से अन्य कुछ नहीं कहना चाहिये यह कहा । अब प्रतारणा करने के लिए जैसे प्रतारक शास्त्र कुछ का कुछ कह देते हैं वैसे प्रतारणा के लिए अन्य बात कहना भी पाप का कारण है यह बात कहते हैं—

श्लोक—**जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः।**
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जनः ॥१५॥

श्लोकार्थ—देह आदि को आत्मा मानकर उसके निर्वाह के लिए प्रयत्न करना चाहिये यह धर्म है ऐसी निन्दनीय बात स्वभावतः उस तरफ अनुराग वाले को कहना महान् अन्याय है क्योंकि उस उपदेष्टा के वाक्य से वह उसको धर्म मानने वाला प्राकृत पुरुष जो विचार करने में असमर्थ है वह ऐसा नहीं मानना चाहिये ऐसे हमारे कहने पर भी नहीं मानेगा ॥१५॥

सुबोधिनी–**जुगुप्सितमिति**। यथा अपेयपानादिकं धर्म इति बोधकस्य नरकपातस्तथा देहादिष्वात्माध्यासं कृत्वा तन्निर्वाहार्थं यतनीयमिति वक्तुर्नरकपातः। ननु दुष्टत्वात्स्वतं एव लोको न प्रवर्त्तेत। किं कथनेनाऽनिष्टं स्यादित्यत आह-**स्वभावरक्तस्येति**। **"अनुरक्तो गुणान्ब्रूते विरक्तो दूषणान्यथे"** ति न्यायाद्रागे विद्यमाने न दोषस्फूर्तिः। तस्य च स्वभाविकत्वे ज्ञाते कदाचिन्न प्रवर्तेताऽपि, धर्मत्वेऽपि ज्ञाते कदाचिदपि न निवर्त्तेतेति भगवदाज्ञोल्लङ्घनरूपो महान् व्यतिक्रमः। कूपेऽन्धपातनेन वा। नन्वन्यो निवारयतु। तथाच फलाभावान्नाऽतिक्रमो भविष्यतीत्यत आह—**यद्वाक्यत इति**। इतरः स्वतो विचाराक्षमः पुरातनवक्तृविश्वासाद्धर्मोऽयमिति निश्चितबुद्धिरन्येन अस्मदादिना क्रियमाणं निषेधं न मन्यते। यतो जननधर्मा जनन एवाऽभिरतः। बहुधा श्रुत्वाऽपि निषेधमूर्ध्वरेतसां प्रशसेति वेदानधिकृतविषय इति समप्रामाण्येऽपि विकल्प इति मन्यते। न तु निषिद्धत्वेन तथाचाऽऽपस्तम्बः—ऊध्वरेतसां प्रशंसेति। तथा च भट्टाः—येऽन्धपंग्वादयो नरा गार्हस्थ्यानर्हास्ते संन्यासादावधिकारिण इति। विकल्पो वा। उभयं ब्राह्मणमितिवत् ॥१५॥

व्याख्यार्थ– जैसे अपेय पान अभक्ष्य भक्षण धर्म है यह बताने वाला नरक में गिरता है वैसे ही देह आदि में आत्मा का अध्यास करके अर्थात् देह आदि को आत्मा मानकर उसके निर्वाह के लिए प्रयत्न करना धर्म है इस बात को बताने वाला भी नरकगामी होता है। यदि यह कहें कि देहादि के दोषयुक्त होने से लोक स्वतः ही उसमें प्रवृत्त नहीं होंगे तो फिर देहादि निर्वाह के लिए यत्न करना धर्म है ऐसा कहने पर भी क्या अनिष्ट हो सकता है इस पर कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि "स्वभावरक्तस्य" लोक देहादि में स्वभावतः अनुरक्त है ऐसी स्थिति में "अनुरक्तो गुणान्ब्रूते विरक्तो दूषणान्यथ" अर्थात् जो जिसमें अनुरक्त है वह उसके गुणों को कहता है और जो अनुरक्त नहीं है वह उसके दूषणों को कहता है इस न्याय के अनुसार अनुराग होने पर दोष रहते हुए भी उनकी स्फूर्ति उसे नहीं होगी। यदि यह ज्ञान हो जाय कि देहादि में जो प्रेम है वह स्वाभाविक है धर्मतः नहीं है तो लोक उसके निर्वाह के लिए कदाचित् प्रयत्न न भी करे परन्तु जब यह समझ ले कि देहादि के पोषण करने का यत्न करना धर्म है तो कभी भी कोई इस कार्य से विरत नहीं होगा। ऐसी स्थिति में भगवदाज्ञारूप वेद आदि का उल्लङ्घन होने से महान् अन्याय होगा अथवा लोक का इस प्रकार का गलत मार्ग बताना अन्धे को कुए में धकेलने के समान है। यदि कहो कि दूसरा कोई उसे रोकेगा तो उस उपदेश से कोई फल न होने से भगवदाज्ञा का उलङ्घन नहीं होगा इस पर कहते हैं कि "यद्वावयतः" इत्यादि अर्थात् जो स्वतः विचार करने में

समर्थ नहीं है वह पुराने वक्ता के विश्वास में ग्राकर देह को ग्रात्मा मानना धर्म है इस प्रकार को निश्चित बुद्धि वाला दूसरे से किये गये निषेध को नहीं मानेगा क्योंकि वह जन्म लेने वाला है ग्रत: वह ऐसा मानता है । देहाध्यास होने से ही तो बार-बार जन्म लेना होता है इसलिए वह मानता है कि देह में ग्रात्म बुद्धि न करना यह निषेध ऊर्ध्व रेताग्रों की प्रशंसा को बताने वाला है ग्रथात् वेद में जिनका ग्रधिकार नहीं है उनके विषय में है प्रमाणों की समानता मानने पर भी विकल्प हो सकता है ग्रर्थात् देह में ग्रात्म बुद्धि करना ठीक भी है ग्रौर नहीं भी है जैसे ग्राप स्तम्ब में लिखा है कि देह में ग्रात्म का ग्रध्यास नहीं करना यह निषेध ऊर्ध्व रेताग्रों की प्रशंसा के लिए है जैसा कि भट्ट कहते हैं कि जो ग्रन्ध पगु ग्रादि गृहस्थता के ग्रधिकारी नहीं हैं वे नैतिक ब्रह्मचर्य एवं सन्यास के ग्रधिकारी हैं ग्रथवा गृहस्थ के लिए यह विकल्प है ग्रर्थात् वे सन्यासी हो भी सकते हैं ग्रौर नहीं भी हो सकते हैं । जो सन्यासी हो जाय उनको देहाध्यास से मुक्त रहना चाहिये ग्रौर जो गृहस्थ होकर सन्यास नहीं लेते वे देहाध्यास से मुक्त नहीं रहे तो भी कोई हर्ज नहीं है यह बात उभय ब्राह्मण की तरह है ।।१५।।

ग्राभास—ननु तथापि मीमांसाद्वयेन मार्गद्वयस्य सिद्धत्वात्किमनेन तृतीयेनेत्याह—

ग्राभासार्थ—शङ्का करते हैं कि पूर्व मीमांसा ग्रौर उत्तर मीमांसा से कर्म मार्ग एवं ज्ञान मार्ग सिद्ध ही है फिर इस भगवद्यशोगानरूप भक्तिमार्ग के बताने की क्या ग्रावश्यकता है ? इस पर कहते हैं कि—

श्लोक—**विचक्षणोऽस्याऽर्हति वेदितुं विभोरनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम् ।**
प्रवर्त्तमानस्य गुणैरनात्मनस्ततो भवान्दर्शय चेष्टितं विभोः ।।१६।।

श्लोकार्थ—जिसका पार नहीं ऐसे ब्रह्म के सुख को सर्व त्याग करने वाला ही जान सकता है ग्रर्थात् प्राप्त कर सकता है परन्तु जो देह ग्रादि के विषयों में प्रवृत्त है उनको वह सुख नहीं मिल सकता ग्रतः उनके उद्धार के लिए भगवान् की लीलाग्रों का वर्णन कीजिये ।।१६।।

सुबोधिनी—विचक्षण इति । ग्रात्मसुखं हि निवृत्तिमार्गे प्रकटीभवति । ब्रह्मसुखं च परं शुकवत्सर्वपरित्यागिनः । वैराग्यं च नेदानीन्तनानां सम्भवति । तदर्थं च नूतनप्रयत्ने "तद्धेतोरेवाऽस्तु किं तेने"ति न्यायेन स्वतन्त्र एवाऽयं मार्गोऽस्त्वित्यभिप्रायेणाऽऽह । विचक्षणः कश्चिदेव ग्रस्य भगवतः ग्रनन्तपारस्य देशकालापरिच्छिन्नस्य सर्वेहोपरतितनुः (?) सुखं वेदितुमर्हति । तावताऽपि न कार्यसिद्धिरित्याह—**विभोरिति** । ग्रनात्मनो देहादेर्गुणैर्विषयैः प्रवर्त्तमानस्य न तत्सुखमिति पूर्वेण सम्बन्धः । नेत्यध्याहारः । ग्रथवा । तस्य निवृत्तितस्तत्सङ्गाभावेन, न तु तेषामपि कृतार्थकरणे समर्थः । यद्वा । प्रवर्तमानस्याऽर्थे तत्सम्बन्धी वा भवान् । तदर्थं यत्नकरणात् । तदुद्धारार्थं भगवद्गुणा वक्तव्या इत्यर्थः । निर्वाहकमाह—**विभोरिति** ।।१६।।

व्याख्यार्थ—निष्काम कर्म मार्ग में आत्म सुख प्रकट होता है। शुकदेव की तरह सभी का परित्याग करने वाले को (अर्थात् ज्ञानमार्ग में) ब्रह्म सुख प्राप्त होता है परन्तु इस समय के लोगों में वैराग्य का होना सम्भव नहीं है इसलिए ऐसे लोगों के लिए कोई नया प्रयत्न होना ही चाहिये जिससे इन्हें ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो सके। मीमांसा द्वय में भले ही निष्काम कर्म से आत्मसुख और ज्ञानमार्ग से ब्रह्मानन्द प्रकट होना कहा है परन्तु उससे क्या हो सकता है क्योंकि इस समय के लोगों में वैराग्य का होना सम्भव नहीं है अतः उनके लिए भगवद्भक्ति रूप चरित्र कहने का यह तीसरा मार्ग होना ही चाहिये इस अभिप्राय से कहते हैं कि कोई कुशल विद्वान् इस देश काल से अपरिमित भगवान् के सुख को जिसका कि निष्क्रिय[1] स्वरूप है जान सकता है परन्तु वैसे ज्ञान के होने पर भी भगवान् की नहीं देने की इच्छा हो तो उसकी प्राप्ति न होने से कार्य सिद्धि नहीं हो सकती इसी बात को 'विभोः' से कहा है तात्पर्य यह है कि वह भगवान् व्यापक है इसलिए उसका सुख भी महान् है अतः सब कोई नहीं जान सकते क्योंकि देहादि के विषयों में जिसकी प्रवृत्ति है वह उस सुख को नहीं जान सकता श्लोक के उत्तरार्ध में भी पूर्वार्द्ध में आये 'सुख' पद का सम्बन्ध होता है यहां 'न' पद का अध्याहार होता है इसलिए सुख नहीं जाना जा सकता यह अर्थ होता है अर्थात् श्लोक में नहीं अर्थ वाला 'न' नहीं है तो भी 'न' का अध्याहार होने से 'नहीं' यह अर्थ होता है। परन्तु अध्याहार भी दोष हैं इस अरुचि से "अनात्मनोगुणैः प्रवर्तमानस्य निवृत्तितः" की दूसरी योजना करते हैं। अर्थात् देहादि के विषयों में लगे हुए का सङ्ग न करने से वह ब्रह्म सुख मिल सकता है परन्तु उन विषयासक्तों को वह कृतार्थ नहीं कर सकता। आप प्रवृत्ति मार्ग वालों के लिए है अथवा प्रवृत्ति मार्ग में रहने वालों के आप सम्बन्धी हैं क्योंकि आपने उनके लिए प्रयत्न किया है इसलिए उद्धार के लिए भगवद्गुणों को कहना चाहिये। भगवान् विभु हैं, सर्व समर्थ हैं इसलिए भगवद्गुणों के वर्णन से आपके अभीष्ट का निर्वाह हो जायगा ॥१६॥

आभास—एवं चतुर्भिः श्लोकैरुपक्रमोपसंहाराभ्यां चरित्रकथने विधिर्निरूपितः। तस्य मीमांसामाह द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—इस प्रकार "अथो महाभाग" इत्यादि से लेकर "विचक्षणोऽस्यार्हति" इत्यादि श्लोक पर्यन्त उपक्रम उपसंहार से यह विधान किया गया कि व्यासजी आपको भगवच्चरित्र का वर्णन करना चाहिये यह निरूपित हुआ। अब उसका दो श्लोकों से विचार करते हैं—

श्लोक—**त्यक्त्वाऽस्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।**
यत्र क्व वा भद्रमभूदमुष्य किं को वाऽर्थ आप्तो भजतां स्वधर्मतः ॥१७॥

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद् भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥१८॥

---

[1] यह अर्थ श्री सुबोधिनी में आये "सर्वेहोपरतितनुः" की व्याख्या के रूप में प्रकाशकार ने किया है।

श्लोकार्थ—देहादि धर्म जो स्वधर्म नहीं है उसका परित्याग करके भगवान् के चरण कमलों का भजन सेवन करता है किन्तु ब्रह्मभाव की प्राप्ति होने पर यह भजन मेरा धर्म नहीं है ऐसा ज्ञान हो जाने से यदि वह पतित हो जाता है (पुनर्जीव भाव को प्राप्त हो जाता हैं) तो फिर अन्य साधनों से उसका भला नहीं हो सकता और यदि भगवान् का भजन न करते हुए केवल अधिकारानुसार वैदिक धर्मों में प्रवृत्त है उसको उन धर्मों से क्या प्राप्त होगा। अतः बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह उसी वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करे जो स्थावर से लेकर ब्रह्मपर्यन्त समस्त उच्च-नीच योनियों में भ्रमण करने पर भी नहीं प्राप्त होती है। लौकिक सुख तो बिना ही चेष्टा के जैसे दुःख प्राप्त होता है उसी तरह काल की प्रेरणा से पिता-पुत्र-भार्या आदि से प्राप्त हो जायगा अतः भगवान् के भजन के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये ।।१७-१८।।

सुबोधिनी **त्यक्त्वेति**। ननु भगवत्कथा केन श्रोतव्या ? किं धर्मकर्तृभिर्लौकिकैरधर्मकर्तृभिर्वा ? तत्राऽद्यस्याऽनवकाशः। द्वितीयस्य लौकिकव्यापारेणाऽऽविष्टस्य न प्रवृत्तिः। तृतीये दुष्टाधिकारित्वादसच्छ्रद्धता स्यात्। सर्वाधिकारित्वान्न निवृत्तिमार्गनिष्ठत्वम्। तथा सति वा अवक्तव्यमिति। तत्रोच्यते। धर्मकर्तृभिरेव श्रोतव्यं परं धर्मपरित्यागेन। "**जन्मान्तरसहस्रेष्वि**"ति भगवद्वाक्यात्। यथा निवृत्तिमार्गे धर्मत्याग तथाऽत्राऽपि – "**तावत्कर्माणि कुर्वीते**"ति भगवद्वाक्याद्बाधकानां चिरकालसाध्यानां वा परित्यागः। तथाच त्यक्त्वेति विधिः। "**न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनत**"इत्यत्रोक्तार्था अनुसन्धेयाः। तत्र हेतुः **अस्वधर्ममिति**। देहादिधर्मं तदधिकारेण वा प्रवृत्तम्। स्वस्य तु जीवस्य दासत्वाद्भगवत्सेवैव स्वधर्मः। **दाशकितवादिकमप्यधोयत एके ब्रह्मदाशा ब्रह्मकितवा इति**। इद विस्तृतमस्माभिः– "**अंशो नाना व्यपदेशादि**"त्यत्र। हरेर्भगवतः परब्रह्मणो भक्तिमार्गानुसारेण चरणसेवा जीवानां स्वाभाविको धर्मः। अंशत्वेऽपि अंशिनः सेवा मुख्या। येषामप्येतदवास्तवं तेषामपि देहधर्मापेक्षया अन्तरङ्गम्। अत्र मतान्तरमनूद्य दूषयति—**यद्यपक्व इति**। **अथ यदि पतेदिति**। जीवस्य दासत्वेन स्वधर्मत्वात्पतनशंकैव नाऽस्ति। भगवत्सायुज्यसाधनत्वाच्च। अयमेव च तस्य पाकः। फलपर्यवसानात्। यदा त्वौपाधिकं जीवत्वं तदा अस्वाभाविकाधिकारकृतत्वादपक्वता स्यात्। तथापि न पतनशङ्का। परमोपाधित्वात्। अथ भिन्नप्रक्रमेण विचार्यते। ब्रह्मभावं प्राप्तस्य नाऽयं धर्म इति। तथा सति पतेत् पुनर्जीवभावं प्राप्नुयात्। तत्राऽपि भजनान्नाऽन्यत इत्याह—**तत इति**। एवमपक्वपक्षं ब्रह्मभावाच्च भ्रंशपक्षमनूद्य दूषयति—**यत्र क्ववेति**। साक्षाद्भगवत्सायुज्यहेतुभगवत्सेवायामपि यदि पातस्तदा क्व साधनान्तरे तस्य भद्रं न भविष्यति। साधनं हि पूर्वावस्थासाध्यमेव। वेत्यनादरे। क्वापि साधने तस्य भद्रं न भविष्यतीत्यर्थः। यदा स्वाभाविकभजनज्ञानादीनां न पुरुषार्थपर्यवसायित्वं तदा दूरापास्तमन्यधर्माणामित्याह—**को वाऽर्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मत इति**। अभजतामसेवकानां केवलदेहाद्यध्यासेन प्रवृत्तानां लौकिकानां ब्राह्मण्याद्यधिकारेण प्रवृत्तानां वैदिकानां च ये धर्मास्ते वस्तुतः सतां परधर्माः। ततश्चाऽन्यधर्मैः को वाऽर्थः प्राप्तस्तैरपि को वाऽर्थः प्राप्त इति स्वशब्देनोच्यते। अभजतां हि फलं

ब्रह्माण्डस्य मध्यस्थानप्राप्तिः । तद्गते ब्रह्मणि गच्छति । स्पर्द्धाऽसूयादयश्च नियताः । **“विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा च्छलः । अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत्त्यजेदि**”ति भगवद्विमुखानां धर्मः परधर्मत्वात्त्याज्य एव । **अथ पते**दित्यत्राऽपि न साधनानुष्ठानेन कश्चित्पतति । स्थूणानिखननन्यायेन दार्ढ्यात् । तस्माद्भगवद्भजने न केनाऽपि विरोधः । किञ्च । प्रमाणबलविचारेण साधनमुखत एतदुक्तम् । प्रमेयबलविचारेण फलमुखतोऽधुना निरूप्यते । तत्रैवं पदार्थाः । सर्वोत्तमः पुरुषोत्तमः । तदनु तस्यैव रूपान्तरमक्षरम् । सर्वकार्यकर्तृ तस्याऽपि रूपान्तरं सर्वाधिकारी कालः । कालस्यांऽशभूतौ कर्मस्वभावौ । पुनरक्षरस्य रूपान्तरं यज्ञाः । पुनरक्षराद्भूभेदे प्रकृतिपुरुषौ । ततस्तत्त्वानि । ततो ब्रह्माण्डम् । तत्र पुरुषांशा अस्मदादयः । तेषां प्रयत्नव्यतिरेकेणाऽपि प्रलये पुरुषता । मध्ये कालाधीनाः फेनबुद्बुदवन्नानाभावं प्राप्नुवन्ति । तत्र विचारयतु देवानां प्रियः किं फलमिति । तस्मादक्षरपर्यन्तमनित्यत्वेन तुच्छत्वात्कालेनाऽपि सिद्धेर्न तदर्थं यत्नः कर्त्तव्यः । भगवद्भजनं तु न कालसाध्यम् । पुरुषोत्तमपर्यवसायि च । न हि पुरुषोत्तमसेवा तदन्तरंगैः क्रियमाणा बहिरधिकारिप्रेरिता भवति । कालगम्यत्वाभावात् । सर्वत्र भगवन्मार्गे भगवत एव साधनत्वेन विधानाच्च । दृश्यते च लोके महाराजान्तरङ्गसेवकानां नाऽधिकार्यधीनत्वम् । ननु देहेन्द्रियाणां कालप्रवाहस्थानां परिग्रहात्कथं न कालाधीनत्वमिति ? पुरुषोत्तमपरिग्रहादिति ब्रूमः । तस्मात्तस्यैव हेतोस्तदर्थमेव भगवत्परिग्रहार्थमेव कोविदो यतेत । न मूर्खान् दृष्ट्वा यत्र क्वचित् । ननु कथमत्र विधिः ? अप्राप्तांशाभावात् । लोकवेदयोरीश्वरभजनस्य सिद्धत्वात् । तत्राऽऽह **न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यध इति** । उपरि ब्रह्मपर्यन्तम् । अधः स्थावरपर्यन्तम् । भ्रमतां जीवानां तत्तच्छरीरेण तत्तच्छरीरधर्मेण वा यन्न लभ्यते तदर्थं यत्नः कर्तव्यः । तद्धि वैधम् । यत्नस्तु पूर्वोक्तचरणसेवा । धर्मरूपसेवाया लोकवेदसिद्धत्वेऽपि न भक्तिसेवा तत्सिद्धा । यद्यपि ज्ञानार्थमपि प्रयत्न एतादृशो भवति तथाप्यक्षरपर्यवसानान्न पुरुषोत्तमप्राप्तिः । “**अव्यक्तासक्तचेतसामि**”ति वाक्यादव्यक्तस्वरूपभगवद्रूपाक्षरप्राप्तिरेव फलम् । नन्वदृष्टेन न कथं भक्तिसिद्धिः । सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणत्वात् । तत्रोच्यते । कालसाध्य एव कर्मस्वभावयोः प्रवृत्तिः । न कालासाध्ये । किञ्च । अदृष्टं नाम पूर्वजन्मनि कृतकर्मणोऽवान्तरव्यापाररूपधर्माधर्मलक्षणम् । तत्कस्य कर्मणः । किं भगवत्प्रीतिहेतोरहेतोर्वा ? आद्यस्तु नाऽदृष्टं जनयति । दृष्टेनैव भगवत्प्रीतिजननात् । फलविपर्ययस्त्वसङ्गतः । नाऽप्रीतिहेतोः । अफलत्वेन तदर्थं न व्यापारजननं सम्भवति । किञ्च । कर्मणां प्ररोहैकस्वभावत्वाज्जन्मना नाऽन्तिमत्वसाधकत्वम् । अन्तिमे च जन्मनि भगवद्भक्तिः । भगवत्प्रसादैकलभ्यत्वात् । “**स एष साधो चरमो भवानामि**”ति वाक्यात् । जातकेऽपि धर्मरूपसेवाया एव फलत्वेन शुभग्रहैर्ज्ञायमानत्वम् । तस्मादनन्यसिद्धत्वाद्भगवद्भक्तावेव यत्नः कर्तव्यः । न च लौकिकसुखदुःखाभावार्थे यतनीयम् । कालेनैव तत्सिद्धेः । दुःखवत् । अतो देहप्राप्तावेव तद्भोगस्य सिद्धत्वात्स्वस्य पिष्टपेषणमित्याह—**तल्लभ्यत इति** । अन्यतः पितृपुत्रभार्यादिभ्यः । तेषामपि प्रेरकः कालः । स च कालः कृतिसाध्यो न भवति । न च देशः स्वतन्त्रतया साधनम् । तस्याऽपि कालाधीनत्वात् । तुल्यत्वेऽपि नियतसहभावात् । तदाह - **सर्वत्रेति** । प्रतीकाराऽकरणार्थमाह—**गभीररंहसेति** । तस्माद्भगवद्भजनार्थं प्रयत्नः कर्तव्यः । १८॥

व्याख्यार्थ—शङ्का करते हैं कि भगवत्कथा किसको सुननी चाहिये ? क्या धर्म करने वालो को अथवा लोक में फसे हुए लोगों को, किंवा अधर्म करने वालों को यह सुननी चाहिये तो कहते हैं कि धर्म करने वालों के धर्म करते रहने से कथा सुनने का अवकाश ही नही मिलता । लौकिक

व्यक्ति अपने लौकिक कार्य करते रहते हैं इसलिए उनकी कथा सुनने में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। यदि यह कहें कि अधर्म करने वालों को कथा श्रवण करना बताया है तो कहते हैं कि कथा सुनने के दुष्ट लोग अधिकारी माने जायेंगे तो यह खराब शास्त्र माना जायेगा और यहां यह भी नहीं कह सकते कि निवृत्ति मार्गियों के लिए है अर्थात् निवृत्तिमार्गीय इस कथा के सुनने के अधिकारी हैं अन्य नहीं तो कहते हैं कि कथा में सबका अधिकार है केवल निवृत्तिमार्गीय का ही नहीं है।

यदि कहें कि इसमें सर्वाधिकार मानने पर यह कथा हीन मानी जायगी तो इसे कहना नहीं चाहिये इस पर कहते हैं कि यह कथा धर्म करने वालों के लिए है इसलिए उन्हें चाहिये कि धर्म का त्याग करके कथा सुनें जैसा कि "जन्मान्तर सहस्रेषु" इत्यादि में कहा है। तात्पर्य यह है कि इस वाक्य में पापक्षय होने पर भगवद्भक्ति होना बताया है। लौकिक एवं अधर्मकर्ता का तो पापक्षय होता नही इसलिए उनका अधिकार न होने से केवल धर्मकर्त्ता को ही अधिकार प्राप्त होता है परन्तु धर्मकर्त्ता को धर्म में रत रहने से भजन का समय ही नहीं मिलेगा तो वह भी भजन कैसे कर सकेगा तो कहते हैं कि धर्म को छोड़कर उसे भजन करना चाहिये। "तावत्कर्माणि कुर्वीत" जब तक वैराग्य एवं ज्ञान न हो तब तक धर्म करते रहना चाहिये। वैराग्य एवं ज्ञान होने पर उसका त्याग कर देना चाहिये इस वाक्य से जैसे निवृत्तिमार्गीय को धर्म त्याग करना बताया है वैसे ही भक्तिमार्गीय के लिए भी कहा है। शङ्का करते हैं कि धर्मत्याग करने पर उसमें उच्छृङ्खलता आ जायेगी तो कहते हैं कि जो भक्ति में बाधक काम्य कर्म हैं उनका अथवा चिरकाल से सम्पादित होने वाले तीर्थ, सत्र आदि का त्याग करके भजन करना बताया है। अतः श्लोक में आये त्यक्त्वा' को विधि रूप समझना चाहिये। व्यासादेश में तीर्थ आदि धर्म को छोड़कर भजन करना चाहिये ऐसा कहा है इसमें कारण यह है कि आत्मधर्म जो भजन है वह ही अपना धर्म है अन्य देहादि के धर्म है अथवा उसके अधिकार से कहे गये वे उसके लिए परधर्म है। जीव भगवान् का दास है इसलिए उसका भगवत्सेवा करना ही स्वधर्म है जैसा कि "ब्रह्मदाशाब्रह्म कितवा" आदि से कहा गया है। इसका विस्तृत विवेचन हमने "अंशो नाना व्यपदेशात्" इस ब्रह्मसूत्र में किया है। भक्तिमार्ग के अनुसार भगवान् के चरण की सेवा करना जीवों का स्वाभाविक धर्म है। यदि कहें कि जीव को दास बताना अंश के अभिप्राय से है दास के अभिप्राय से नहीं है तो कहते हैं कि जीव अंश है तब भी उसका धर्म अंशी की सेवा करना है। जो जीव को अंश नहीं मानते हैं उनको भी यह तो मानना पड़ेगा कि देहादि धर्म की अपेक्षा भगवत्सेवा अन्तरङ्ग है। दूसरे लोग कहते हैं कि अपक्व दशा में भक्त भी गिर जाता है इस पर कहते हैं कि जीव दास है, उसका स्वधर्म भगवत्सेवा है ऐसी स्थिति में स्वधर्म पालन करने से उसके पतन की शङ्का ही नहीं हो सकती। भक्ति जीव को भगवत्सायुज्य प्राप्त करा देती है तो उसके पतन की शङ्का कैसे हो सकती है? भक्ति सायुज्य रूप फल देती है इसलिए भक्ति करने वाले को पक्व ही मानना चाहिये। यदि कहें कि जीव उपाधिभूत है तो अस्वाभाविक अधिकार से भजन करने से वह अपक्व रहेगा तो कहते हैं कि वह अपक्व भले ही रहे परन्तु भजन करने से उसका पतन तो नहीं हो सकता। अब भिन्न रूप से विचार करते हैं कि जो ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया है उसका भगवत्सेवा करना धर्म नहीं है। यदि वह भजन करता है तो उसका पतन होता है अर्थात् फिर उसका जीवभाव होता है उसका भजन से पतन होता है अन्य से नहीं। क्योंकि भजन में सेव्य सेवक भाव रहने से भेद स्फूर्ति होती है इस प्रकार भजन करने वाला अपक्व रहता है और ब्रह्मभाव समाप्त हो जाता है इस बात को अब दूषित करते हैं कि 'यत्र क्वव।' साक्षात्

भगवान् के सायुज्य का कारण जो भगवत्सेवा है उसमें भी पतन मानते हैं तो किस दूसरे साधन से उसका कल्याण होगा। साधन पूर्वावस्था में ही किया जाता है। श्लोक में आया हुआ 'वा' अनादर अर्थ में है अर्थात् भजन नहीं करने वाले का किसी भी साधन के करने पर कल्याण नहीं हो सकता। जब स्वाभाविक भजन ज्ञान आदि भी पुरुषार्थ साधक नहीं है तो अन्य धर्म पुरुषार्थ साधक कैसे हो सकते है ? इसी बात को "कोवाऽर्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मत" इससे कहा है। जो सेवक नहीं हैं और केवल देह आदि के अध्यास से प्रवृत्त हुए लौकिक जीव हैं और ब्राह्मण्य आदि अधिकार से प्रवृत्त हुए वैदिक हैं उनके जो धर्म हैं वे वास्तव में भगवद्भक्तों के पर धर्म हैं। भजन नहीं करने वाले लौकिकों को तथा ब्राह्मण्य आदि अधिकार से प्रवृत्त वैदिकों को अन्य धर्मों से क्या पुरुषार्थ प्राप्त हो सकता है और यह भी बात है कि जो भजन न कर अन्य धर्मों में रत रहते हैं उनको ब्रह्माण्ड में मध्य स्थान की प्राप्ति होती है जो कि स्थान ब्रह्मा के नहीं रहने पर समाप्त हो जाता है और उस स्थान को प्राप्त करने वाले में स्पर्द्धा असूया आदि दोष नियत रूप में रहते हैं। यदि कहें कि देहादि के अधिकार से होने वाले धर्म भी प्रमाण सिद्ध हैं तो उनके त्याग से दोष लगेगा तो कहते हैं कि अधिकारी भेद से दोनों ठीक हैं अर्थात् बहिर्मुख के लिए देहादि धर्म है और अन्तर्मुख के लिए भगवद्धर्म है अत: किसी प्रमाण से विरोध नहीं आता जिससे वह अशांत रहता है अत: धर्मज्ञ को चाहिये कि वह परधर्म को अधर्म समझकर छोड़ दे यही बात विधर्म: परधर्मश्च आभास उपमा च्छल: अधर्म शाखा पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत्त्यजेदि" में कही गई है।

यदि यह मान लेते हैं कि वह गिरता है परन्तु साधन के अनुष्ठान से वह गिर नहीं सकता। जिस प्रकार खूँटे को हिला हिलाकर गाड़ने से वह मजबूत ही होता है उसी प्रकार भजन करने वाला वैसी स्थिति से भी मजबूत होगा। अत: भगवद्भजन करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं कहा जा सकता। अब यहां से "तस्यैव हेतो:" इस श्लोक का अर्थ किया जाता है कि यह बात प्रमाणबल के विचार से अर्थात् साधनों के विचार से कही गयी है अब प्रमेय बल विचार से फल के द्वारा निरूपित की जाती है।

प्रमेय में पुरुषोत्तम सर्वोत्तम है उसके बाद उसीका दूसरा रूप अक्षर ब्रह्म है जो कि सब ब्रह्माण्ड रूप कार्य करता है उसी अक्षरब्रह्म का दूसरा रूप जिसको सब अधिकार प्राप्त है वह काल है। काल के अंशभूत कर्म और स्वभाव हैं, दूसरे अक्षरब्रह्म के रूप यज्ञ हैं और उसी के रूपान्तर प्रकृति पुरुष है उन्हीं से तत्त्व हुए हैं और उनसे ब्रह्माण्ड हुआ है। जीव जो हम हैं वे पुरुष के अंश हैं। वे कुछ भी प्रयत्न न करें तब भी प्रलय में वे पुरुष रूप बन सकते हैं क्योंकि जिससे पैदा होते हैं प्रलयकाल में उसी में लीन हो जाते हैं। बीच में वे जीव काल के अधीन होकर झाग और बुद्बुद के समान अनेक भावों में परिणत होते हैं। तो बता, मूर्ख ! भजन को छोड़कर अन्य धर्मों से क्या फल प्राप्त होता है ? अक्षर से नीचे जितने भी हैं वे सभी अनित्य हैं और तुच्छ हैं, वे काल के द्वारा अपने आप अपने कारण में लीन हो जाते हैं तो उसके लिए क्यों प्रयत्न करना चाहिये। अर्थात् पुन: कारण रूप होने के लिए क्यों प्रयत्न करना चाहिये ? अत: भगवद्भजन करने के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि वह काल से साध्य नहीं है अर्थात् काल के द्वारा भगवद्भजन हो जायगा, यह नहीं हो सकता। भजन पुरुषोत्तम का होता है। पुरुषोत्तम की सेवा जो उनके अन्तरंग भक्तों द्वारा की जाती है वह बाह्य अधिकारी रूप काल से प्रेरित नहीं हो सकती अर्थात् अन्तरंग

क्तों का कार्य जो भगवत्सेवा है वह काल के द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि वह कालगम्य नहीं है । क्तिमार्ग में सर्वत्र भगवान् को ही साधन बताया गया है अर्थात् भक्ति भगवान् की कृपा से ही ाप्त होती है काल से नहीं । लोक में भी हम देखते हैं कि महाराजा का जो अन्तरंग सेवक होता है ाह अधिकारी के अधीन नहीं होता । शङ्का करते हैं कि देह इन्द्रियां काल के प्रवाह में रहती है ौर उसे वह ग्रहण करता है तो वह भी कालाधीन क्यों नहीं ? तो उत्तर देते हैं कि उन्होंने ुरुषोत्तम को स्वीकार कर लिया है इसलिए उसकी इन्द्रियां पुरुषोत्तम के अधीन हैं काल के अधीन नहीं ं । अतः ज्ञानी को चाहिये कि भगवान् स्वीकार कर ले इसलिए सब प्रयत्न करना चाहिये । मूर्खों की तरह अन्य फल के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिये । शङ्का करते हैं कि लोक वेद से यह सिद्ध ै कि भजन करना चाहिये तो फिर नवीन बात का विधान न होने से श्लोक में आया "यतेत" यह विधि कैसे हो सकती है क्योंकि अप्राप्त अंश को बताने वाली ही विधि होती है इस पर कहते हैं कि 'न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यध" ब्रह्मा से लेकर जड़ पदार्थ तक भ्रमण करने वाले जीवों के उस-उस ारीर से अथवा उस-उस शरीर के धर्म से जो प्राप्त न हो सके उसके लिए प्रयत्न करना ही चाहिये ह है भगवान् के चरण की सेवा अर्थात् भक्ति धर्मरूप सेवा जो श्रवण कीर्तन आदि रूप है वह ोक वेद सिद्ध है तथापि स्नेह प्रधान सेवा लोकवेद सिद्ध नहीं है अथवा यों कहिये कि बिना मतलब की सेवा लोकवेद सिद्ध नहीं है । अतः उसके लिए "यतेत" यह विधि है । यद्यपि ज्ञान के लिए भी ऐसा प्रयत्न किया जाता है परन्तु ज्ञान से अक्षर ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है पुरुषोत्तम की प्राप्ति नहीं होती । गीता में कहा है "क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्' अर्थात् अव्यक्त जो अक्षरब्रह्म है उसमें आसक्त रहने वालों को महान् क्लेश होता है । शङ्का करते हैं कि सभी उत्पन्न होने वालों का निमित्त कारण अदृष्ट है तो अदृष्ट जो कर्म एवं स्वर्ग आदि फल का अवान्तर व्यापार रूप है उसे ही भक्ति का जनक क्यों नहीं मान लेते हो तो कहते हैं कि अदृष्ट कर्म जन्य होता है और काल से सिद्ध होने वालों में ही कर्म एवं स्वभाव कार्य करते हैं और जो भक्ति काल से सिद्ध नहीं होती उसमें कर्म एवं उससे जन्य अदृष्ट भी कुछ नहीं कर सकते अतः अदृष्ट से भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती । एक बात यह भी है कि अदृष्ट उसे ही कहते हैं जो पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों का अवान्तर व्यापार रूप धर्म अधर्म है ऐसी स्थिति में यहां यह शङ्का होती है कि वह पूर्व जन्म का कर्म कैसा, क्या भगवान् की प्रसन्नता का कारण अथवा भगवान् की प्रसन्नता का कारण नहीं यदि मानते हैं कि भगवत्प्रीति का कारण कर्म अदृष्ट को पैदा करता है तो कहते हैं कि दृष्ट कर्म से ही भक्ति होती है तो ऐसी दशा में अदृष्ट को कारण मानने की क्या आवश्यकता ? अदृष्ट को जन्मान्तर में फल मिलने के लिए मानना पड़ता है परन्तु यहां तो भगवान् के समर्पित कर्म ही भगवान् की प्रीति के कारण बन जाते हैं, क्योंकि "तत्कुरुष्वमदर्पणम्" इस भगवान् की आज्ञा के अनुसार कर्म करने से भगवान् स्वयं प्रसन्न हो जाते है तो अदृष्ट को मध्य में कारण मानना ठीक नहीं है और यह भी कहना युक्त नहीं है कि अदृष्ट को कारण नहीं मानने पर कदाचित् फल विपरीत हो सकता है तो कहते हैं कि आज्ञानुसार कर्म होता है इसलिए फल की विपरीतता कभी सम्भव नहीं है यदि कहें कि भगवान् की अप्रीति के कारण कर्म से अदृष्ट पैदा होता है तो कहते हैं कि उस अदृष्ट का फल भक्ति (प्रीति) नहीं है तो भक्ति के लिए अदृष्टरूप व्यापार की अपेक्षा है यह कहना ठीक नहीं है । एक बात और भी है कि एक कर्म दूसरे कर्म को पैदा करता रहता है अर्थात् कर्म की परम्परा समाप्त नहीं होती तो उनके फल भोगार्थ जन्म लेता ही रहना पड़ेगा ऐसी स्थिति में ऐसा जन्म कोई नहीं होगा जिस जन्म के बाद दूसरा जन्म न लेना पड़े ऐसी दशा में उसकी भक्ति कभी नहीं होगी

और यह तो सिद्ध है कि अन्तिम जन्म में ही पूर्ण भक्ति होती है और उस भक्ति के होने के बाद दूसरा जन्म नहीं होता अर्थात् उस भक्ति से मोक्ष हो जाता है इसलिए उसे पुन जन्म नहीं लेना पड़ता। भक्ति केवल भगवान् के प्रसाद से ही प्राप्त होती है इसलिए वह अन्तिम जन्म में ही होती है जैसे भक्ति वाले को कहा है कि "स एष साधो परमो भवानाम्" आपका यह जन्म सब जन्मों में अन्तिम है। शङ्का करते हैं कि यदि भक्ति कालादि से पैदा नहीं होती तो ज्योतिष का ग्रन्थ जो जातक है उसमें यह बताया नहीं जाता कि शुभग्रहों से भगवान् में प्रीति होती है और वैकुण्ठ से आना जाना होता है इससे ज्ञात होता है कि भक्ति काल से पैदा होती है इस पर कहते हैं कि श्रवण कीर्तन आदि जो विहित भक्ति है वह ही शुभग्रहों से ज्ञात हो सकती है प्रेम सेवा तो भगवत्कृपा से ही होती है इसलिए उसका ज्ञान शुभग्रहों से नहीं हो सकता अतः काल एवं अदृष्ट से पैदा नहीं होने वाली भक्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये। यदि कहें कि लौकिक सुख हो और दुःख न हो इसके लिए भी प्रयत्न करना चाहिये तो कहते हैं कि वे लौकिक सुख एवं दुःखाभाव समय आने पर अपने आप सिद्ध हो जाते हैं तो उनके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है जैसे काल पाकर दुःख अपने आप हो जाता है वैसे ही ये भी हो जायेंगे अतः यह सिद्ध है कि देह प्राप्त होने पर उनका उपभोग स्वतः सिद्ध है तो जैसे पीसे हुए का पीसना व्यर्थ है इस प्रकार उनके उपभोग के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। यदि कहें कि सुख के लिए पिता पुत्र एवं भार्या को अनुकूल करने के लिए तो प्रयत्न करना चाहिये तो कहते हैं कि उनका भी प्रेरक काल है अर्थात् वे भी समय पाकर अनुकूल हो जायेंगे। क्योंकि उनका भी प्रेरक काल है और वह काल यत्न साध्य नहीं है। यदि कहें कि देश स्वतन्त्र रूप से साधन बन जायगा यह भी ठीक नहीं वह देश भी तो काल ही के अधीन है यदि देश को भी काल ही के समान मान लें तो भी दोनों का सहभाव नियत रूप से रहेगा। उसी को 'सर्वत्र' पद से बताया है। गम्भीर वेग होने के कारण काल का प्रतिकार कोई कर नहीं सकता इसलिए भगवान् के भजन के लिए प्रयत्न करना चाहिये ।।१७–१८।।

आभास—तत्र तर्कमाह—

आभासार्थ—भक्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये इसमें बाधक निवर्तक तर्क देते हैं कि—

श्लोक—**न वै जनो जातु कथञ्चनाऽऽव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।**
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः ।।१९।।

श्लोकार्थ—कभी किसी प्रकार मुकुन्द की सेवा करने वाला मनुष्य, हे अङ्ग! दूसरे की तरह संसृति को प्राप्त नहीं करता। जिसने पूर्वजन्म में मोक्ष देने वाले प्रभु का स्मरण-आलिङ्गन किया है उसे स्मरण करता हुआ वह फिर भक्तिमार्ग को नहीं छोड़ना चाहता। क्योंकि वह स्वादपूर्वक भजन कर रहा है। जिसमें आनन्द अनुभव होता है उसे कभी नहीं छोड़ता ।। १९ ।।

सुबोधिनी **न वै जनो जात्विति** । ननु वैकुण्ठगतानामपि जयविजयादीनां पुनरागमनश्रवणान्नैकान्ततो भक्तिः फलसाधनम् । भगवतोऽप्यवतरणात्तत्सङ्गेनाऽवतारसम्भवाच्च ।

पराधीनत्वेनाऽपराधसम्भवाच्च । तस्माद्धर्मवद्भक्तिरपि । नोत्कृष्टफलेति । तत्राऽऽह—**न वै जनो जात्विति** । अङ्गीकृत्याऽपि परिहारः । वस्तुतस्तु जयविजययोर्धर्ममार्गानुसारेण कृत्रिमवैकुण्ठप्राप्तिः । अत एव तत्रैव वर्णनायां—"**ये निमित्तनिमित्तेन धर्मेणाऽऽराधयन्हरिम् । वैकुण्ठः कल्पितो येने**" ति । **भगवता सह** त्वागमनं परमानन्दत्वात्फलमेव । साधारणानामपि भक्तानां भगवत्सेवकानां दूषणमङ्गीकृत्याऽपि परिहार उच्यते । यथा भरतादिः । यतो मुकुन्दसेवी सर्वेभ्यो मोक्षदातुः सेवकः । अन्यवदसेवकवत् । यथा सत्यवादी ब्राह्मणः । तत्र हेतुः— **स्मरन्निति** । वाक्शरीरसाध्यभक्त्यभावेऽपि कामुकस्य कामिनीस्मरणमिव परमानन्दरूपचरणाऽऽलिङ्गनं पूर्वजन्मनि जानमधुनास्मरन् तच्चरणपरित्याजकसाधनं न कुर्यात् । यथा भरतहरिणेन स्वमात्रादयः परित्यक्ताः । न भगवन्मार्गः। इच्छामपि न कृतवान् । यतो रसग्रहः। रसेन ग्रहणं यस्य स तथोक्तः । भगवतः कृपाऽभावेऽपि मार्गस्यैव बलिष्ठता । तदाह—**यत इति** ॥१९॥

व्याख्यार्थ—बाधक को स्पष्ट करते हैं कि वैकुण्ठ में गये हुए भी जय विजय आदि का शाप वश पुनः आगमन सुना गया है । अतः एकान्ततः (एकदम) भक्ति फल का साधन नहीं है । यदि भक्ति फल की साधिका होती तो जय विजय आदि का पुनः यहां आगमन नहीं होता और एक बाधक यह भी है कि भगवान् जब अवतार लेते हैं तब भक्त भी आते हैं । ऐसा सम्भव है । अर्थात् उनका यहां आना निवृत्त नहीं होता और उनके काल के अधीन होने से काल से बुद्धि में वैपरीत्य आने पर भगवान् का अपराध होना सम्भव है । इसलिए मानिये कि धर्म (यशयागादिक) की तरह भक्ति भी उत्कृष्ट फल देने वाली नहीं है । क्योंकि उससे जन्म-मरण नहीं मिटते । इस पर कहते हैं कि "न वै जनो जातु" अर्थात् भगवद्भक्त कभी इधर नहीं आता । अर्थात् जन्म मरण को प्राप्त नहीं होता । 'तुष्य तु' दुर्जन न्याय से संसृति को प्राप्त करने को बात स्वीकार करके "न वै जनो जातु" से निषेध किया गया है । वास्तव में जय विजय को धर्म मार्ग के अनुसार कृत्रिम वैकुण्ठ की प्राप्ति हुई थी । अतएव वही कहा गया है कि 'ये निमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्'' "वैकुण्ठ कल्पितो येन" अर्थात् वहां के लोग हरि का आराधन धर्म से करते हैं और वह वैकुण्ठ भगवान् का बनाया हुआ है । तात्पर्य यह है कि कृत्रिम वैकुण्ठ वाले भक्ति मार्ग के अनुसार आराधन न कर धर्ममार्ग के अनुसार करते हैं । अतः उनका पुनरागमन सम्भव होता है । अब रही भगवान् के साथ भक्तों के आने को बात सो तो उनका आना परमानन्द रूप होने से फलरूप ही है । भगवान् की सेवा करने वाले साधारण भी जड़ भरत आदि जिस प्रकार पुनः जन्म लेते हैं उस प्रकार भक्त के भी पतन की सम्भावना है । इसका परिहार करते हैं कि सबको मोक्ष देने वाले मुकुन्द की सेवा करने वाला असेवक की तरह संसृति को प्राप्त नहीं करता । जैसे कोई सत्यवादी ब्राह्मण था । जिसका सत्य बोलने का नियम था उसे चोरों ने पूछा । तेरे साथी कहां गये ? तो उसने छुपे हुए साथियों को बता दिया जिससे चोरों ने उनको लूट लिया और मार डाला यह बात भगवान् ने अर्जुन को महाभारत के उद्योग पर्व में कही है ।

जैसे वह ब्राह्मण सत्य से गिरा, वैसे ही भगवान् के सेवक भी भगवान् के अपराध से गिर सकता है । जैसे जड़ भरत गिरे । यदि भक्ति सत्फल ही देने वाली होती तो भक्ति करने वाला भरत नहीं गिरता । गिरा है इसलिए भक्ति एकान्ततः फल साधिका नहीं है । इसका परिहार करने के लिए तर्क देते हैं कि मुकुन्द का सेवक असेवक की तरह संसृति को प्राप्त करे तो वह संसृति को कभी भी नहीं छोड़ना चाहता । परन्तु भक्त संसार को छोड़ना चाहता है इसलिए भक्ति फल देने वाली

ही है । इसलिए भक्त और दूसरों के विचारों में भेद होता है । भक्त के पतन न होने में कारण कहते हैं कि 'स्मरन्' अर्थात् वाणी और शरीर से सेवा नहीं करता है तो भी जैसे कामुक कामिनी का स्मरण करता है उसी प्रकार पूर्व जन्म में हुआ जो परमानन्द रूप चरण का आलिङ्गन उसको इस जन्म में स्मरण करते हुए भरत आदि भक्त जिससे भगवच्चरणारविन्द छूट जाय ऐसा साधन कभी भी नहीं करते हैं । उदाहरण के लिए कहते हैं कि भरत जब हरिण बने तो उन्होंने अपनी माता आदि को छोड़ दिया । उनको इच्छा भी नहीं थी । परन्तु भक्तिमार्ग को नहीं छोड़ा । क्योंकि उन्होंने उसे आनन्दानुभव के साथ ग्रहण किया था । भगवान् की कृपा न होने पर भी भक्तिमार्ग की यह विशेषता है कि उसे कोई छोड़ना नहीं चाहता ।।१६।।

आभास—एवं सोपपत्तिकं भगवन्मार्गस्योत्कृष्टत्वं प्रतिपाद्य भगवतो दुर्लभत्वे तच्चरित्रस्य भूयस्त्वं कथनञ्चाऽनुपपन्नमिति को भगवानित्याकांक्षापूरणाय **"आचार्यवान् पुरुषो वेदे"** ति शास्त्रार्थत्वाय च भगवन्तं निरूपयति—

आभासार्थ—इस प्रकार युक्ति से भगवन्मार्ग की उत्कृष्टता का प्रतिपादन कर भगवान् के दुर्लभ होने पर उनके चरित्र का अत्यधिक होना एव कहना ठीक नहीं है इसलिए भगवान् कौन है? इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए और "आचार्यवान् पुरुषो वेद" इस शास्त्र के अर्थ के लिए भगवान् का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः ।**
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम् ।।२०।।

श्लोकार्थ—अर्थ निश्चय करके यह भगवान् है भगवान् की तरह है और भगवान् से पृथक् है क्योंकि इसी में जगत् की स्थिति एवं लय है, इसी में उत्पत्ति है । इस बात को हे वेद व्यासजी ! आप स्वयं जानते हैं । आप ब्रह्म हैं तब भी गुरु की अपेक्षा होने से तुम्हें प्रादेश मात्र बताया है । जैसे प्रादेश के दिखाने पर उससे दुगुना तिगुना हाथ आदि होता है यह समझ लिया जाता है इसी प्रकार भगवान् जगत् के कर्त्ता हैं यह जान लेने पर उसमें सर्वेश्वरत्वादि धर्म है यह जान लिया जाता है ।।२०।।

सुबोधिनी—इदं हि विश्वमिति । भगवतः स्वरूपं चरित्रं च निरूपणीयम् । तद्द्वयं भेदेन न निरूपणीयम् । तथा सति चरित्रस्याऽनात्मत्वेन तद्भावनायां संसारः स्यात् । अतो द्वयमभेदेन निरूपयति । **इदं विश्वं भगवान्** । विश्वमनूद्य भगवत्त्वं विधीयते । तथा सति सर्वत्र भगवद्दृष्टिश्चेत्कृतार्थो भवतीति कार्यं भगवत्त्वेन निरूपितम् । **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानि"** ति श्रुतिर्हिशब्देन सूचिता । उत्तममध्यमाधमाधिकारिभेदेन त्रेधाऽत्र निरूपणं कर्तव्यम् । तत्रोत्तमे निरूपितम् । मध्यमे त्वेवम् । **इदं विश्वं भगवानिव** न तु भगवान् । तेनाऽत्र सन्माननादिकं कर्तव्यं नाऽऽसक्तिरिति ।

निकृष्टे तु इदं विश्वं, भगवानितरः अस्मादन्यः । अतः प्रपञ्चदर्शी बहिर्मुखो भ्रष्टो भवतीति । एवं सर्वत्र प्रकारत्रयेण निरूपणीयम् । नन्वेकस्य जगतः कथं त्रिरूपत्वम् ? तत्राऽऽह— **यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवा इति** । तत्र जगतः स्थितिर्भगवत्येवेति भगवानेव जगतीति स्वधारत्वाद्भगवतः भगवानेव जगत् । मध्यमे तु भगवतस्सकाशाज्जगदुद्भवः । तेन कार्यकारणयोस्तादात्म्यात्कार्यात्मना भेदः कारणात्मना अभेद इति "**भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यमि**"ति वचनाज्जगत् भगवानिवेति । मूढे तु भगवतः प्रलयकर्तृत्वान्नाशप्रतियोगि जगत् । भगवांश्च सदातन इतीतरः । किञ्च । पूर्वं भगवच्चरित्रं निरूपितम् **इदं हि विश्वं भगवानिवेतर इति** । इदानीं भगवन्तं निरूपयति—**यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवा इति** । "**जन्माद्यस्य यत**" इति लक्षणं निरूपितसम्भवति । एवमर्थभेदमधिकारिभेदं च संक्षेपतो निरूप्य गुप्तस्याऽस्य विवरणं न कर्तव्यमित्याह—**तद्धि स्वयं वेद भवानिति** । तत् पूर्वोक्तं स्वयमेव भवान् वेद, न गुर्वपेक्षा । अथवा । तत् जगत् स्वयम् । भवानित्यर्थ । अत एव भवान्वेद । तर्हि ब्रह्मण उपदेशो निष्फल इत्यत आह—**तथापि वै प्रादेशमात्रमिति** । तथापि ब्रह्मत्वेऽपि । प्रमाणबलात् वं निश्चयेन गुरूपदेशः अपेक्ष्यते । तत्र लौकिकपरिमाणे यथा प्रादेशे प्रदर्शिते तद्द्विगुणादिरूपं हस्तादिकं जानाति तथा जगत्कर्तृत्वे ज्ञाते सर्वैश्वर्यत्वादयो ज्ञाता भवन्ति । अथवा । प्रकर्षेण आदेश उपदेशस्तन्मात्रं गूढतया शास्त्रार्थनिरूपणं भवदर्थं प्रकर्षेण दर्शितम् । अनेन गूढमेव स्पष्टमिव प्रदर्शनीयमित्युपदेशः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के स्वरूप एवं चरित्र का निरूपण करना है। चरित्र एवं स्वरूप को अभिन्न रूप से कहना है। यदि चरित्र भगवद्रूप नहीं माना जाता है तो भगवदतिरिक्त भावना होने से संसार होगा इसलिए चरित्र एवं स्वरूप को अभिन्न रूप से निरूपण करते हैं कि "इदं विश्वं भगवान्" यह विश्व भगवान् है इसमें विश्व को उद्देश्य कर भगवत्व का विधान किया गया है ऐसा मानने पर सर्वत्र भगवान् को ही देखेगा और उससे कृतार्थ हो जायगा इसलिए कार्यरूप प्रपञ्च को भगवद्रूप कहा है। श्लोक में आया हुआ 'हि' शब्द निश्चय अर्थ को बताता है। अर्थात् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "तज्जलान्" यह सब कुछ निश्चय रूप से ब्रह्म है। उसी से पैदा होता है, उसी में लीन होता है तथा उसी से सुरक्षित रहता है। यह श्रुति सबको ब्रह्मरूप कहती है इसलिए निश्चय करके सभी भगवद्रूप हैं।

इस श्लोक में उत्तम, मध्यम एवं अधम अधिकारी के भेद से तोन प्रकार से निरूपण किया गया है। उत्तमाधिकारी के लिए यह सब कुछ भगवान् है यह कहा गया है। मध्यमाधिकारो इस प्रकार मानता है कि यह विश्व भगवान् की तरह है भगवान् नहीं है। भगवान् की तरह होने से इस विश्व का सम्मान आदि करना चाहिये। आसक्ति नहीं करनी चाहिये। अधमाधिकारी जो निकृष्ट शब्द से भी कहा जाता है वह विश्व को भगवान् से पृथक् देखता है अतः वह भगवान् को न देखकर प्रपञ्च को ही देखता है जो भगवान् से पृथक् देखता है उसका मुख बाहर होने से वह बहिर्मुख है और भ्रष्ट हो जाता है। इस प्रकार सर्वत्र तीन प्रकार से निरूपण करना चाहिये। शङ्का करते हैं कि एक जगत् तीन रूप से कैसे माना जा सकता है? इस पर कहते हैं कि "यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः" जगत् की स्थिति भगवान् में ही है, जगत् में भगवान् ही हैं, भगवान् जगत् के आधार हैं इसलिए भगवान् ही जगत् है। यह श्लोक में आये हुए 'स्थान' पद से बताया है। मध्यमाधिकारी जगत् को भगवान् की तरह मानता है भगवद्रूप नहीं मानता इसका सूचक यहां 'सम्भव' पद है। अर्थात् जगत् भगवान् से पैदा होता है। जगत् कार्य है और भगवान् कारण है। कार्य कारण का

तादात्म्य सम्बन्ध होने मे कार्यरूप से जगत् ब्रह्म से भिन्न है और कारण रूप से अभिन्न है। भेद को सहन करते हुए भी अभेद रहना तादात्म्य कहलाता है ‘भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यम्” इस वचन से जगत् को भगवान् की तरह कहा है परन्तु जो मूर्ख हैं वे तो ऐसा समझते हैं कि भगवान् तो प्रलय करते हैं और प्रलय होता है। इस जगत् का इसलिए भगवान् और जगत् भिन्न भिन्न हैं। इतर लोगों का कहना यह है कि भगवान सदातन है और यह जगत् अशाश्वत है अथवा ‘इदं हि विश्व भगवानिवेतर:’ इसके द्वारा पूर्व में भगवान् के चरित्र का निरूपण किया। अब ‘यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवा’ इससे भगवान् का निरूपण करते हैं। इस तरह अर्थ भेद और अधिकारी भेद से सक्षेप से निरूपण करके यह गुप्त है इसलिए इसका विवरण नहीं करना चाहिये। नारदजी कहते हैं कि इस पूर्वोक्त विषय को आप स्वय ही जानते हैं इसके जानने के लिए गुरु की आवश्यकता नहीं है इसे ‘तद्धि स्वयं वेद भवान्” इससे बताया है अथवा वह जगत् स्वयं आप हैं इसलिए आप जानते हैं तब तो ब्रह्मा का उपदेश व्यर्थ है? इस पर कहते हैं “तथापि वै प्रादेशमात्रम्” ब्रह्मा होने पर भी प्रमाण बल के लिए निश्चय रूप से गुरु का उपदेश अपेक्षित है। वहां लौकिक परिमाण (नाप) में प्रादेश (नाप) के बता देने पर जैसे उसका दुगुना हाथ का नाप होता है इसे जान लेते हैं उसी तरह वह ब्रह्म जगत् का कर्त्ता है ऐसा जान लेने पर वह ईश्वर सर्वेश्वर आदि है ये भी जान लिये जाते हैं अथवा प्रकृष्ट आदेश उपदेश होता है इसलिए मैंने (नारद ने) गुप्त रूप से तुम्हारे (व्यासजी के) लिए उतने मात्र शास्त्रार्थ का निरूपण प्रकृष्ट रूप से कर दिया है। इससे यह सूचित होता है कि है तो यह गूढ़ किन्तु इसका प्रदर्शन तुम स्पष्ट की तरह करो यह हो उपदेश है ।।२०।।

आभास—किञ्च। स्वावतारप्रयोजनं जानीहि। किमर्थमवतीर्णोऽसि? भगवान् स्वयमवतीर्य सर्वभक्तोद्धारार्थं स्वाऽऽत्मख्यापनार्थं स्वांशं ज्ञानकलारूपं भवन्तमवतारितवान्। अतश्चरित्राऽकथने तवाऽवतारो नि:प्रयोजन इति भगवदिच्छया तवाऽन्त:करणविषादः। अतो भगवदाज्ञां परिपालय। स्वजन्मसाफल्यं चेत्याह—

आभासार्थ–वेदव्यासजी! आप अपने अवतार का प्रयोजन जानें कि आप किसलिए अवतीर्ण हुए हैं? स्वयं भगवान् ने अवतार लेकर सब भक्तों के उद्धार के लिए अपना स्वरूप जताना है अत: ज्ञान कला रूप आपको अवतरित किया है। यदि आप भगवच्चरित्र न कहेंगे तो आपका अवतार ही निष्प्रयोजन हो जायगा इसलिए भगवान् की इच्छा से तुम्हारे अन्त:करण में खेद हो रहा है। अत: भगवच्चरित्र का निरूपण कर भगवान् की आज्ञा का पालन करें और अपने जन्म को सफल करें। इस बात को कहते हैं कि—

श्लोक—**त्वमात्मनाऽऽत्मानमवेह्यमोघदृक् परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम्।**
अजं प्रजातं जगतः शिवाय तन्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम् ।।२१।।

श्लोकार्थ—आप अपने से स्वयं को पुरुषोत्तम की कला समझें। आप अजन्मा होते हुए भी जगत् के कल्याण के लिए प्रकट हुए हैं इसलिए बड़े प्रभाव वाले भगवान् के चरित्र को ज्ञान भक्ति से अधिक रूप में बताते हुए निरूपण करें ।।२१।।

सुबोधिनी—**त्वमात्मनाऽऽत्मानमिति** । त्वमात्मानं परस्य पुंसः **कलामवेहि** । जीवस्य
ब्रह्मोपदेशवदयमुपदेश इति निराकर्तु माह **कलामिति** । साधनं च तव **स्वरूपमेव ज्ञातम्** । स्वरूपं
तथा ज्ञापयिष्यतीत्यर्थः । तत्र सामर्थ्यमाह—**अमोघदृगिति** । **ननु सर्वे जीवा भगवदंशकलाः** । कोऽयं
मयि विशेषस्तत्राऽऽह । **परस्य पुंसः** । पुरुषोत्तमस्य । **अन्ये** त्वक्षरस्य पुरुषस्य वा । नन्वक्षरपुरुष-
योरपि भगवत्त्वात्को विशेषः ? तत्राऽऽह—**परमात्मन इति** । परमश्चाऽसावात्मा चेति । गङ्गाजल-
देवतयोरिवाऽऽत्मपरमात्मनोः स्वरूपमिति भावः । तर्हि **कथं** ममोत्पत्तिस्तत्राऽऽह-**अजं प्रजातमिति** ।
अनुत्पन्न एव त्वमानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिव्यासरूपेणाऽवतीर्णः । अतः सर्वस्याऽपि जगतः शान्त-
सुखाय महानुभावस्य **भगवतः अभ्युदयः** चरित्रं अधिकं गण्यतामुद्देशमात्रेणोच्यताम् । अस्य भगवत-
श्चरित्रं भक्तसम्बन्धिष्वपि परममनुभावं सम्भावयतीति महानुभावः । तस्याऽभ्युदयः परमोत्सवः ।
तस्याऽऽधिक्यं ज्ञानादिभ्यः । अवाङ्मनोगोचरत्वादिदमित्थतया निरूपणमशक्यम् । अत उद्देशमात्रं
कर्तव्यमिति ।।२१।।

व्याख्यार्थ—तुम अपने को परपुरुष की कला जानो । 'तत्त्वमसिश्वेतकेतो' से जैसे जीव को ब्रह्मरूप से बताया है उस रूप से मैं आपको ब्रह्मरूप से नहीं बता रहा हूँ किन्तु कला के रूप में बता रहा हूँ । इस ज्ञान होने का साधन आपका जाना हुआ स्वरूप ही है अर्थात् आप अपने स्वरूप को जान लेंगे तो ज्ञान अपने आप हो जायगा ।

आप सत्यदृष्टा हैं इसलिए आप में यह सामर्थ्य है शङ्का करते हैं कि सभी जीव भगवान् के
अंश कलारूप हैं तो मेरे में क्या विशेषता है ? तो कहते हैं कि आप पुरुषोत्तम की कला हैं ? अन्य
जीव अक्षर एवं पुरुष की कला हैं । शङ्का करते हैं कि अक्षर एवं पुरुष भी भगवान् हैं तो उनसे
पैदा होने वाले जीवों में और मुझमें क्या विशेषता है इस पर कहते हैं कि 'परमात्मनः' परम आत्मा
'रूप पुरुषोत्तम की आप कला हैं । जैसे गङ्गाजल एवं उसके आधिदैविक स्वरूप में तारतम्य है वैसे
ही अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम के स्वरूप में भेद है । यदि आप कहें कि मैं जब पुरुषोत्तम की कला
हूँ तो मेरी उत्पत्ति कैसे हुई क्योंकि पुरुषोत्तम की कला तो जन्म लेने वाली नहीं होनी चाहिये । इस
पर कहते हैं कि "अजं प्रजातम्" आप अनुत्पन्न होने पर भी केवल आनन्द रूप हाथ पैर, मुख, उदर
वाले व्यास रूप से अवतीर्ण हुए हो । अर्थात् आपका जन्म नहीं है किन्तु अवतार है । व्यापि वैकुण्ठ
से आगमन है । अतः सभी जगत् को शान्त सुख मिले एतदर्थ महानुभाव भगवान् के चरित्र को
अधिक रूप से निरूपण करें । भगवान् के चरित्र भक्तों के सम्बन्धियों में भी परम प्रभाव दिखाते हैं
इसलिए वह परम उत्सव रूप है । श्लोक में आये हुए 'अधि' शब्द का अर्थ आधिक्य है । अर्थात्
ज्ञान आदि से भी भगवच्चरित्र का माहात्म्य ज्यादा है । इसलिए ज्ञान कर्म आदि चरित्र का महत्व
बतायें । वाणी मन का विषय न होने से भगवच्चरित्र ऐसा ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता । अतः
निर्देश मात्र ही करें ।।२१।।

आभास—ननु धर्मसहितं चरित्रमुपदेष्टव्यं केवलं वेति शङ्कायामाह—

आभासार्थ—शङ्का करते हैं कि भगवान् के चरित्र का उपदेश तो देना है परन्तु साथ में धर्म का भी निरूपण करना है या नहीं इसका उत्तर देते हैं कि—

श्लोक —**इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।**
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ।।२२।।

श्लोकार्थ—मनुष्य भगवच्चरित्र के सुनने से तप वेदान्त श्रवण यज्ञ अध्यापन बुद्धि एवं दान का फल पूरा प्राप्त करता है यह कवियों ने निरूपण किया है ।।२२।।

सुबोधिनी—इदं हीति इदं चरित्रश्रवण तपआदिभिस्तुल्यम् । **फलतः स्वरूपतः साधनतश्च** भगवत्त्वात् । **सर्वस्याऽपि** तानि भगवानिति । तत्र धर्मविशेषो वर्णाश्रमेषु **प्रतिष्ठितः** । **तत्र तपो** वानप्रस्थेषु संन्यासिषु वा । श्रुतं श्रवणं वेदान्तानाम् । तत्सन्यासिषु । **स्विष्ट** गृहस्थे । **सूक्तमध्ययनं** ब्रह्मचारिषु क्षत्रियवैश्ययोर्बुद्धिदाने । एवं सर्वैर्धर्मैर्यद्भवति तानि च अविच्युतोऽर्थः । न विच्युतः अर्थो येन । **शास्त्र**सिद्धावपि लोकसिद्धिर्न भविष्यतीत्यत आह – **कविभिरिति** । नितरामिति युक्तिसहितम् । उत्तमश्लोकगुणानुवर्णनमनूद्याऽविच्युतार्थत्वं विधीयते । अत एकेनैव सर्वसिद्धेर्न तेषां पृथक्करण नाऽप्यकरणमिति सिद्धान्तः । निषिद्ध तु न कर्तव्यम् ।।२२।।

व्याख्यार्थ यह भगवच्चरित्र सुनना तप आदि के समान है क्योंकि चरित्र का फल स्वरूप एवं साधन भगवद्रूप ही है । सब सुनने वालों के लिए स्वरूप, साधन एवं फल भगवान् ही है । वर्ण एवं आश्रमों में जो धर्म होता है वह धर्म विशेष है । जैसे वानप्रस्थ और सन्यासी तप करते हैं अथवा यों कहिये कि संन्यासी वेदान्तों का श्रवण करते हैं । गृहस्थ यज्ञ करता है, ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करता है, क्षत्रिय बुद्धि देता है, वैश्य दान देता है । इस प्रकार ऊपर कहे गये सब धर्मों से जो फल मिलता है वह सम्पूर्ण फल भगवच्चरित्र से भी मिलता है । किसी फल की कमी नहीं रहती । यदि कहें कि शास्त्र से सिद्ध है तो भी लोकसिद्ध तो नहीं है तो कहते हैं "कविभिः" अर्थात् ज्ञानियों ने युक्ति सहित ऐसा निरूपण किया है । श्लोक से भगवान् के गुण वर्णन का अनुवाद कर अविच्युत अर्थ का विधान किया गया है अर्थात् भगवान् के गुण वर्णन से तप वेदान्त श्रवण यज्ञ वेदाध्ययन आदि सबका पूरा पूरा फल मिल जाता है । इससे सिद्ध हुआ कि एक मात्र चरित्र के सुनने से ही अब सब फल मिल जाता है तो तप आदि अलग करना आवश्यक नहीं है । नहीं करना यह भी नहीं कहा है परन्तु निषिद्ध कर्म को तो नहीं करना चाहिये ।।२२।।

आभास—एवं सामान्यत उपदेशमुक्त्वा आदिसाधनमारभ्य फलपर्यन्तं पदार्थानां क्रमं वक्तुं निदर्शनेन स्वचरित्रमाह सप्तदशभिः—

आभासार्थ—इस प्रकार सामान्य रूप से उपदेश देकर प्रारम्भिक साधन से लेकर फल प्राप्ति पर्यन्त पदार्थों के क्रम को बताने के लिए दृष्टान्त रूप से अपने चरित्र १७ श्लोकों से नारदजी कह रहे हैं—

श्लोक—**अहं पुराऽतीतभवेऽभवं मुने दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम् ।**
निरूपितो बालक एव योगिनां शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ।।२३।।

श्लोकार्थ—हे मुने ! पूर्वकल्प में होने वाले पूर्व जन्म में वेदवादी ब्राह्मणों की दासी से मैं उत्पन्न हुआ था। मैं चातुर्मास्य में एकत्र निवास करने की इच्छा वाले योगियों की सेवा में नियुक्त किया गया ॥२३॥

सुबोधिनी—अहमिति। अतिहीनस्याऽत्युत्कृष्टपदप्राप्तिरस्मिन्नेव मार्गे न मार्गान्तर इति शापेन शूद्रत्वं प्राप्तस्य देवर्षित्वं निरूप्यते। अतीतभवे पूर्वजन्मनि। **नैकट्यभ्रमव्यावृत्त्यर्थम्**। **पुरेत्ये**तज्जन्मनोऽजरामरत्वख्यापनाय। **मुने** इत्युक्तविश्वासाय। संवाद त्। पितनाम न गृहीतं तदानीमज्ञानात्। पितुर्हीनत्वख्यापनाच्च। वस्तुतस्तु ब्राह्मणः। अन्यथा अनुमोदनादिकं न सम्भवति। कस्याश्चिदप्रसिद्धायाः। अन्यथा आदरः सम्भवेत्ततो बन्धः। अनेनाऽस्मिन्मार्गे यथा यथा निरादरत्वं तथा तथा कार्यसिद्धिरिति। वेदवादिनः श्रोत्रियाः। अनेन भगवन्मार्गापरिज्ञानमुक्तम्। आश्रमिणां संन्यासिनामयं धर्मो यन्मासाष्टकं कीटवत्पर्यटनं विधाय आषाढ्यां यत्र गच्छन्ति तत्र ब्राह्मणनिर्मितविविक्तस्थाने तिष्ठन्तीति तथा दैवयोगान्नारदस्य स्थितिगृहे प्रार्थनया ब्राह्मणानुज्ञया भाविसनकादयश्चत्वारः परमहंसाः स्थिताः। अपृथग्धर्मशीलत्वाच्चतुर्णां सङ्गः। योगनिष्ठाश्च। अतः सेवापेक्षा। तेषां शुश्रूषणार्थं ब्राह्मणैरेवाहं निरूपितस्त्वमेतेषामेव सेवां कुरु नाऽन्यत्किञ्चिदिति नियुक्तः। मत्स्वरूपमज्ञात्वाऽपि बालक एव नियुक्तो योगिनां शुश्रूषार्थम् **"स्थास्यामश्चतुरो मासानि"**ति मासचतुष्टयमेकत्रैव नितरां वासमिच्छताम्। एवमेकेन तत्सम्बन्ध उक्तः। सेवार्थं सत्सङ्ग इति प्रथमं साधनम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—भक्तिमार्ग से ही अत्यन्त हीन प्राणी अत्यन्त उत्कृष्ट पद प्राप्त कर सकता है। दूसरे मार्ग से नहीं। इसलिए नारदजी शाप से पूर्व जन्म में शूद्र हो गये थे। उनके देवर्षि होने का निरूपण करते हैं। श्लोक में आये हुए "अतीतभवे" का अर्थ है पूवजन्म। अर्थात् इस जन्म से पहले के जन्म में। यह बात इसलिए कही कि यह निकट की बात नहीं है। 'पुरु' का अर्थ यह है कि यह जन्म मेरा वृद्धावस्था एवं मृत्यु से मुक्त है। नारदजी ने वेदव्यासजी को 'मुनि' शब्द से सम्बोधित कर यह बताया कि आप मनन करने वाले हैं इससे मनन के द्वारा मेरा कहना ठीक है यह विश्वास कर लेंगे। श्लोक में नारदजी ने अपने पिता का नाम नहीं बताया। क्योंकि काल के होने से पूर्व जन्म में पिता का नाम ज्ञात नहीं था या पिता हीन थे इसलिए उनका नाम नहीं लिया। वास्तव में तो इनके पिता ब्राह्मण थे ब्राह्मण न होते तो ऋषि लोग उच्छिष्ट देने का अनुमोदत नहीं करते। 'कस्याश्चन' का अभिप्राय है कि वह माता अप्रसिद्ध थी। यदि नाम लेते तो उसका आदर होता और आदर से बन्धन हो जाता। इससे यह बताया कि भक्तिमार्ग में जैसे-जैसे आदर की भावना नहीं होती वैसे-वैसे कार्य सिद्ध होता रहता है। 'वेद वादिनः' का अर्थ है वेदपाठी ब्राह्मण (परमहंस) थे। इससे यह सूचित हुआ कि वेदपाठी तो थे परन्तु भगवन्मार्ग का परिज्ञान नहीं था। आश्रम वालों में जो संन्यास आश्रम वाले हैं उनका यह धर्म है कि आठ महिने पर्यन्त कीड़े की तरह भ्रमण कर आषाढी पूर्णिमा में जहां पहुँचे वहां ब्राह्मण से बनाये गये एकान्त स्थान में रहते हैं। इसलिए दैवयोग से आगे सनकादि बनने वाले चार परमहंस मेरी प्रार्थना से और ब्राह्मणों की आज्ञा से मेरे निवास स्थान में रहे। चारों का एक ही धर्म एवं एक ही स्वभाव था इसलिए चारों का संग था। वे योग साधन करने वाले थे। योग मे रत रहने के कारण उन्हें अन्य कार्य के लिए सेवक की आवश्यकता थी। वहां के ब्राह्मणों ने मुझे कहा कि इन्हीं की सेवा करो। और कुछ मत करो।

इस प्रकार मैं सेवा में लग गया। ब्राह्मणों ने मेरे स्वरूप को न जानकर मुझ बालक को ही उनकी सेवा में लगा दिया। आने वाले परमहंसों ने कहा कि हम चार महिने यहीं रहेंगे। चार महिने पर्यन्त एक स्थान पर ही निवास करना चाहते थे। इस एक श्लोक से नारदजी को सत्पुरुषों का सम्बन्ध हुआ यह कहा गया, सेवा के लिए पहला साधन सत्सङ्ग है यह स्पष्ट बताया गया।२३।

आभास—ततस्तेषां कृपामाह—

आभासार्थ- इसके बाद उन परमहंसों की मेरे पर कृपा हुई यह बात कहते हैं—

श्लोक—**ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।**
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि ॥२४॥

श्लोकार्थ—सम्पूर्ण चपलता से मुक्त बालक, इन्द्रिय दमन करने वाले, खिलौने से नहीं खेलने वाले, परमहंस जिस प्रकार प्रसन्न रहे वैसी सेवा करने वाले, मितभाषी, सेवा करने वाले मुझ पर समदर्शी होने पर भी उन मुनियों ने कृपा की ॥२४॥

सुबोधिनी—**ते मयीति**। तत्सेवकयोर्गुणदोषाभावा अत्र निरूप्यन्ते। सतां गुणत्रयम्। कृपालुत्वं, ब्रह्मविद्या, मननं चेति। धर्मो ज्ञानं साधनं चोक्तम्। अग्रे साधनकथनं ज्ञानानुवृत्तये। सेवकस्य दोषाभावास्त्रयः। गुणाश्चत्वारः। चपलता दोषः। तद्देहेन्द्रियान्तःकरणानां प्रयत्नदार्ढ्याभावाच्चपलता दोषः सहजः। स आदौ दृढप्रयत्नेन निवारणीयः। तदाह। अपेतानि अखिलानि चापलानि यस्मादिति। अर्भकत्वं दीनत्वबोधको गुणः। तदनु दोषाभावद्वयमाह—**दान्तेऽधृतक्रीडनक इति**। इन्द्रियाणां विषयाकांक्षाराहित्यकरणं दमः। न धृतानि क्रीडनकानि येन। इन्द्रियकालकृतौ नियतौ दोषौ विषयसम्बन्धः क्रीडासाधनपरिग्रहश्च। तदभावे सर्वदोषनिवृत्तिः। ततोऽन्तरङ्गं गुणमाह—**अनुवर्तिनीति** एवं स्वतः पञ्चसु सम्पन्नेषु तेषां परदुःखप्रहाणेच्छा जाता। परदुःखं दृष्ट्वा दुःखितस्य कारुणिकस्य तन्निदानोच्छेदने तृष्णा भवतीति। नन्वेतद्ब्रह्मविदोऽनुचितम्? तत्राऽऽह—**यद्यपि तुल्यदर्शना इति**। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तुल्यशब्दवाच्यम्। ब्रह्मज्ञानकृतं वा स्वपरयो सुखदुःखसमत्वज्ञानं तुल्यम्। तस्य दर्शनं येषामिति। परदुःखं दृष्ट्वा तत्प्रहाणेच्छैव जाता। न ज्ञानमन्यथा जातमित्यर्थः। दुर्बलत्वादिच्छामूलभूतज्ञानस्य। ननु कार्यक्षमा कृपा न भविष्यति। बाधकज्ञानस्य विद्यमानत्वात्। अत आह—**शुश्रूषमाण इति**। सेवायाः सेच्छायाः सेव्यवश्यत्वं सर्वजनीनम्। नन्वनपेक्षायाः कथं वश्यताहेतुत्वम्? तत्राऽऽह—मुनय इति। मननभावकनिवर्तिका सेवाऽपेक्ष्यत एव। सेवायां सांसर्गिको दोषो बहुभाषणमभाषणं वा। तदुभयनिवर्तको गुणः अल्पभाषणम्। अनेन निर्दुष्टा सेवा द्वितीयं साधनमिति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—सत्पुरुषों में एवं सेवकों में कौनसे गुण होने चाहिये और कौन से दोष नहीं होने चाहिये इसका निरूपण करते हैं। सत्पुरुषों में दयालुता, ब्रह्मज्ञान और मनन ये तीन गुण होते हैं। दयालुता धर्म है, ब्रह्मविद्या ज्ञान है और मनन साधन है। आगे ज्ञान रहे इसलिए भगवान् के गुणगान साधनरूप से कहा गया है। सेवक में तीन दोष नहीं होने चाहिये और चार गुण होने

चाहिये । चपलता दोष है। वह चपलता देह इन्द्रिय अन्तःकरणों के प्रयत्नों में दृढ़ता न होने से होती है। यह सहज दोष है। पहले इस दोष को बड़े प्रयत्न के साथ मिटाना चाहिये । इसी बात को कहते हैं कि मुझसे सम्पूर्ण चपलताएं दूर हो गई। मेरे बालक होने से मुझ में दैन्य गुण था। बालक में दीनता स्वाभाविक है। अब दो दोष का नहीं रहना कहते हैं। मेरी इन्द्रियां विषयों की आकांक्षा नहीं करती थी इसलिए इन्द्रियों का दमन था। मैं खिलौने से नहीं खेला । इस प्रकार ये दो दोष नहीं थे । इन्द्रियों का दमन नहीं होना यह नियत दोष है इसी प्रकार खिलौने से खेलना कालकृत दोष है। इन दोनों दोषों से मैं मुक्त था। अर्थात् मेरी इन्द्रियां विषयों का सम्बन्ध नहीं चाहती थी और मैं खिलौने से भी नहीं खेलना चाहता था। इन्द्रिय एवं अवस्था के दोष नहीं होते हैं तो सब दोषों की निवृत्ति समझना चाहिये। अब सेवक के अन्तरङ्ग गुण कहते हैं। 'अनुवर्तिनि' जैसे वे प्रसन्न रहते वैसी सेवा की । इस प्रकार चपलता नहीं होना, दीनता होना, इन्द्रिय दमन, खिलौने से नहीं खेलना। उनकी इच्छानुसार सेवा करना इन पांच बातों के सम्पन्न होने पर, मेरे दुःख मिटाने की उनकी इच्छा हुई। दूसरे के दुःख को देखकर दुःखित होने वाले दयालु की यह इच्छा होती है कि उसके दुःख के कारण को ही मिटाया जाय।

शङ्का करते हैं कि ब्रह्मज्ञानी निर्दोष एवं समदृष्टि वाले होते हैं इसलिए मेरे पर विशेष कृपा क्यों हुई ? इस पर कहते हैं कि 'यद्यपि तुल्यदर्शनाः' ब्रह्मज्ञान से अपने पराये के सुख दुःख का ज्ञान समान होता है। तथापि मेरे दुःख को देखकर उनके मिटाने की ही इच्छा हुई । समानतारूपी विरोधी ज्ञान उनको नहीं हुआ। इच्छा का मूलभूत ज्ञान है । अर्थात् 'जानाति इच्छति यत ते' यह क्रम है। पहले जानता है फिर इच्छा करता है फिर उसको प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है । यहां परमहंसों का इच्छा का मूलभूत ज्ञान दुर्बल हो गया। तात्पर्य यह है कि समत्व ज्ञान कराने वाला ब्रह्मज्ञान दुर्बल हो गया और दूसरे के दुःखों को मिटाने की इच्छा प्रबल हो गई। कहते हैं कि कृपा तो हुई किन्तु उससे कार्य नहीं हुआ होगा। क्योंकि ब्रह्मज्ञान बाधक था। तो कहते हैं कि 'शुश्रूषमाणे' मैं सेवा करता था। इच्छापूर्वक जो सेवा होती है उससे सेव्य वश में हो जाता है। यदि कहें कि जिनकी आप सेवा कर रहे हैं वह सेवा उन्हें अपेक्षित न हो तो वे उस सेवा से कैसे वश में हो सकते हैं इस पर कहते हैं कि 'मुनयः' वे मनन करने वाले थे। यदि स्वयं का कार्य वे स्वयं करते तो मनन में बाधा होती इसलिए उनको सेवा करने वाले की अपेक्षा थी । सेवा में बहुत बोलना अथवा बिलकुल नहीं बोलना यह सांसर्गिक दोष है। इन दोनों दोषों को मिटाने वाला गुण मित भाषण है। इसलिए कहा गया कि दोष रहित सेवा भक्तिमार्ग का दूसरा साधन है ।।२४।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह—

आभासार्थ—उसके बाद जो हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक—**उच्छिष्टलेपाद्यनुमोदितो द्विजैः सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्विषः ।**
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसस्तद्धर्म एवाऽऽत्मरुचिर्व्यजायत ।।२५।।

श्लोकार्थ—उच्छिष्ट जो पात्र में लगा हुआ था, उसे ब्राह्मणों के अनुमोदन करने पर मैं एक बार खाता था जिससे मेरे सम्पूर्ण पाप दूर हो गये और इस प्रकार

निरन्तर करने पर मेरा चित्त शुद्ध हो गया और उन ब्राह्मणों का अपरिग्रह (दान नहीं लेना), किसी का सङ्ग न करना और भगवच्चिन्तन करना आदि जो धर्म थे, उनमें मेरी रुचि हो गई ।।२५।।

सुबोधिनी- उच्छिष्टेति । पापनाशस्तद्धर्मरुचिश्च ततोऽप्यन्तरङ्गं साधनम् । **उच्छिष्टं** भोजनशेषः । लेपः पात्र्यां लग्नम् । चतुर्णां तानेकीकृत्य सकृद्भक्षणं पापक्षयसाधनम् । ननु— **"न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृत"** मित्यादिमनुवाक्यैर्निषिद्धमुच्छिष्टादिदानं कथं कृतवन्तः? तत्राऽऽह— **अनुमोदित इति** । तस्यैवेयमिच्छा उत्पन्ना । शुद्धसत्त्वान्धसा महापुरुषोच्छिष्टेनाऽतिपवित्रेणाऽऽत्मानं पावयिष्यामीति । तत उच्छिष्टं दृष्ट्वा मोदो जातः । तत्र प्रार्थनायामनुमोदनमात्रं कृतम् । न तु स्वयमुद्यम्य दत्तमिति । न चाऽयं सर्वथा शूद्रः । ब्रह्मबीजत्वात् । गृहस्थानां चाऽयं धर्मः । तत्राऽपि साधारणेषु । सेवा च पुष्टिमार्गे सस्नेहा । कृपाफलं चैतत् । यथौषधेनाऽजीर्णनिवृत्तिस्तथाऽन्नमयस्य देहस्य उच्छिष्टान्नसाधितदेहेन दोषसन्ताननिवृत्तिरित्यर्थः । तदाह— **तदपास्तकिल्विष इति** । उच्छिष्टभोजनैकनियमेनाऽपि दोषनिवृत्तिर्लोकसिद्धेति स्मेत्युक्तम् । रोचकद्रव्येणाऽरुचिनिवृत्ताविव सद्धर्मरुचिप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तौ स्वत एव रुचिर्जातेत्याह— **एवमिति** । **प्रवृत्तस्येति** निरन्तरकरणमुक्तम् । नियमेन चित्तं शुद्धं जातमित्याह— **विशुद्धचेतस इति** । तेषां धर्मः अपरिग्रहसङ्गनिवृत्तिभगवच्चिन्तनादिः । तत्र प्रेम्णाव्यतिरेकेण आत्मन एव रुचिरुत्पन्ना । सा च वृद्धिं प्राप्तेत्यर्थः । अस्य न्यायसिद्धत्वकथनाय लङ् प्रयोगः ।।२५।।

व्याख्यार्थ—सेवा से भी पापनाश एवं भगवद्धर्म में रुचि होना अन्तरङ्ग साधन है । श्लोक में आये हुए उच्छिष्ट शब्द का अर्थ है भोजन का शेष अर्थात् जो भोजन करने के बाद बाकी रहता है वह 'उच्छिष्ट' पद से यहां लिया गया है । 'लेप' का तात्पर्य पात्र में लगा हुआ । अर्थात् भोजन से शेष रहा जो पात्र में लगा हुआ था उस चारों परमहंसों के उच्छिष्ट को एकत्रित कर एक बार लेने से पाप नाश होता है । मैंने वैसा ही किया इसलिए पाप नहीं रहे और उनके धर्म में रुचि हो गई । कहते हैं कि 'न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्' शूद्र को ब्रह्मज्ञान उच्छिष्ट एवं हवि के लिए बनाई गई वस्तु नहीं देनो चाहिये । यह मनु वाक्य है । तो दासी पुत्र होने से उच्छिष्ट आदि कैसे दिया । इस पर कहते हैं कि मेरी इच्छा हुई कि महापुरुषों का उच्छिष्ट अति पवित्र शुद्ध सत्त्व गुण वाले अन्न से अपने को पवित्र करूं इसलिए उनके उच्छिष्ट को देखकर प्रसन्नता हुई । मेरे प्रार्थना करने पर उन्होंने अनुमोदन मात्र किया । स्वयं अपनी इच्छा से नहीं दिया ।

और एक बात यह भी थी कि यह ब्राह्मण की सन्तान होने से सर्वथा शूद्र नहीं था । इसलिए उच्छिष्ट देना अनुचित नहीं था । महात्माओं का उच्छिष्ट लेना गृहस्थों का तथा साधारणों का धर्म है । अनुग्रह मार्ग में स्नेहपूर्वक सेवा होती है । स्नेहपूर्वक सेवा होना कृपा का फल है । जैसे औषध से अजीर्ण की निवृत्ति होती है वैसे हो अन्नमय देह के स्थान पर उच्छिष्ट अन्न के खाने से जो देह बनता है उससे दोष परम्परा की निवृत्ति होती है इसी को कहा है कि 'तदपास्त किल्विषः' केवल उच्छिष्ट खाने के नियम से दोष निवृत्ति होती है यह लोक प्रसिद्ध है । इसी प्रसिद्ध अर्थ को ही श्लोक में आया हुआ 'स्म' पद कहता है । रुचि पैदा करने वाली वस्तु से जैसे अरुचि निवृत्त होती है वैसे ही सद्धर्म में रुचि होने से प्रतिबन्धक दोष निवृत्त हो गये और स्वतः सद्धर्म में रुचि हो

गई । प्रवृत्तस्य का अभिप्राय यह है कि निरन्तर मैंने ऐसा किया इससे मेरा चित्त शुद्ध हो गया । इसी बात को श्लोक में आये 'विशुद्धचेतसः' से कहा गया है । दान नहीं लेना, किसी का सङ्ग नहीं करना एवं भगवच्चिन्तन करना आदि परमहंसों के धर्म हैं । उनमें मेरी रुचि बिना प्रेरणा के हो गई और बढ़ी । जैसे के पास रहता है वैसा बन जाता है यह न्याय सिद्ध है । इसी बात को कहने के लिए श्लोक में आये 'व्यजायत' ऐसा लङ् का प्रयोग किया गया । श्री पुरुषोत्तमजी महाराज कहते हैं कि जिसको जिससे गुण प्राप्त होता है उसकी उसमें रुचि होती है यह लोक न्याय सिद्ध बात है इसलिए यहां 'प्रजायते' इस लट् का प्रयोग किया गया है । ऐसा न मानते तो 'व्यजायत' ऐसा प्रयोग करना चाहिये ॥२५॥

आभास—एवमान्तरं दोषाभावं गुणं चोक्त्वा बहिर्गुणमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार भीतर के दोष की निवृत्ति हुई और भगवद्धर्म रूप गुण प्राप्त हुआ, यह कहकर बाह्य गुण को कहते हैं—

श्लोक—**तत्राऽन्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाऽशृणवं मनोरमाः ।**
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाऽभवद्रुचिः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे व्यासजी ! रुचि के उत्पन्न होने पर प्रतिदिन जो कृष्णकथा कह रहे थे उनके अनुग्रह से मैंने मनोरम कथा को सुना । उस कृष्णकथा को श्रद्धा से पदार्थ अक्षरार्थ सहित सुनते हुए मेरा जिसकी कीर्ति प्रिय लगती है ऐसे भगवान् में अनुराग पैदा हो गया ॥२६॥

सुबोधिनी—**तत्रेति** । अन्वहमित्यशृणवमित्यनेन सम्बध्यते । परमहंसानां वा नित्योऽयं धर्म इति ख्यापयितुम् । कृष्णपदात्परमहंसा अप्येते भक्ता इति ज्ञापितम् । गानं प्रेमाऽऽधिक्यात् । प्रकृष्टगानं तद्भावेन **अनुग्रहेणे**त्याज्ञया श्रवणं बोध्यते । न तु प्रासङ्गिकम् । कथामनोरमपदाभ्यां अर्थमभिप्रायं ते बोधयन्तीति लक्ष्यते । निर्बन्धेन श्रवणाभावायाऽऽह—**मनोरमा इति** । मनसो रमणं यासु । एवमेका श्रवणभक्तिः सिद्धा । तस्या नारदत्वपर्यन्तं फलम् । ततः कीतनमिति साम्प्रतं तु कीर्तनम् । एवमग्रे स्मरणादिवृद्धौ तावद्भिः कल्पैर्नवविधसाधनभक्तौ सिद्धायां प्रेम्णा भगवत्सायुज्यं भवतीति शास्त्रार्थः । तत्र श्रवणफलमाह-**ताः श्रद्धयेति** । श्रवणादीनां नाऽदृष्टद्वारा फलसाधकत्वम् । किन्तु स्वरूपेणैव । फलं च भगवद्याथार्थ्यज्ञानम् । तदेव हि कीर्तनेऽधिकारः । उत्तरस्याऽऽदिना हि पूर्वस्याऽवसानम् । अतः श्रवणस्य नैरन्तर्यं कर्तव्यम् । तदाह । ताः कथाः । अत्यादरेण—**अनुपदमिति** । पदार्थाक्षरार्थसहितेन वाक्येन हि श्रवणम् । ततो भगवति रुचिः । परं श्रवणद्वारा । तदाह—**प्रियश्रवसीति** । प्रियं श्रवः श्रवणं कीर्तिर्वा यस्य । **अङ्गेति** कोमलामन्त्रणमप्रतारणाय । प्रमाणबलं परित्यज्येन्द्रियाणां स्वाभाविकविषयग्रहणं रुचिः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में आये हुए 'अन्वहम्' का 'अशृणवम्'' के साथ सम्बन्ध है । अर्थात् परमहंसों से कही गई कथा को मैंने प्रतिदिन सुना, इससे यह ज्ञात हुआ कि कृष्णकथा कहना

परम हंसों का नित्य-धर्म है। नित्यधर्म उसे कहते हैं जिसके नहीं करने से प्रायश्चित लगता हो। जैसे सन्ध्या वन्दन नित्य कर्म है उसके नहीं करने पर द्विज प्रायश्चित्ती होता है। वे अन्य कथा न कहकर कृष्ण कथा को कहते थे इसलिये वे परम हंस होते हुए भी कृष्ण भक्त थे। श्लोक में 'प्रगायताम्' का अभिप्राय यह है कि अधिक प्रेम से गान करते थे प्रकृष्ट गान प्रेम से होता है। परम हंसो के अनुग्रह से मैंने सुना, इस कथन का तात्पर्य यह है कि उनने मुझे सुनने की आज्ञा दी क्योंकि उनका अनुग्रह था उनकी आज्ञा से सुना प्रसङ्ग वश नहीं सुना। जिसका अर्थ सुनाया जाता है वह कथा कहल तो है मन को आनन्द देने वाली तभी होती है जब उसका अभिप्राय समझ लिया जाता है। अर्थात् परम हंस मुझे अर्थ तथा अभिप्राय समझा रहे थे। उनके आग्रह से ही मैंने सुना यह घात नहीं थो। मेरे मन को आनन्द मिलता था इस लिए सुनता था।

इस प्रकार मेरी श्रवण भक्ति सिद्ध हुई। जिसका फल ब्रह्मा का पुत्र नारद होना है। श्रवण भक्ति के बाद कीर्तन भक्ति आती है इस लिये अब मैं कीर्तन भक्ति कर रहा हूं। इस प्रकार आगे स्मरण आदि भक्ति के बढ़ने पर प्रेम से नव प्रकार की साधन भक्ति सिद्ध होतो है इससे भगवद् सायुज्य मिलता है यह शास्त्र का अर्थ है। नवविध भक्ति में श्रवण का फल कहते हैं। ता: श्रद्धया वे कथायें श्रद्धा से सुनता था। मेरे श्रवण आदि अदृष्ट द्वारा फल न देकर स्वरूप से हो भगवान् के यथार्थ ज्ञान रूप फल को देने वाले हुए। तात्पर्य यह है कि यज्ञ आदि से जैसे अदृष्ट पैदा होता है और उससे स्वर्ग आदि फल मिलते है ऐसा यहाँ नहीं है यहां तो श्रवण आदि हो फल दे देते हैं। बीच में अदृस की आवश्यकता नहीं है। श्रवण सिद्ध होने पर भगवान् के कीर्तन का अधिकार प्राप्त होता है कीर्तन स्मरण आदि जब प्रारम्भ होते है तब पहले के भक्ति को समाप्ति होतो है अर्थात जब कीर्तन आरम्भ होता है तब श्रवण की समाप्ति होती है। इससे सिद्ध है कि जब तक कीतन भक्ति प्रारम्भ न हो तब तक निरन्तर श्रवण भक्ति करते ही रहना चाहिये। इसी बात का ता: 'आदि से कहा हैं। श्लोक में आये हुए 'अनुपदम्' का अभिप्राय यह है कि पदार्थ अक्षरार्थ सहित वाक्य से श्रवण किया। जिससे भगवान् में रूचि पैदा हुई। वह श्रवण द्वारा हुई इस अभिप्राय से कहते है कि 'प्रियश्रवसि' प्रिय है श्रवण अथवा कार्ति जिनको। 'अङ्ग' यह मैं प्रतारणा नहीं कर रहा हूँ इस बात को बताने के लिये कामल सम्बोधन दिया है। मेरो रूचि प्रमाण बल से नहीं हुई इन्द्रियो की स्वाभाविक प्रवृति से हुई। रूचि शास्त्र श्रवण से होती है तथा स्वभावत: भी होतो। मेरी रूचि स्वभावतः हुई ॥२६।

आभास—ततः किमत आह—

आभासार्थ—उसके बाद क्या हुआ सो कहते है।

श्लोक—तस्मिँस्तदा लब्धरुचेर्महामुने प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम।
यथाऽहमेतत्सदसत्स्वमायया पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे ॥२७॥

श्लोकार्थ—जिसकी रूचि पैदा हो गई है। ऐसे मेरी भगवान् में निरन्तर होने वाली मति अर्थात् निरन्तर होने वाला चिन्तन एवं भगवान् का यथार्थ ज्ञान हे महामुने! हुए। जिस यथार्थ ज्ञान से यह स्थूल सूक्ष्म शरीर अथवा जगत् मुझ पर ब्रह्म में माया से कल्पित हुआ है यह देखा ॥२७॥

सुबोधिनी—तस्मिन्निति। रुच्या हि भगवदनुभवार्थं यत्नो लोकसिद्धः। स च यत्नो ज्ञानात्मक इति तदाह। **रुचेः**। फलस्य कालान्तरत्वं व्यावर्तयति—**तदेति**। रुचेर्दृढत्वाय—**लब्धेति**। **महामुने** इति सम्बोधनं रुचिमत्योर्नियमार्थम्। प्रोषितभर्तृकेव (?) तदभिध्यानमत्र मतिः। शास्त्रतो वा याथार्थ्यज्ञानम्। तत्र स्खलनं विषयान्तराऽनुसन्धानम्। सन्देहो वा। तदुभयं नास्तीत्यस्खलिता। तत्रापि श्रवणपुरस्सरेणेति **प्रियश्रवसीत्युम्**। **"यो यच्छ्रद्धः स एव स"** इति वाक्यात्परमश्रद्धायामुत्पन्नायां सफलरुचिरूपायां तत्वमावश्यकमिति। तदाह—**ययाऽहमिति**। प्रथमाधिकारार्थमाह। यया मत्या अहमेव ब्रह्म मय्येव सकलं जातं परं मायया परिकल्पितम्। एतत्स्थूलसूक्ष्मं शरीरं जगद्वा। मायया पूर्वोक्तया। अस्य जगतः प्रतीतिमात्रस्य अहं ब्रह्माऽधिकरणं माया करणमिति ज्ञातवानित्यर्थः। प्रपञ्चव्यतिरिक्ततया ब्रह्माऽऽत्माऽनुभवो जात इति यावत् ॥२७।

व्याख्यार्थ—जिस में रूचि होती है उसके अनुभव के लिये यत्न करता है यह लोक सिद्ध बात है। यहां नारदजी ने ब्रह्मज्ञान हो ऐसा यत्न किया अर्थात् भगवान् के अनुभव के लिये यत्न किया। इसी अभिप्राय को 'रूचे' इस पद से कहा है। रूचि से फल कालान्तर में हुआ हो यह बात नहीं हैं। इसी बात को 'तदा' यह पद कहता है। रूचि होते ही भगवान् का ध्यान होने लगा। 'लब्ध' का तात्पर्य यह है कि जिसका लाभ होता है उसको दृढ़ रूप से अपनाया जाता हैं। अर्थात् मेरी रूचि दृढ़ हुई। श्लोक में महामुने' यह सम्बोधन आया है जिसका अभिप्राय यह है कि जहाँ रूचि होती है वहां उसका मनन भी होता है। यह नियम है। जैसे रूचि पैदा होने पर आप मनन करने वाले बने। जिस पतिव्रता स्त्री का पति बाहर चला गया हो और वह जैसे उसका ध्यान करती रहती है वैसे ही मेरी भगवान् में मति हुई यहां 'मति' पद से चिन्तन लिया गया है। अथवा मति पद से यहाँ शास्त्र से होने वाला भगवान् का यथार्थ ज्ञान भी लिया जाता है। तात्पर्य यह है कि रूचि के दृढ़ होने पर मेरा सदा चिन्तन होने लगा। उस चिन्तन में दूसरे विषय का अनुसन्धान नहीं हुआ। अथवा सन्देह नहीं हुआ। इसी भाव से यहां 'अक्षखलिता' यह कहा। वह मति श्रवण करने से हुई। क्योंकि भगवान् का श्रवण प्रिय था। जो जिसमें श्रद्धा रखता है वह वहो बन जाता है। इस अभिप्राय से 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इस गीता वाक्य से श्रद्धा पैदा होने पर जो श्रद्धा रूचि का फल रूप हुई। उसके होने पर तद्रूपता अवश्य हो जातो हैं। भूतो में श्रद्धा रखने वाला भूत के समान हो जाता है और भगवान् में श्रद्धा रखने वाला तद्रूप हो जाता हैं। इसी बात को कहते है कि 'ययाहम्' जिस चिन्तन से एवं यथार्थ ज्ञान से यह जगत् भगवान् से पृथक है यह प्रथमाधिकार मेरे में होने से मैंने उस यथार्थ ज्ञान से मैं ही ब्रह्म रूप हूं मेरे में ही सम्पूर्ण पैदा हुए है और यह स्थूल सूक्ष्म शरीर अथवा जगत् माया से कल्पित है। जिस माया का 'स एवेद स सर्जा ग्रे' से वर्णन किया गया हैं। उससे कल्पित माना। तात्पर्य यह है कि जिसको केवल प्रतीति होती है ऐसे जगत् का ब्रह्मरूप में अधिकरण (स्थान) हूं। और घड़े का दण्ड जैसे करण होता है ऐसा ही माया करण रूप है। यह जाना।

प्रपंच से भिन्न रूप में ब्रह्मरूप आत्मा का अनुभव हुआ। तात्पर्य यह है कि भक्ति के द्वारा ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार हुआ जिससे अविद्या निवृत हुए और देहान्त करण आदि का अध्यास मिटा ॥२७॥

आभास—एवं भगवद्भावमापन्नस्य निरन्तरमनुवर्त्तमानश्रवणेन ज्ञानभक्तिभ्यां परमस्ने हो जात इत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवद्भाव को प्राप्त हुए मेरे निरन्तर होने वाले श्रवण से ज्ञान भक्ति पैदा हुई और उनसे परम स्नेह हुआ। यह कहते है।

श्लोक—इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरेर्विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम् ।
सङ्कीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभिर्भक्तिः प्रवृत्ताऽऽत्मरजस्तमोपहा ।।२८।।

श्लोकार्थ— इस प्रकार त्रिकाल अथवा प्रतिक्षण उन महात्माओं मुनियों से गाये गये हरि के अमलयश को सुनते हुए मैंने चार पाँच महिने बिताये अर्थात शरद ऋतु वर्षा ऋतु बिताई। जिस श्रवण से अन्तःकरण में रजोगुण तमोगुण को नष्ट करने वाली भक्ति पैदा हुई ।।२८।।

सुबोधिनी—इत्थमिति । श्रवणस्य भेदान्तराणि सन्तीति तन्निवृत्त्यर्थम्- **इत्थमिति** । शरत्प्रावृषिकावृतू मासचतुष्टयं पञ्चक वा । देहादिक्लेशस्याऽस्फुरणमाह—**हरेरिति** । विशेषेण शृण्वत इति श्रवणाऽनुवृत्तिः । न यतः कुतश्चित् । तथा सति निरङ्गत्वात्फलं न साधयेत् । अतो—**मुनिभिर्महात्मभिः सङ्कीर्त्यमानमिति** । **मुनिभिरिति** । स्वफले श्रवणवन्मननं ज्ञानसाधनम् । कीर्त्तनानुवृत्त्यर्थम्- **महात्मभिरिति** । '**महात्मानस्तु मां पार्थे**' ति श्लोकद्वयार्थोऽत्राऽनुसन्धेयः। सा भक्तिः स्पर्शमणिरूपा जातेत्याह—**आत्मरजस्तमोपहेति** । अन्तःकरणं वसुदेवरूप जातमित्यर्थः।२८।

व्याख्यार्थ—श्रवण के अनेक भेद हैं, परन्तु मैंने पूर्व में कहा गया जो श्रवण है उसे ही अपनाया। दूसरे प्रकार के श्रवण को नहीं अपनाया। इस प्रकार वर्षा एवं शरद ऋतु जो चार महिना अथवा पाँच महिने की मानी जाती है बिताई। मुझे देह आदि के क्लेश का भान नहीं हुआ क्योंकि दुःख हरण करने वाले हरि की कथा सुन रहा था। 'विशृण्वत' में जो 'वि' उपसर्ग है उसका अर्थ है विशेष रूप से सुनते हुए अर्थात् निरन्तर सुनते हुए मेरे में भक्ति पैदा हुई। कथा श्रवण साधारण मनुष्य से नहीं किया। साधारण व्यक्ति से सुनने पर वह श्रवण साङ्ग न होने से फल नहीं देता, इसलिए कहा कि 'मुनिभिर्महात्मभिः सङ्कीर्त्यमानम्' महात्मा मुनियों से कहो गई कथा को सुना। फल प्राप्ति में श्रवण की तरह मनन भी ज्ञान का साधन है। मेरा कीर्तन चलता रहा क्योंकि महात्माओं से किया जा रहा था। महात्माओं के लिए गीता में कहा है कि—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्य मनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।।
सतत कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।अ० ७, श्लो० १३-१४।।

तात्पर्य यह है कि अनन्य मना होकर महात्मा लोग भजन करते हैं तथा निरन्तर कीर्तन करते रहते हैं। जैसे महात्मा लोग सतत भजन एवं कीर्तन करते रहते हैं उसी प्रकार मैंने किया। उनके सतत कही गई कथा को सुनी।

इस प्रकार की मेरी भक्ति पारस रूप बन गई जिससे सत्त्व, रज, तम वृत्ति वाला अन्तःकरण शुद्ध सत्त्व रूप होने से वसुदेव रूप बन गया। वसुदेवजी में जैसे भगवान् का प्राकट्य हुआ वैसे मेरे

अन्तःकरण में भगवान् का प्राकट्य होने लगा । तात्पर्य यह है कि, चांदी, तांबा, सोना इन तीन धातुओं से बना हुआ बर्तन पारस के सम्बन्ध से केवल शुद्ध स्वर्ण रूप बन जाता है उसी प्रकार मेरे अन्तःकरण का रजोगुण तमोगुण मिटा और वह अन्तःकरण शुद्ध सत्त्वरूप हो गया ।।२८।।

आभास—अत्र हि भगवदावेशव्यतिरेकेणाऽऽविर्भावो न भविष्यतीति तेषां कृपया तज्जातमित्याह—**तस्यैवमिति** द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—भगवान् के आवेश के बिना अन्तःकरण में भगवान् का आविर्भाव नहीं होगा इसलिए उनकी कृपा से भगवान् का आवेश हो गया इस बात को दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः ।**
श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्याऽनुचरस्य च ।।२९।।
ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम् ।
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः ।।३०।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार अनुराग वाले विनयी पापरहित श्रद्धा रखने वाले दीन संयमी उस मुझ सेवक पर साक्षात् भगवान् से कहा गया अत्यन्त गुप्त ज्ञान को दीनों पर स्नेह रखने वाले जो जाने वाले थे उनने कृपा से मुझे कहा ।।२९-३०।।

सुबोधिनी—पूर्वजातसाधनानां वासुदेवपर्यन्तमनुवृत्तिः करणीयेति तान(?)नुवदति । **अनुरक्तस्येत्यनुवृत्तिपर्यन्तानि** गृहीतानि । शुश्रूषालक्षणो विनयो भिन्नक्रमेणेति पृथगुक्तः । तथा पापनिवृत्तिः । अत्युपकारित्वाद्दीनत्वस्य पृथगुक्तिः । अनुक्तसर्वसमुच्चयार्थं चकारः । अनुवादे क्रमापेक्षाऽभावाद्विपर्ययेण कथनं न दोषः । अस्ति किञ्चिज्ज्ञानं सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यं पञ्चरात्राद्यागमैश्च गुरूपदेशेन च यदभिव्यज्यते । यथा कं ब्रह्म स्वं ब्रह्मोपाख्याने । यस्मिन् जाते पुमान् ब्रह्मविद्भवति सर्वज्ञस्तेजस्वी च । ततोऽपि महोपनिषत्प्रतिपाद्यं देवगुह्यत्वाद्गुह्यतरम् । ततोऽपि पुरुषोत्तमप्रतिपाद्यं "**भक्त्या मामभिजानाती**' ति रूपम् । यस्मिन्ननुसंहिते भगवदाविर्भावो भवत्येव तद्गुह्यतमम् । साक्षाद्भगवता कृष्णेनोक्तम् । **यत्तदिति** । विशेषतोऽवक्तव्यम् । तेषामपि हृदये भगवदिच्छया उपदेशार्थमागतम् । अनु पश्चादवोचन । एतस्य परमकाष्ठात्वज्ञापनायाऽऽह— **गमिष्यन्त इति** । एतत्कथने प्रश्नान्तरं साधनान्तरं च नास्तीत्याह—**कृपयेति** । तत्राऽपि हेतुः—**दीनवत्सला इति** । वत्सं लातीति वत्सलो ग्राहकः स्नेहः । तद्वान् वा । पिता पुत्र इव दीनेषु त इत्यर्थः ।।२९।।३०।।

व्याख्यार्थ—पहले कहे गये सत्सङ्ग निर्दुष्ट सेवा अपरिग्रह सङ्ग निवृत्ति भगवच्चिन्तन आदि में रुचि, अपने आपका प्रपञ्च से पृथक् रूप से अनुभव करना तथा परम स्नेह करना उक्त साधनों को वसुदेव रूप अन्तःकरण होने तक करते रहना चाहिये इसलिए पूर्वोक्त साधना का पुनः अनुवाद करते हैं । अर्थात् कही हुई बात को पुनः कहते हैं । 'ते मय्यपेता' जो अनुवृत्ति पर्यन्त साधन कहे गये हैं वे यहां 'अनुरक्तस्य' इस पद से कहे गये हैं । सेवा में विनय होता है इसलिए उसे भी 'प्रसृतस्य' इस पद से पृथक् रूप से कहा गया है । इसी प्रकार "हतैनस" से पाप निवृत्ति कही गई है । दीनता

सबसे बड़ा उपकार करने वाली है इसलिए 'बाल' पद से कही गई है। तात्पर्य यह है कि श्लोक में आये 'अनुरक्त' पद से अनुवृत्ति पर्यन्त जब सब साधन लिये गये तो दीनता आई गई फिर यहां बाल पद दीनता का सूचक पुनः क्यों दिया तो कहते हैं कि दीनता महती उपकारिणी है इसलिए उसको 'बाल' पद से पृथक् कहा गया है। श्लोक में आये हुए 'च' पद से जो साधन नहीं कहे गये वे भी लिये गये हैं अर्थात् मैंने और भी साधन किये। 'ते मय्यपेताखिलचापलेर्थके' आदि से पूर्व में जो साधन बताये गये हैं उनका यहां पुनः अनुवाद किया गया है। अनुवाद में पूर्वोक्त क्रमानुसार कहना आवश्यक नही है। इसलिए यहां उस क्रम से न कहने पर भी दोष नहीं हुआ। सब वेदान्तों से प्रतिपादन करने योग्य कोई ज्ञान है जो पञ्चरात्र आदि से तथा गुरु के उपदेश से अभिव्यक्त होता है। जैसा कि उपनिषदों में 'कं ब्रह्म' खं ब्रह्म' के उपाख्यान में कहा है। अर्थात् "आकाश ब्रह्म है" अर्थात् सभी कुछ ब्रह्म है यह ज्ञान जब हो जाता है तो मनुष्य ब्रह्मज्ञानी, सर्वज्ञ एवं तेजस्वी हो जाता है। इस ज्ञान से भी अत्यन्त गुप्त जो देवताओं से भी छुपा हुआ है वह महोपनिषद् प्रतिपाद्य ज्ञान गुह्यतर है उससे भी अति गुप्त 'भक्त्यां मां अभिजानाति' अर्थात् भक्ति से करामलकवत् मेरा ज्ञान कर लेता है। यह पुरुषोत्तम से कहा गया ज्ञान गुह्यतम् है जिसके अनुसन्धान से भगवान् का आविर्भाव हो ही जाता है। यह ज्ञान भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में कहा है। श्लोक में 'यत् तत्' पद आये हैं उनका अर्थ जो कुछ है उस अर्थ को विशेष रूप से नहीं कहना चाहिये। इसलिए उसे यत् तत् पद से कहा। उन परमहंसों के हृदय में भगवदिच्छा से वह ज्ञान जो मेरे उपदेश के लिए अपेक्षित था, आ गया। आने के बाद जाते समय उन्होंने मुझे कहा। जब जाता है तब आखिरी बात बताता है। इसी बात को 'गमिष्यन्त' पद से सूचित किया है। इसके कहने के बाद न कोई दूसरा प्रश्न उठता है और न दूसरे साधन की अपेक्षा रहती है क्योंकि उसमें कृपा का बल है। कृपा भी इसलिए हुई कि वे दीन वत्सल थे अर्थात् दीनों पर स्नेह करने वाले थे। जैसे पिता का पुत्र पर स्नेह होता है ।।३०।।

आभास—ततस्तव किं जातं तद्वक्तव्यमित्याकांक्षायामाह—

आभासार्थ—वेदव्यासजी ने पूछा कि उसके बाद आपका क्या हुआ सो कहें इस पर कहते हैं कि—

श्लोक—**येनैवाऽहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः।**
मायाऽनुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम् ।।३१।।

श्लोकार्थ—जिस ज्ञान से ही शुद्ध सत्त्वात्मक हृदय में रहने वाले ब्रह्माण्ड के निर्माता भगवान् की माया का प्रभाव जाना। जिसके जानने से भक्त भगवान् के चरणारविन्द को प्राप्त करते हैं ।।३१।।

सुबोधिनी—येनैवाऽहमिति। भगवतो वासुदेवस्येति। हृदये विद्यमानस्यैव। अहो (?) इत्याश्चर्यम्। विद्यमानः प्रकाशमान एव न स्फुरतीति मायानुभावः। लेखनदशाऽनुसन्धेया। **येन गच्छन्ति तत्पदमिति**। क्रममात्रेण हेतुना। न तु तत्र कश्चन व्यापारो मृग्य इति भावः ।।३१।।

व्याख्यार्थ— आश्चर्य है कि हृदय में विद्यमान होते हुए भी भगवान् की स्फूर्ति नहीं हो रही है यह माया का प्रभाव है। जैसे लेखन में व्यग्र रहने वाले व्यक्ति को हृदयस्थ भावों की स्फूर्ति नहीं होती। इसी प्रकार यहां समझना चाहिये। केवल मायानुभाव के ज्ञान के क्रम को जान लेने से ही कुछ यत्न भी न करे तो भी भगवान् के चरणारविन्दों को प्राप्त कर लेता है ।।३१।।

आभास— एवं भगवत्पदप्राप्तिपर्यन्तं पदार्था निरूपिताः । तत्रैवं सन्देहः— **"ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भक"** इत्यादिसाधनानि कुतो भवन्तीति । कर्मकालादीनां प्रतिबन्धकत्वात् । तत्र कालस्य प्रतिबन्धकत्वाभावायोपायमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के चरणारविन्द की प्राप्ति तक साधनों का निरूपण किया परन्तु वहां सन्देह होता है कि कर्म काल आदि के बाधक होने से 'ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके' इत्यादि से कहे गये साधन कैसे हो सकते हैं ? वहां काल प्रतिबन्धक न हो उसका उपाय कहते हैं—

श्लोक—**एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम् ।**
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ।।३२।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! सबके नियन्ता षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न सर्वव्यापक भगवान् में कर्म समर्पित कर दिये जाय तो समर्पित कर्म आधिभौतिक आध्यात्मिक आधिदैविक तापों को औषध की तरह निवृत्त कर देता है। जैसे औषध रोज निवृत्ति कर देती है। यह मैंने आपको सूचित कर दिया ।।३२।।

सुबोधिनी—एतदिति। कथारत्यभावे अशनादयः प्रतिबन्धका दृष्टाः । कर्म चाऽदृष्टद्वारा। तद्द्वारा हेतुः कालः। तत्र प्रथमं दृष्टप्रतिबन्धको दूरीकर्तव्य. । स च तापत्रयात्मकः । **"एतैरुपद्रुत"** इति वचनात् । तत्र यद्यपि सत्सङ्गेन कथा साधनत्वेनोक्ता तथापि बहुसापेक्षत्वात्सैव न भविष्यतीति स्वतन्त्रमेकं साधनमाह। एतत् वक्ष्यमाणम् । सम्यक् सूचितं न स्पष्टतयोक्तं नापि सन्दिग्धम् । तस्य परिज्ञानं तव भविष्यतीत्यभिप्रायेणाऽऽह । हे ब्रह्मन् । तापत्रयनिराकरणार्थं चिकित्सितम् । यथा विषं सर्वनाशकमपि सर्वरोगनिवर्तकत्वेन द्रव्यान्तरैर्भावनया चिकित्स्यते तथा कर्माऽपि सर्वनाशकं सर्वदोषनिवृत्तये भगवद्रूपेण चिकित्स्यत इत्याह—**यदीश्वर इति** । प्रभुरूपे षड्गुणैश्वर्यसम्पन्ने उत्कृष्टैः पदार्थैः सुन्दरे ब्रह्मणि अपाषण्डे वेदान्तवेद्ये कर्म भावितं योजितमित्यर्थः। भावनया प्रापितं वा ।।३२।।

व्याख्यार्थ—कथा में रति न होना उसमें भोजन आदि दृष्ट बाधक हैं अर्थात् 'एतैरुपद्रुतो नित्यं जीव लोकः स्वभाव जै' न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौरतिम्" तात्पर्य यह है कि भूख प्यास आदि से दुःखी रहने वाला मनुष्य कथा में प्रेम नहीं करता। कर्म भी अदृष्ट द्वारा तथा काल भी उसके द्वारा कथारति न होने में कारण है। उनमें पहले आधिभौतिक आध्यात्मिक एवं आधिदैविक जो देखे गये बाधक हैं उन्हें दूर करना चाहिये। पहले ऐसा क्रम बताया गया कि महान् पुरुषों की सेवा करनी। जिससे उनकी कृपा होती है तदनन्तर उनके धर्म में श्रद्धा होती है और उससे

भगवत्कथा सुनने को मिलती है और भगवान् में प्रीति होती है। तत्पश्चात् प्रपञ्च के पदार्थों से आत्मा का भिन्न रूप से ज्ञान होता है। उसके बाद दृढ़ भक्ति होती है। फिर भगवान का माहात्म्य ज्ञान होता है परन्तु तापत्रय से सन्तप्त से महापुरुषों की सेवा नहीं हो सकती तो सेवा से होने वाली कृपा आदि भी कैसे हो सकती है ? अतः तीनों तापों का निवर्तक उपाय बताते हुए भगवान् के तत्व ज्ञान पर्यन्त क्रम को कहते हैं। वहां यद्यपि सत्संग से कथा को साधन बताया है परन्तु कथा सुनने में बहुतों की अपेक्षा रहती है। अतः कथा नहीं हो सकती। इसलिए स्वतन्त्र कोई एक साधन बताना चाहिये। जो आगे कहा जायगा। 'संसूचितम्' का तात्पर्य यह है कि मैंने न स्पष्ट कहा न सन्दिग्ध कहा केवल अच्छे रूप से सूचित कर दिया। यहां 'सूचितम्' पद से सूचित करना कहा। स्पष्टतया नहीं कहना 'सूचित' पद का तात्पर्य है। 'सम्' उपसर्ग का अर्थ है अच्छे रूप में अर्थात् संदिग्ध रूप में नहीं कहा। ये दोनों अर्थ दोनों पदों से लिये गये हैं। उसका परिज्ञान तुम्हें हो जायगा क्योंकि तुम ब्रह्मरूप हो। तापत्रय के दूर करने के लिए औषध है वह यह है कि सभी कर्म भगवान् के अर्पित करने चाहिये। जैसे सर्वनाशक जहर भी दूसरे द्रव्य की भावना देने से सब रोगों का निवर्तक बन जाता है उसी प्रकार सर्वनाशक कर्म भी भगवान् के अर्पित होने पर सब दोषों का निवर्तक बन जाता है। प्रभुरूप षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न उत्कृष्ट पदार्थों से सुन्दर पाषण्ड रहित वेदान्त से जानने योग्य ब्रह्म में कर्मों को अर्पण करना चाहिये अथवा भावना से प्रभु को प्राप्त कराना चाहिये जिससे सभी तापों का नाश हो जाता है ॥३२॥

आभास—तत्रैव विशेषमाह—

आभासार्थ—वहां ही विशेष कहते हैं कि—

श्लोक—**आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत ।**
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—जो रोग घृत अथवा उड़द आदि से पैदा होते हैं उन घृतादि से वे रोग नहीं मिटते किन्तु उनमें दूसरे द्रव्य की भावना देने पर पूर्वभक्षित तथा जो अभी रोग पैदा हुए हैं उनको वे घृतादि मिटा देते हैं ॥३३॥

सुबोधिनी—आमय इति । येनैव कर्मणा नाशः शङ्कनीयस्तदेव भगवति भावनीयमिति । आमयः कफपित्तादिः । येन माषादिना । **सुव्रतेति** सम्बोधनात्तादृशं तु तव नाऽस्तीति तव महद्भाग्यमिति प्रशंसा । तदेव चिकित्सितमामयद्रव्य न किन्तु अन्यदपि द्रव्यान्तरं पूर्वभक्षितं पुनाति । अतो येनैव कर्मणा बन्धस्तदेव कर्म भगवति भावितं पुरुष पुनातीत्यर्थः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—जिस कर्म से नाश की शङ्का हो उसी कर्म को भगवान् के समर्पित कर देना चाहिये। श्लोक में आये हुए 'आमयः' का अर्थ है कफ पित्त आदि जो उड़द आदि से पैदा होते हैं। नारदजी कहते हैं कि हे सुव्रत ! तुम अच्छे नियम वाले हो इसलिए तुम्हारा नाश करने वाले कोई कर्म नहीं है। इसलिए तुम बड़े भाग्यशाली हो। इसलिए यह समझो कि वही उड़द आदि दूसरे द्रव्य से भावित हो जाते हैं तो जो रोग पैदा हुआ है उसी को नहीं मिटाता किन्तु पूर्वभक्षित जो

विकार करने वाला द्रव्य है उसे भी अच्छा कर देता है। इससे यह समझो कि जिस कर्म से अपना बन्धन होता हो वह कर्म यदि भगवान् में अर्पित कर दिये जाय तो पुरुष को अच्छा कर देते हैं।३३।

आभास—ननु पूर्वकृतकर्मणां बाधकानां विद्यमानत्वात्तैस्तापत्रयजननाच्च किमग्रिमेण भावितेनेति तत्राऽऽह—

आभासार्थ—शङ्का करते हैं कि पहले किये हुए पूर्वजन्म के कर्म बाधक रूप में विद्यमान हैं तो उनसे तीनों ताप हो सकते हैं तो आगे किये हुए कर्मों को भगवान् के अर्पण करने पर भी क्या होगा ?

श्लोक—**एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।**
त एवाऽऽत्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ।।३४।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार कर्म के अधिकारी मनुष्यों के जो क्रियायोग हैं वे जन्म-मरण के कारण होते हैं परन्तु यदि उनको भगवान् के अर्पित कर दिये जाय तो उनका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है अर्थात् उनमें कर्मत्व ही नहीं रहता तो वे तापत्रय को कैसे पैदा कर सकते ।।३४।।

सुबोधिनी—**एवं नृणामिति**। यथा भगवति सम्बद्धेन कर्मणा तापत्रयनाश एवमेव पूर्वकर्मणामपि भगवति समर्पणात्स्वरूपनाशे सति तापाद्यनुत्पादकत्वम्। **नृणामिति** कर्माधिकारो द्योतितः। सर्वे पुण्यजनका अपि संसृतिहेतवः जननमरणहेतवः। त एव सर्वे योगाः परे कल्पिताः समर्पिता आत्मविनाशाय कल्पन्ते। यथा प्रज्वलितेऽग्नौ तृणादि। कुतस्तस्य तापजनकत्वमित्यर्थः ।।३४।।

व्याख्यार्थ—जैसे भगवान् के सम्बद्ध (अर्पित) कर्म से तापत्रय का नाश होता है इसी प्रकार पूर्व कर्मों को भी भगवान् के समर्पित करने से उन कर्मों का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है फिर वे तापत्रय आदि को उत्पन्न नहीं कर सकते। श्लोकस्थ 'नृणां' पद से मनुष्यों को कर्म करने का अधिकार बताया है। वे सभी कर्म भले ही पुण्यजनक हो तो भी जन्म मरण के कारण होते हैं। उन सभी क्रियाओं को अर्थात् कर्मों को ईश्वर के समर्पित कर दिये जाय तो उन कर्मों का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। उन समर्पित कर्मों से जीव को फिर तापत्रय नहीं होता जिस प्रकार प्रज्वलित आग में तृणादि डाल दिये जायें तो वे उसमें जाकर स्वरूप से ही नष्ट हो जाते हैं वे ताप नहीं कर सकते। इसी प्रकार भगवत् समर्पित कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं अर्थात् उनमें कर्मत्व ही नहीं रहता तो वे तापत्रय को कैसे पैदा कर सकते हैं ।।३४।।

आभास—एवं स्वाभाविकानां लौकिकानां संसारहेतुभूतकर्मणां कृतानां क्रियमाणानां च विनियोग उक्तः। अधुना विहितानां भगवत्प्रीत्यर्थं क्रियमाणानां किं फलमित्याकांक्षायामाह—

आभासार्थ—इस प्रकार स्वभाव से होने वाले लौकिक कर्मों का जन्म मरण के कारण जो कर्म पहले किये गये और वर्तमान में हो रहे हैं उनका विनियोग ईश्वर में करना चाहिये यह कहा। अब जो भगवान् की कीर्ति के लिए जो शास्त्र में कथित कर्म हो रहे हैं उनका क्या फल है इस आकांक्षा पर कहते हैं कि—

श्लोक—यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम् ।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् ।।३५।।

श्लोकार्थ—जो भगवान् के सन्तुष्टि के लिए कर्म किया जाता है उससे भक्ति ज्ञान पैदा होते हैं। भक्तियोग के सहित होने वाला ज्ञान उस कर्म के अधीन है ।।३५।।

सुबोधिनी - यदत्रेति । "**यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता**" इत्यत्र भगवत्प्रसादहेतुत्वेन प्रार्थनान्नियत फलत्वाच्च एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वन्यायेन दध्यादिवदुभयसाधकं स्यात् । तथा सति ससारः । पूर्वोक्ताऽनुभयरूपत्वात् । तत्रोच्यते । अत्र निर्णये यत्कर्म भगवत्परितोषण क्रियते भगवत्परितोषार्थं क्रियते तेन कर्मणा भक्तिज्ञाने उत्पद्येते । ततो "**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणी**" ति न्यायेन सर्वकर्मक्षय इत्यभिप्रायेणाऽऽह । ज्ञानं यत्प्रसिद्धं भक्तियोगसमन्वितं तत् तदधीनं तादृशकर्माधीनम् । होति "**सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववदि**" ति न्यायः सूचितः ।।३५।।

व्याख्यार्थ—"यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिताः" हमने अच्छा अध्ययन किया है और गुरुओं को प्रसन्न किया है उससे भगवान् प्रसन्न होवे ऐसी प्रार्थना की गई है और नियत फल भी यही है। यदि एक ही कर्म पुण्यजनक हो तथा भगवान् की प्रसन्नता के लिए हो एक ही दो कार्य करेगा तो किसी अंश मे संयोग रहेगा और किसी अंश में पृथक्त्व रहेगा। अर्थात् कर्म दोनों फल देने वाले होंगे। जैसे दहि आदि के लिए कहा है कि "दध्ना जुहोति" "दध्नेद्रिय कामस्य जुहुयात्" "खादिरे-बध्नाति" 'खादिरं वीर्यकामस्य यूप कुर्यात्" इत्यादि में दहि आदि के दो फल माने हैं। इसी प्रकार यहां भी यदि कर्मों का फल भगवत्प्रसाद एवं पुण्यजनकता होगी तो जन्म-मरण जरूर होंगे क्यों क उनमें उभयरूपता है इस पर कहते हैं कि जो कर्म भगवान् के परितोष के लिए किये जाते हैं उनसे भक्ति ज्ञान पैदा होते हैं और उस ज्ञानादि से 'ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि" ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है अर्थात् ज्ञान होने पर सब कर्मों का नाश हो जाता है। प्रसिद्ध ज्ञान जो भक्ति सहित है वह उन कर्मों के अधीन है। श्लोकस्थ 'हि' पद सूचित करता है कि 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' यह न्याय ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय के चौथे पाद में है वहां कहा गया है कि ज्ञान के फल देने में कर्म की अपेक्षा नहीं है। ऐसा सिद्ध कर अब विचार करते हैं कि ज्ञान के स्वरूप का उपकारी कर्म है या नहीं तो कहते हैं कि "आचार्यवान् पुरुषो वेद" जो आचार्य बनाता है वही पुरुष भगवान् को जान सकता है तो गुरु की शरणागति एवं उसके उपदेश से ही ज्ञान हो जायगा फिर कर्म की क्या आवश्यकता है ? यह वहां शङ्का उठाई। सिद्धान्त यह कहा है कि पुरुषोत्तम के ज्ञान के होने में कर्म ज्ञान भक्ति की अपेक्षा है वे सभी पुरुषार्थ जो भगवत्प्राप्ति रूप है उसी को वेद कहता है। वह पुरुषार्थ प्राप्ति यदि ज्ञान से ही हो जाय तो यज्ञादि का करना व्यर्थ हो जायगा। इसलिए मानिये कि कर्म ज्ञान स्वरूप के द्वारा पुरुषार्थ का साधक है। परन्तु वह निष्काम कर्म होना चाहिये।

'वाजसनेयी शाखायां' वाजसनेयी शाखा में कहा है कि 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' जैसा करता है और जैसा आचरण करता है वैसा बन जाता है इससे यह कहा कि कामना से कर्म करने वाले को पुनः जगत् में आना पड़ता है और जो कुछ कामना नहीं करता वह ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। इससे यह कहा कि निष्काम कर्मकर्त्ता को ही ब्रह्मप्राप्ति होती है। कर्मों से जब पाप नहीं रहते तब ज्ञान होता है। यहां दृष्टान्त कहते हैं कि कोई मनुष्य किसी कार्य के लिए बाहर जाता है तो घोड़ा उसको वहां पहुँचा देता हैं जहां वह जाना चाहता है। फल मिलने में वह घोड़ा कारण नहीं है। इसी प्रकार अधिकारियों के तीन प्रकार के प्रतिबन्ध की निवृत्ति के लिए ही सकाम कर्म उपकारक है। किन्तु भगवत्प्राप्ति कराने वाले ज्ञान में वह कारण नहीं है तो पूर्वतन्त्र की अपेक्षा उत्तर तन्त्र के प्रबल होने से संयोग पृथक्त्व न्याय का बोध हो जाता है। जिससे कर्म में पुण्य जनकता न होने से उनसे जन्म-मरण नहीं होते। इसी अभिप्राय का 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' यह ब्रह्मसूत्र है ॥३५॥

आभास—ननु पञ्चरात्रोक्तकर्मणां भगवदाज्ञया अर्जुनादिभिः कृतानां युद्धादीनां च का गतिः? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—कहते हैं कि पञ्चरात्र में कहे गये कर्मों का और भगवान् की आज्ञा से अर्जुन आदि ने जो युद्ध आदि किये उनका क्या फल है इस पर कहते हैं कि—

श्लोक—**कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयाऽसकृत्।**
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्याऽनुस्मरन्ति च ॥३६॥

श्लोकार्थ—कर्म के निर्णय में कहा गया है कि जो कर्म भगवान् की आज्ञा से करते हैं उनसे भक्ति पैदा होती है। तब वे मनुष्य बार-बार कृष्ण के गुणबोधक नाम लेते हैं और कृष्ण का स्मरण करते हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—कुर्वाणा यत्रेति। यत्र कर्मनिर्णये विषये वा भगवच्छिक्षया कर्म कुर्वाणा भवन्ति तत्कर्म भक्तिजनकं भवतीत्याह। तदा ते पुरुषा असकृत् वारं वारं कृष्णस्य गुणनामानि—पाण्डवरक्षक, द्रौपदीलज्जानिवारक, गोवर्द्धनोद्धरणेत्यादीनि गृणन्ति। अनु पश्चात्स्मरन्ति च कृष्णम्। अतस्तेषां कीर्तनस्मरणभक्तिहेतुत्वात्सर्वोत्कृष्टमेव तत्कर्म। न तेन संसारशङ्काऽपीत्यर्थः ३६

व्याख्यार्थ—जिस कर्म के निर्णय में अथवा कर्म के विषय में जो भगवान् की शिक्षा से कर्म करते हैं वे कर्म भक्ति को उत्पन्न करने वाले होते हैं तब मनुष्य भक्ति होने से बार-बार कृष्ण के गुणबोधक नाम जैसे पाण्डव-रक्षक, द्रौपदी-लज्जा-निवारक, गोवर्द्धनोद्धरण इत्यादि लेते हैं। नाम के साथ कृष्ण का स्मरण करते हैं इसलिए उनके कर्म, कीर्तन और श्रवण भक्ति के कारण होने से सर्वोत्कृष्ट ही है उससे जन्म-मरण की शंका नहीं है ॥३६॥

आभास—यानि पुनः पञ्चरात्रे मन्त्राराधनप्रकारेण पुरश्चरणादीनि कर्माणि तेषां निर्णयमाह द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—फिर जो पञ्चरात्र में मन्त्र के आराधन के प्रकार से पुरश्चरण आदि कर्म कहे गये हैं उनका निर्णय दो श्लोकों से करते हैं—

श्लोक—**नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि ।**
प्रद्युम्नायाऽनिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥३७॥

श्लोकार्थ—आप जो भगवान् वासुदेव रूप हैं उनको नमस्कार करता हूं और ध्यान करता हूं । इसी प्रकार प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा सकर्षण का ध्यान करता हूं और नमन करता हूं ॥३७॥

सुबोधिनी—नमो भगवत इति । इयं हि भगवद्गायत्री नारदोपास्या । **अत्र चतुर्मूर्त्तीनाम**-भिधानम् । धीमहीत्यर्थाच्चतुर्मूर्ति ध्यायेम । तस्य फल चतुर्मूर्त्तिः । तदपि न भोगार्थं **किन्तु नमनार्थम्** । तदपि न परोक्षतया किन्तु प्रत्यक्षतया । चतूरूपस्याऽपि चतूरूपमपि भगवानित्यर्थः । **चकारा**-दन्यान्यपि रूपाणि संगृहीतानि **हयग्रीवादीनि** ॥३७॥

व्याख्यार्थ—यह भगवान् की गायत्री है जिससे नारदजी ने उपासना की थी । इस गायत्री में वासुदेव प्रद्युम्न अनिरुद्ध और सकर्षण ये चतुर्मूर्ति कही गई है । 'धीमहि' का अर्थ यह है कि चतुर्मूर्ति का ध्यान करते हैं । ध्यान करने का फल चतुर्मूर्ति का साक्षात्कार होना है । वह ध्यान भी भोगप्राप्ति के लिए नहीं है किन्तु नमस्कार के लिए है । श्लोक में 'तुभ्यम्' यह पद आया है । तुभ्यम् का प्रयोग उसी के लिए किया जाता है जो प्रत्यक्ष होता है । इसलिए परोक्ष को नमस्कार न कर प्रत्यक्ष होने वाली चतुर्मूर्ति को नमस्कार कहा गया है । चार रूपों का भी चार रूप भगवान् ही है । श्लोकस्थ 'च' कार से अन्यान्य हयग्रीव आदि रूप भी लिये गये हैं ॥३७॥

आभास—अस्या गायत्र्या विनियोगमाह—

आभासार्थ—अब इस गायत्री का उपयोग कहते हैं—

श्लोक—**इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्त्तिममूर्त्तकम् ।**
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ॥३८॥

श्लोकार्थ—इस रूप से मूर्ति के कहने वाले मन्त्र से मन्त्र के अर्थरूप लौकिक मूर्ति रहित यज्ञ पुरुष का भजन करता है वह मनुष्य भगवान् का साक्षात्कार करने वाला होता है ॥३८॥

सुबोधिनी—इतीति । एवंरूपेण मूर्त्यभिधानेन मूर्तिवाचकेन मन्त्रेण करणेन । **मन्त्रमूर्तिः** । मन्त्र एव मूर्त्तिः शरीरं यस्य । मन्त्रार्थरूपम् । **अमूर्त्तकम्** । मन्त्रोक्तव्यतिरिक्तप्राकृतमूर्तिरहितम् । **यज्ञपुरुषम्** । यज्ञानां पुरुषं पतिं यज्ञरूपं पुरुषं वा । यो यजेत जपपूजाहोमादिना स सम्यग्दर्शनो भवति । भगवन्तं साक्षात्करोतीत्यर्थः ॥३८॥

व्याख्यार्थ—वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, संकर्षण इन मूर्तियों को कहने वाले इस रूप के मन्त्र से मन्त्र ही है शरीर जिसका अर्थात् मन्त्र के अर्थरूप जिसकी मन्त्र में कहे गये से अतिरिक्त लौकिक मूर्ति नहीं है ऐसे यज्ञों के पति को अथवा यज्ञरूप पुरुष को जो जप, पूजा, होम आदि से पूजन करता है वह भगवान् का साक्षात्कार करता है ॥३८॥

आभास— अत्र फलं मयैवाऽनुभूतमिति सन्देहाभावायाऽऽह—

आभासार्थ—इसके फल का मैंने ही अनुभव किया है इसलिए मुझे सन्देह नहीं है इस बात को नारदजी कहते हैं—

श्लोक— **इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नवेत्य मदनुष्ठितम् ।**
अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन्भावं च केशवः ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! पूर्वोक्त क्रम से कहे गये आज्ञारूप वेद से प्रतिपादित साधनों को मुझ से किया हुआ जानकर ब्रह्मा एवं रुद्र को सुख देने वाले भगवान् ने ज्ञान ऐश्वर्य और अपने में प्रेम मुझे दिया ॥३९॥

सुबोधिनी—**इमं स्वनिगममिति** । स्वस्य निगमो वेदः । आज्ञेति यावत् । सा आज्ञा मया कृता । यथोक्तः पञ्चरात्रमार्गोऽनुष्ठितः पूर्वकल्प एव । तदा मह्यं ज्ञानं दत्तवान् । ऐश्वर्यं च भक्तिं च । यथा ब्रह्मशिवयोः । तदाह - **केशव इति** । केशयोर्वं सुखं यस्मादिति ॥३९॥

व्याख्यार्थ— प्रभु की वेदरूप आज्ञा का मैंने पालन किया । अर्थात् पूर्वकल्प में ही पञ्चरात्र में कहे गये मार्ग का अनुष्ठान किया तो मुझे अपना तत्वज्ञान ऐश्वर्य एवं भक्ति ब्रह्मा एवं महादेवजी को सुख देने वाले भगवान् ने दी ॥३९॥

आभास—एवं सर्वेषां कर्मणां निर्णय उक्तः इति सर्वमुपपाद्योपसंहरन्निर्द्धारितमुपदेशमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार सब कर्मों का निर्णय कहा । अब उपसंहार करते हुए निर्णीत उपदेश करते हैं—

श्लोक— **त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभोः समाप्यते येन विदाम्बुभुत्सितम् ।**
आख्याहि दुःखैर्मुहुरर्दितात्मनां संक्लेशनिर्वाणमुशन्ति नाऽन्यथा ॥४०॥

श्लोकार्थ— हे बहुश्रुत वेदव्यासजी ! भगवान् के चरित्र को कहिये । जिससे ज्ञानियों की भगवत्स्वरूप ज्ञानेच्छा समाप्त हो जाय । अर्थात् पूरा ज्ञान होने पर इच्छा ही निवृत्त हो जाय और क्लेशाक्रान्त मनुष्य अपने निस्तार का यत्न नहीं कर सकते । अतः क्लेश निवृत्ति के लिए भगवान् के चरित्रों को कहिये ॥४०॥

सुबोधिनी –**त्वमपीति** । यथा मया तस्याऽऽज्ञा परिपालिता तथा त्वमपि परिपालय । आज्ञापरिपालनसामर्थ्यं सिद्धवत्कारेणाऽऽह –**अदभ्रश्रुत इति** । अनल्पं वेदादीनां श्रवणं यस्येति । विभोः विश्रुतं कीर्तिं चरित्रमिति यावत् । मध्ये चरित्रस्य माहात्म्यमाह । येन विश्रुतेन विदां ज्ञानिनां बुभुत्सितं भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा समाप्यते । "**यावान्यश्चाऽस्मि यादृश**" इति बुभुत्सा वा । परमभक्तिं जनयित्वा तज्जननात् । तस्मात्तदाख्याहि । किञ्च । निस्तारार्थं सर्वैर्यत्नः कर्तव्यः । स क्लेशाभिभूतैः कर्तुमशक्य इति क्लेशनिवृत्त्यर्थं चाऽऽख्याहि । आख्यानेनैव दुःखैर्मुहुरर्दितानां संक्लेशनिवारणमुशन्ति सर्वे प्रमाणविदः । अत्र चोपायान्तरं नास्ति क्लिष्टानां क्लेशनाशकम् । तदाह—**नाऽन्यथेति** ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित-
विरचितायां प्रथमस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार मैंने भगवान् की आज्ञा पालन की उसी प्रकार आप भी आज्ञा का पालन करें। आप अदभ्रश्रुत हैं। अर्थात् हे बहुश्रुत! भगवान् के चरित्र को कहें। जिसके सुनने से ज्ञानियों की भगवत्स्वरूप ज्ञानेच्छा समाप्त हो जाती है अर्थात् भगवान् जैसे हैं जितने हैं यह जानने की इच्छा समाप्त हो जाती है। परम भक्ति को पैदा कर इच्छाओं की समाप्ति करती है। इसलिए भगवान् के चरित्रों को कहिये और यह भी है कि अपने निस्तार के लिए सबको प्रयत्न करना चाहिये। वह यत्न क्लेशों से दबे हुए नहीं कर सकते इसलिए क्लेश निवृत्ति के लिए भगवान् के चरित्र कहिये। भगवान् के कीर्तिगान से ही बार-बार दुःखों से घिरे हुए मनुष्यों के दुःखों को निवृत्ति होती है यह बात सब प्रमाणवेत्ता मानते हैं। दुखियों के क्लेश नाश का दूसरा कोई उपाय नहीं है इसी अभिप्राय को 'नान्यथा' पद कहता है ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण प्रथम स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के वक्ता के हृत्प्रसाद प्रकरण का
पञ्चम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत संहिता ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका

हिन्दी अनुवादात्मक व्याख्या सहित

प्रथम स्कन्ध–अधिकार लीला

मध्यम प्रकरण–मध्यम अधिकार

अध्याय—६

❀ नारदजी की भक्ति का स्वरूप ❀

कारिका—**मध्यमेनाऽधिकारेण पदार्था विनिरूपिताः ।**
श्रवणस्य फलं चाऽन्तर्ज्ञानिरूपं प्रदर्शितम् ॥१॥
षष्ठे तु बाह्यं तस्यैव कीर्तनाऽवधि वर्ण्यते ।
बाह्याऽभावे त्वान्तरस्य व्यर्थतेति निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—पांचवें अध्याय में मध्यमाधिकार से पदार्थों का निरूपण किया गया, वहां श्रवण का फल भीतरी ज्ञान होना (जैसा कि नारदजी को परमहंसों से कृष्णकथा सुनने से हुआ वैसा ज्ञान रूप फल) बताया गया। अब इस छठे अध्याय में उसी श्रवण का बाह्य फल जो कीर्तन पर्यन्त है, कहते हैं। क्योंकि बाह्यरूप कीर्तन के अभाव में भीतरी ज्ञानरूप व्यर्थ हो जाता है ॥१॥२॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते "**अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यमि**" त्युक्तम् । तत्र सन्देहः । श्रवणमेव निरूपितमान्तरं ज्ञानञ्च । किं तदानीमेव भगवता ऐश्वर्यं दत्तं कालान्तरे वेति । श्रोतव्यविषयनिरूपकस्य फलकथनार्थं भवति विचारणा । अतः पृच्छतीत्याह—

आभासार्थ – पाँचवें अध्याय के अन्त में "अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यम्' मुझे भगवान् ने ज्ञान और ऐश्वर्य तथा भक्ति दी ऐसा नारदजी ने कहा है। वहाँ सन्देह है। भगवच्चरित्र सुना और आन्तर्ज्ञान हुआ यही निरूपण किया गया है तो श्रवण से क्या भगवान् ने नारदजी को उसी समय ऐश्वर्य दान किया अथवा कालान्तर में। श्रोतव्य विषय जो ऐश्वर्य दानरूप है उसका निरूपण करने वाले नारदजी को हुए फल के कहने के लिए श्रोता को विचार होता है। इसलिए व्यासजी पूछते हैं इस बात को सूतजी कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—एवं निशम्य भगवान् देवर्षेर्जन्म कर्म च।
भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन्व्यासः सत्यवतीसुतः ॥१॥

श्लोकार्थ—सूतजी कहते हैं–हे ब्राह्मणों ! इस प्रकार देवर्षि नारदजी के जन्म और कर्म का श्रवण करके सत्यवतीजी के पुत्र भगवान् व्यासजी ने उन्हें फिर प्रश्न किया ॥१॥

सुबोधिनी—एवमिति। नारदोक्तौ यथार्थत्वमित्यवगतौ हेतुमाह—**भगवानिति**। असम्भावितत्वं निराकरोति—**देवर्षेरिति**। हे **ब्रह्मन्** ! शौनक। भूयःप्रश्नस्तूष्णीम्भावात्। आदराधिक्ये ज्ञात एव विशेषकथनाद्भगवत्कृपया एतावत्त्वं जातमिति कथितेऽपि पुनः प्रश्नः। अनतिप्रयोजनं पृच्छतीति च **सत्यवतीसुत** इत्युक्तम् ॥१॥

व्याख्यार्थ— व्यासजी नारदजी की बात को यथार्थ रूप में समझते हैं इसमें हेतु यह है कि व्यासजी भगवान् हैं इसलिए नारदजी यथार्थ कहते हैं इस बात को समझते हैं। नारदजी की बात को असम्भव नहीं कह सकते। क्योकि देवर्षि है। देवर्षि वही बन सकता है जिसके अत्यन्त उत्कृष्ट कर्म होते हैं। सूतजी ने शौनक के लिए कहा है कि 'हे ब्रह्मन्' आप ब्रह्मरूप हैं इसलिए सभी जानते हैं। इस प्रकार नारदजी अपने जन्म कर्म को सुनाकर चुप हो गये। व्यासजी ने समझा कि नारदजी विशेष आदर करने पर ही विशेष बात कहेंगे इसलिए आदरपूर्वक प्रश्न किया। नारदजी के मन में यह विचार हुआ कि मेरे कथन में व्यासजी का आदर है या नहीं इस बात को जानने के लिए नारदजी चुप हो गये। तब भगवत्कृपा से देवर्षि बना। इस बात के कहने पर भी व्यासजी ने पुनः प्रश्न किया। व्यासजी बिना प्रयोजन के नहीं पूछते क्योंकि वे सत्यवती के पुत्र हैं ॥१॥

आभास—प्रश्नमाह त्रिभिः—

आभासार्थ—तीन श्लोकों से व्यासजी प्रश्न कर रहे हैं—

व्यास उवाच—श्लोक—भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानाऽऽदेष्टृभिस्तव।
वर्तमानो वयस्याद्ये ततः किमकरोद्भवान् ॥२॥
स्वायम्भुव कया वृत्त्या वर्त्तितं ते परं वयः।
कथञ्चेदमुदस्राक्षीः काले प्राप्ते कलेवरम् ॥३॥

प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते सुरसत्तम ।
न ह्येव व्यवधात्काल एष सर्वनिराकृतिः ॥४॥

श्लोकार्थ—व्यासजी कहते हैं कि आपको विज्ञान का उपदेश देने वाले परमहंसों के अन्यत्र चले जाने पर पहली अवस्था वाले अर्थात् बाल्यावस्था वाले वर्तमान आपने क्या किया ? हे ब्रह्मा के पुत्र नारदजी ! किस जीविका से आगे की अवस्था व्यतीत की और इस शरीर को (दासी से पैदा हुए शरीर को) काल प्राप्त होने पर कैसे छोड़ा ? हे देवता तथा भक्तों में श्रेष्ठ नारदजी ! पूर्वकल्प में जो परमहंसों के द्वारा उपदेश हुआ था उसकी स्मृति को काल ने क्यों नहीं नष्ट किया ? क्योंकि यह काल सबको नष्ट करने वाला है ॥२॥३॥४॥

सुबोधिनी - भिक्षुभिरिति । कृतिशरीरत्यागज्ञाननाशाभावाः **ब्रह्मविदो न किञ्चित्कर्तव्यमिति** योगेनैव शरीरत्यागो मोक्ष इति कालस्त्वनतिक्रमणीय इति पृष्टाः । **स्वायम्भुवे**तीदानीन्तनसम्बोधनम् । वृत्तिर्जीविका शरीरनिर्वाहिका । कथमिति योगादिप्रकाराः । चोऽर्थविशेषे । पुनरित्यर्थः । काले प्राप्ते अप्राप्ते वेति प्रश्नः । **इदमिति** । बुद्ध्या पुरः स्थितम् । **वेति** पाठे त्वनादरः । कालजन्यं कालो गृह्णातीति वा आह—**काल इति** । एतां स्मृतिं संस्कारनाशेन पूर्वकल्पविषयेभ्यो व्यवहितां कथं न कृतवान् ! तदेयं स्मृतिः शब्दमूला स्यात् । इदानीं तु प्रत्यक्षमूलेति । देवानां भक्तानामपि सतां स्मृतिं कालो नाशयति । तव तु नेत्याश्चर्येण सम्बोधनम् । अल्पस्याऽप्यभावायैवकारः । कार्यदर्शनाद्युक्तता हिशब्दार्थः । कालमाहात्म्य च प्रत्यक्षसिद्धम् । भगवत्त्वात्कालं साक्षात्कृत्वाऽऽह—**एष इति** । शास्त्रार्थदार्ढ्याद्वा ॥२॥३॥४॥

व्याख्यार्थ— व्यासजी ने कार्य, शरीर त्याग और ज्ञान का नाश न होना पूछा अर्थात् आपने फिर क्या कार्य किया ? कैसे शरीर को छोड़ा ? और पूर्वजन्म के ज्ञान का नाश क्यों नहीं हुआ ? ब्रह्मवेत्ता को कुछ कर्तव्य नहीं रहना काल का अतिक्रमण नहीं हो सकता । इसलिए उसे योग के द्वारा शरीर का त्याग कर मोक्ष प्राप्त करना चाहिये । अतः उक्त तीन प्रश्न किये । श्लोक मे आये 'स्वायम्भुव' यह सम्बोधन इस समय के नारदजी के स्वरूप को बताने वाला है । हे नारदजी ! आपने किस जीविका से आगे की अवस्था को व्यतीत किया ? शरीर छोड़ने का जब समय प्राप्त हुआ तो आपने योगादि में किस प्रकार को अपनाया ? यहां श्लोक मे आया 'च' पुनः अर्थ में है । अर्थात् फिर आपने शरीर को कैसे छोड़ा ? काल के प्राप्त होने पर छोड़ा अथवा पहले ही छोड़ा ? व्यासजी की बुद्धि में नारदजी का पूर्व शरीर आ गया । इसलिए कहा कि यह शरीर । अन्यथा उस शरीर का प्रत्यक्ष न होने से यह शरीर ऐसा कहना युक्त नहीं था । क्योंकि 'इदम्' शब्द का प्रयोग प्रत्यक्ष में ही होता है । यदि 'कथं चेदम्' को जगह 'कथम् वेदम्' यह पाठ मान लिया जाय तो वा शब्द अनादर को कहेगा । जो काल से पैदा होता है । उसे काल खाता है । अर्थात् काल भक्ष्य कह कर अनादर सूचित किया । इसलिए कहा कि 'काल प्राप्ते' वर्तमान में जो आपको पूर्वजन्म का स्मरण है वह दूसरा जन्म होने से संस्कार के नाश होने से कारण कैसे हुआ और पूर्वकल्प के जो विषय हैं बीच में बहुत समय निकलने से काल ने उन विषयों की स्मृति को

नष्ट क्यों नहीं किया ? जब काल से संस्कार नष्ट हो जाते हैं तब कोई शब्द द्वारा कहे तो वह स्मृति होती है। परन्तु यहां वो आपको स्मृति प्रत्यक्ष मूल कही है। अर्थात् शब्द के द्वारा वह स्मृति नहीं हुई। देवताओं की तथा अच्छे भक्तों की स्मृति को भी काल नष्ट कर देता है। आपकी स्मृति नष्ट नहीं हुई यह आश्चर्य है। इसी बात को 'सुरसत्तम्' यह सम्बोधन कहता है। तात्पर्य यह है कि आप देवता तथा सत्पुरुषों में श्रेष्ठ है इसलिए आपको यह स्मृति रही। यह काल पूर्व की स्मृति को बिलकुल नष्ट कर देता है। इसी बात को श्लोकस्थ 'एव' कहता है। श्लोकस्थ 'हि' शब्द का अर्थ है कि यह बात युक्त है क्योंकि आप में स्मृति का कार्य देखा जा रहा है। काल का माहात्म्य तो प्रत्यक्ष ही है। काल के लिए 'एषः' यह कहा है। एषः वहीं कहा जाता है जहां प्रत्यक्ष होता है। वेदव्यासजी भगवान् हैं इसलिए काल को प्रत्यक्ष करके कह रहे हैं अथवा शास्त्रार्थ की दृढ़ता होने से यह कहा है कि 'यह काल' जिसे शास्त्रों ने सर्वनाशक बताया है। २॥३॥४॥

आभास—प्रथमप्रश्ने उत्तरमाह **भिक्षुभिरित्यादिना एवं कृष्णमतेरित्यन्तेन**—

आभासार्थ - तुमने परमहंसों के चले जाने पर क्या किया ? इस वेदव्यासजी के **प्रश्न** का उत्तर देते हुए नारदजी 'भिक्षुभिर्विप्रवसिते' से लेकर 'एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्' तक कहते हैं—

नारद उवाच—श्लोक— **भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानाऽऽदेष्टृभिर्मम।**
वर्तमानो वयस्याद्ये तत एतदकारषम् ॥५॥

श्लोकार्थ—नारदजी कहते हैं कि विज्ञान का उपदेश देने वाले परमहंसों के दूर देश में चले जाने पर पहली अवस्था में वर्तमान मैंने यह किया। जो आगे कहा जायगा वह किया ॥५॥

सुबोधिनी—ब्रह्मविदोऽपि भगवदर्थं यत्नः कर्तव्यः। दृष्टे च भगवति तदाज्ञा कर्तव्येति। अनुवादस्तत्प्रीतये। सर्वाविधारणात्। **एतदिति**। वक्ष्यमाणम् ॥५॥

व्याख्यार्थ– ब्रह्मज्ञानियों को भी भगवान् के लिए प्रयत्न करना चाहिये और भगवान् का साक्षात्कार होने पर उनकी आज्ञा का पालन तथा उनको प्रीति के लिए गुणों का अनुवाद (वर्णन) करना चाहिये। क्योंकि क्या ठीक है, क्या ठीक नहीं है उसका निश्चय उसीसे होता है। श्लोकस्थ 'एतत्' पद का आशय जो मैं आगे कह रहा हूं, वही किया ॥५॥

आभास– त्रिभिः प्रतिबन्धकतामेकेनाऽभावं चाऽऽह। भगवाननुगुणश्चेदग्रिमाऽवस्था सम्पादनीयेति। नाऽन्यथा। नारदस्तु भगवत्प्रतीक्षया स्थित इत्याह त्रिभिः—

आभासार्थ—नारदजी तीन श्लोकों से बाधक का निरूपण करते हैं और एक श्लोक से बाधा नही रही यह कहते हैं। भगवान् यदि अनुकूल हो तभी आगे का कार्य करना चाहिये अर्थात् भगवान् के साक्षात्कार के लिए यत्न करना ठीक है अन्यथा नहीं। अनुकूलता में जब सन्देह हो तब क्या करना चाहिये यह कहते हैं—

कारिका—**अन्यासक्तिस्तु यत्रैव तत्स्वार्थं नैव योजयेत् ।**
भगवान्वा प्रतीक्ष्योऽत्र यत्नं वा तादृशं भजेत् ।

कारिकार्थ— जिन देहादि में माता आदि अन्य की आसक्ति हो तो उनको अपने कल्याण के लिए नहीं लगाना चाहिये वहां भगवान् क्या करते हैं यह प्रतीक्षा करनी चाहिये अथवा ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे भगवान् अनुकूल हो । नारदजी भगवान् क्या करते हैं इस प्रतीक्षा में रहे । इसी बात को तीन श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**एकात्मजा मे जननी योषिन्मूढा च किङ्करी ।**
मय्यात्मजेऽनन्यगतौ चक्रे स्नेहानुबन्धनम् ।।६।।
साऽस्वतन्त्रा न कल्पाऽऽसीद्योगक्षेमं ममेच्छती ।
ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा ।।७।।
अहं च तद्ब्रह्मकुले ऊषिवांस्तदवेक्षया ।
दिग्देशकालाव्युत्पन्नो बालकः पञ्चहायनः ।।८।।

श्लोकार्थ—एक ही मैं उसका पुत्र था । ऐसी वह पैदा करने वाली थी । स्त्रियों में मूर्ख तथा दासी होने के कारण काम में लगी रहती थी । इसलिए उसको उपदेश प्राप्त नहीं था । पुत्र होने से उसका स्वाभाविक प्रेम था । दूसरा कोई आश्रय न होने से कारण वश स्नेह था । स्नेह से ही उसके अन्तःकरण का बन्धन था । वह स्वतन्त्र नहीं थी । इसलिए मेरी योगसभा चाहती हुई भी नहीं कर सकती थी । क्योंकि सभी लोक ईश्वर अथवा काल के अधीन है, जैसे कठपुतली नचाने वाले के अधीन होती है । मैं पाँच वर्ष का बालक दिशा देश एवं काल से अनभिज्ञ माता से होने वाली बाधा न रहने की प्रतीक्षा करता हुआ ब्राह्मणों के आश्रय में रहा ।।६—८।।

सुबोधिनी— एकात्मजेति । एक एव आत्मजो यस्याः सा । आसक्त्याधिक्ये हेतुः— **मे जननीति** । पूर्वावस्थां स्मृत्वा जनयित्री । योषितामपि मध्ये मूढा । उपदेशाभावायोक्तम् । **किङ्करीत्यु**-पदेशावसराभावः सूचितः । **आत्मजे अनन्यगताविति** स्वाभाविकौपाधिकहेतू स्नेहस्य निरूपितौ । स्नेहेन अनु पश्चादात्मनो बन्धनं स्नेहानुबन्धनम् । तत्र स्नेहाऽनुबन्धनमेव जातं न तत्कार्यम् । अन्यथा विषयेण ममाऽपि बन्धः स्यादित्यभिप्रायेणाऽऽह । सा माता । अस्वतन्त्रा स्वाम्यधीना । अत एव न कल्पा मम योगक्षेमादौ न समर्था । कुण्डलादौ योगः । प्राप्तस्य परिपालनं क्षेमः । ब्रह्मविदः सर्वदेवतासान्निधानेन कथं न योगक्षेमप्राप्तिः ? तत्राऽऽह—**ईशस्य हि वशे लोक इति** । "**मत्त एव पृथग्विधा**" इति प्रमाणं हिशब्देन सूचितम् । ईशस्य भगवतः कालस्य वा । यथा स्त्रीप्रतिमा कुहकेच्छया नृत्यति एवं सर्वोऽपि लोकश्चेष्टते इति भगवज्ज्ञानवतो बुद्धिः । कालपक्षेऽपि तथा । कर्म-

भूतभौतिकपक्षे त्वन्यथा । तदग्रे वक्ष्यामः । यथा योषित्पुत्तलिकां कुहकोऽपि न स्वातन्त्र्यादिधर्मयुक्तां करोति तथा भगवानपि जीवान् । तदाह--**योषेति । अहं चेति** चकाराद्यथा माता ईश्वराधीना तथाऽहमपि । भिन्नतया ग्रहणं विशेषतस्तदधीनत्वात् । तद्ब्रह्मकुले स्वामिब्राह्मणानां कुले । अनेनाऽन्नादेर्दोषो निवारितः । तदवेक्षया मातृकृतप्रतिबन्धकाभावावेक्षया । **दिशः** पूर्वादयः । **देशः** स्वदेशादिः । **काला** दिनरात्रिप्रभृतयः । तेन क्व स्थातव्यं कदा प्रस्थातव्यमिति विवेकरहितः अनेन लौकिकापरिज्ञानम् । अतस्तेनाऽपि न बन्धात्मविस्मरणे । **बालक इति** विषयसम्बन्धाभावः । **पञ्चहायन** इत्यपराधीनता च ।।६।।७।।८।।

व्याख्यार्थ—मेरी माता के मैं ही एक पुत्र था । उसकी आसक्ति मेरे में अधिक थी । इसमें कारण यह था कि मुझे उत्पन्न करने वाली थी । यद्यपि इस समय वह जननी नहीं है परन्तु पूर्व जन्म की अवस्था को याद कर नारदजी ने जननी कही । वह मेरी माता स्त्रियों में मूर्ख थी इसलिए उसे उपदेश भी प्राप्त नहीं था और वह दासी थी । इसलिए उनकी सेवा से अवकाश न मिलने के कारण उपदेश का अवसर नहीं मिला । क्योंकि वह दासी हो जैसे निरन्तर सेवा में लगी रहती थी । स्नेह में दो कारण होते हैं-एक स्वाभाविक (कारणवश) और दूसरा औपाधिक । मैं पुत्र था । पुत्र में स्वाभाविक स्नेह होता है इसलिए स्वाभाविक स्नेह था । दूसरा मेरा कोई आश्रय नहीं था इस कारण से औपाधिक स्नेह भी था । स्नेह से वह मेरे साथ बंधी हुई थी । किन्तु उस स्नेहानुबन्ध का कुछ कार्य नहीं हुआ । अन्यथा उसके द्वारा विषयों की प्राप्ति होने पर मेरा भी बन्धन हो जाता । इसी अभिप्राय से 'सा' यह कहा । वह स्वामी के अधीन थी । इसलिए मेरे योगक्षेम में समर्थ नहीं थी । जो प्राप्त नहीं है उसको प्राप्त करना योग है और प्राप्त हुए का परिपालन करना क्षेम है । वह माता स्वामी के अधीन होने से मेरे लिए अप्राप्त की प्राप्ति नहीं करा सकती थी और प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा नहीं कर सकती थी । अर्थात् वह मेरे योगक्षेम में असमर्थ थी ।

शङ्का करते हैं कि नारदजी ब्रह्मज्ञानी थे । जो ब्रह्मज्ञानी होता है उसमें सम्पूर्ण देवताओं का सन्निधान हो जाता है । फिर नारदजी को योगक्षेम की प्राप्ति क्यों नहीं हुई ? इस आशङ्का पर कहते हैं कि 'ईशस्य हि वशे लोकः' भगवान् जो देता है वही मिलता है क्योंकि लोक भगवान् के वश में है । यहां 'हि' शब्द निश्चयार्थक है अर्थात् 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।' इस भगवद्वाक्य से यह निश्चय है कि जो कुछ होता है, भगवान् से ही होता है ।।६।।७।।८।।

आभास—भगवताऽपि किञ्चिद्विवेकार्थमेतावत्काल प्रतिबन्धः स्थापितः । जाते तु विवेक तं दूरीकृतवानित्याह—

आभासार्थ—नारदजी को कुछ विवेक हो जाय इसलिए भगवान् ने इतने समय तक प्रतिबन्ध रखा । जब विवेक हो गया तब भगवान् ने प्रतिबन्ध दूर कर दिया—

श्लोक—**एकदा निर्गतां गेहाद्दुहन्तीं निशि गां पथि ।**
सर्पोऽदशत् पदा स्पृष्टः कृपणां कालचोदितः ।।९।।

श्लोकार्थ—जब सब गृहस्थ अपने-अपने काम में लग रहे थे उस समय वह मेरी माता रात्रि में घर से निकली। गाय दुह रही थी कि मार्ग में स्थित काल से प्रेरित सर्प ने पैर का स्पर्श होने पर उस दीन को डस लिया ॥९॥

सुबोधिनी—**एकदेति**। यदा सर्वेऽपि गृहस्था. स्वस्वकार्ये व्यापृताः। **गेहान्निर्गतामिति** गृहान्निर्हरणक्लेशोऽपि निवारितः। शुद्धिश्च गोस्पर्शे। **दुहन्तीमिति** सत्क्रियाव्यापृतत्वम्। पथि स्थितः सर्पो भगवत्प्रेरणया समागतः। भगवत्कृतत्वज्ञापनाय **पदा स्पृष्ट** इति तस्य। अपराध उक्तः। वस्तुतस्तस्या अपि न दोषो न वा तस्येत्याह—**कालचोदित इति**। कालादयो भगवदिच्छानुसारेण कार्यकर्तारः ॥९॥

व्याख्यार्थ—एकदा का अर्थ है एक समय जब गृहस्थ अपने अपने काम में लगे हुए थे। 'गेहन्निर्गतां' का अभिप्राय यह है कि नारदजी को उसे घर से उठाकर ले जाने का परिश्रम भी न करना पड़ा। उसकी शुद्धि तो दुहने के समय गाय का स्पर्श होने से ही हो गई थी। गाय का दुहना अच्छी क्रिया है उसमें वह लगी हुई थी। सर्प रास्ते में था वह भगवान् की प्रेरणा से वहां आ गया पैर से साँप का स्पर्श रूप अपराध भी उससे भगवान् ने ही कराया। वास्तव में तो न नारदजी की माता का दोष था और न सर्प का यह सब काल की प्रेरणा से हुआ। काल आदि भी भगवान् की इच्छा के अनुसार ही कार्य करते हैं ॥९॥

आभास—मयाऽपि स भगवदुपकार इति ज्ञात्वा तथैव कृतमित्याह—

आभासार्थ—नारदजी कहते हैं कि मैंने भी इसे भगवान् का उपकार समझा और वैसा ही किया—

श्लोक— **तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः।**
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—तब मैं माता के मरने को भक्तों का सुख चाहने वाले भगवान् का अनुग्रह मानते हुए उत्तर दिशा की ओर चल दिया ॥१०॥

सुबोधिनी—**तदा तदहमिति**। सर्वदा हि भगवान् भक्तानामेव कल्याणमीष्टे। तथापि कदाचित्प्रतिबन्धकानामप्यात्मत्वान्न दूरीकरोति। यदि तदपि कुर्यात्तदा महाननुग्रहोऽयमिति ज्ञात्वा चिकीर्षिते न विलम्बः कर्तव्य इत्यभिप्रायेणाऽऽह—**अनुग्रहं मन्यमान इति**। **उत्तरामिति**—"**एषा वै देवमनुष्याणां शान्ता दिगि**"ति श्रुतेर्भगवत्कृते न प्रतिबन्ध इति ज्ञापयितुम् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् हर समय भक्तों का ही कल्याण चाहते हैं। तथापि कदाचित् प्रतिबन्धकों को आत्मरूप होने से उन्हें हटाते नहीं। यदि प्रतिबन्धकों को भी हटा दें तो यह महान् अनुग्रह है ऐसा जानकर किये जाने वाले काम में देरी नहीं करनी चाहिये इस अभिप्राय से नारद जी कहते हैं कि 'अनुग्रहं मन्यमानः' इसमें भगवान् का अनुग्रह मानता हुआ उत्तर दिशा की ओर चला

गया। यह उत्तर दिशा देवता और मनुष्यों की शान्त दिशा है। 'एषा वै देवमनुष्याणां शान्तादिक्' ऐसा श्रुति का कथन है। भगवान् के लिए उस दिशा में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता ऐसा बताने के लिए ही उत्तर दिशा को ओर जाना कहा ॥१०॥

आभास—भूजलद्रुमाऽतिक्रममाह **स्फोतानिति** सार्द्धद्वाभ्याम् —

आभासार्थ—नारदजी ने जिन भूभागों को, जलाशयों को और वृक्षों को पार किया था उनका वर्णन ढाई श्लोकों में करते हैं –

श्लोक—**स्फोताञ्जनपदांस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान् ।**
खेटखर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च ॥११॥

श्लोकार्थ—सस्य (धान्य) आदि से सम्पन्न देश, बड़े-बड़े नगर, छोटे गांव, गायों के स्थान, नमक आदि की खानें, किसानों के खेड़े, अग्निहोत्रियों के स्थान, पुष्प वाटिकायें, वन एवं उपवन तथा खलिहानों का अतिक्रमण किया ॥११॥

सुबोधिनी—तत्रैकेन भूमिविशेषानाह—स्फीतान् सस्यादियुक्तान् । जनपदान् मालवादोन् । पुराणि नगरात्स्थूलानि । ग्रामाः सूक्ष्मावासाः । व्रजा गवां स्थानानि । आकरा लवणादोनाम् । खेटाः कृषीवलग्रामाः । खर्वटा अग्निहोतृणाम् । एकतो नदी अपरतः पर्वतास्तादृशाः । वाटीः पुष्पादिवाट्यः । वनानि मध्यस्थानानि सहजानि । उपवनानि आरोपितवृक्षाणाम् । चकारात्खलादानि ॥११॥

व्याख्यार्थ—उनमें एक श्लोक से भूमि विशेष का कथन करते हैं । स्फीत कहते हैं धान्य आदि से सम्पन्न । जनपद से मालव आदि प्रदेश । नगर से जो बड़े होते हैं उन्हें पुर कहते हैं । छोटी बस्तिएं गांव कहलाती हैं । गायों की गोशालाएं व्रज कहलाती हैं । आकर नमक आदि की खानें । किसानों के ग्राम खेट कहे जाते हैं । अग्निहोत्रियों के निवास खवट कहलाते हैं जिनमें एक ओर नदी और दूसरी ओर पवत होते हैं । जो गांव के मध्य में सहज भूमि होती है उन्हें वन कहते हैं और जिनमें वृक्ष लगाये जाते हैं वे उपवन कहलाते हैं । 'च' से खलिहान आदि ॥११॥

श्लोक—**चित्रधातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजद्रुमान् ।**
जलाशयान् शिवजलान्नलिनीः सुरसेविताः ।
चित्रस्वनैः पत्ररथैर्विभ्रमद्भ्रमरश्रियः ॥१२॥

श्लोकार्थ—जिनकी शाखाएं हाथियों ने तोड़ दी है ऐसे वृक्षों वाले रंग-बिरगे धातुओं से विचित्र दीखने वाले पर्वतों का अच्छे जल वाले बड़े-बड़े जलाशयों का, कमल आदि से युक्त अपने आप बने हुए सरोवरों का, देवालय आदि से युक्त नाना प्रकार के शब्द करने वाले पक्षियों के साथ विशेष रूप से भ्रमण करने वाले भौरों की शोभा से युक्त स्थानों का अतिक्रमण किया ॥१२॥

सुबोधिनी- वृक्षसहितपर्वतानामतिक्रममाह । चित्रैर्धातुभिर्विचित्रानद्रीन् । तेषामेव विशेषणम् – इभैभग्ना भुजा येषां तादृशा द्रुमा येषामिति । रागभयनिमित्ते उक्ते । विश्रामनिमित्तानि जलान्याह । जलाशयान् महापुष्करिणो: । तेषामेव विशेषणम्—शिवजलान् । शीतल रोगाद्यनुत्पादकं जलं शिवम् । नलिनी: कमलादियुक्तदेवखाता: । सुरसेविता देवालयादिसहिता: । आश्चर्यरसायाऽऽह । चित्र: स्वनो येषां तादृशैः पक्षिभि: सह विशेषभ्रमणयुक्तानां भ्रमराणां श्रियो यासु ता: ॥१२॥

व्याख्यार्थ—वृक्ष सहित पर्वतों का अतिक्रम बताते हैं। विचित्र धातुओं से विविध प्रकार के रंगों वाले पर्वत जिन पर हाथियों के द्वारा तोड़ी गई शाखा वाले वृक्ष थे जिससे उन पर्वतों को देख कर रग से सुन्दरता और वृक्षों से भय उत्पन्न होता था। विश्राम करने के लिए जलाशय थे जिनमें रोग आदि को उत्पन्न न करने वाला ठण्डा जल भरा हुआ था और जिनमें कमल खिले हुए हैं ऐसे स्वाभाविक जलाशय भी थे। उनके पास ही देवताओं के मन्दिर भी थे। विचित्र प्रकार के पक्षियों के स्वर के साथ हो विशेष रूप से घूमने वाले भ्रमरों की शोभा भी आश्चर्यजनक थी।।१३॥

आभास—एवमनूद्य तेषामतिक्रमणमाह—

आभासार्थ—भूभाग-जल-वृक्षों का निरूपण करके अब उनका अतिक्रमण बताते हैं—

श्लोक—**नलवेणुशरस्तम्बकुशकीचकगह्वरम् ।**
एक एवाऽतियातोऽहमद्राक्षं विपिनं महत् ।
घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाजिरम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—नलबांस, बांस, सरगंडे, कुश, छेद वाले बांसों से अत्यन्त गहन तथा जो सर्प, उल्लू एव सियारों का आंगन घर ही था ऐसे अति भयकर महान् वन को अकेले ही जाते हुए मैंने देखा ॥१३॥

सुबोधिनी—नलवेणुशरस्तम्बेति । नलवेणुशराणां स्तम्बा: कुशा: कीचका: सरन्ध्रा: स्थूला वेणवस्तैर्गह्वर महद्वनमेक एवाऽतियातोऽहम् । कियद्देशातिक्रमोऽत्र विवक्षित: । अथवा । पूर्वोक्तानामेवाऽतिक्रम: । पूर्वोक्तानतियातोऽहम् । पूर्व पथिका अप्यन्ये स्थितास्तत्र तत्र । घोरं महद्विपिनं तु एक एव अद्राक्षम् । तस्य भयजनकत्वेऽपि न मम भयं जातमित्याशयेनाऽऽह । घोर व्याघ्रविदारितमांसादिभि: । भयस्याऽपि प्रतिभयजनक आकारो यस्य । व्याघ्रादयोऽपि ततो भीता भवन्तीत्यर्थ: । मध्ये अवृक्षदेशोऽपि भयानक इत्याह । **व्यालोलूकशिवाजिरम्** । व्याला: सर्पा, उलूका दिवाभीता: शिवा: शृगालास्तेषामङ्गणत्वेन तद्भक्षितमांसादियुक्तम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—नलबांस, बांस तथा सरगंडे से घना तथा कुश और छेद वाले मोटे बांसों की गुफाओं से युक्त महान् वन में मैं अकेला ही गया। कुछ देश का अतिक्रम ही यहां कहा गया है। अथवा पूर्व में बताये गये का अतिक्रम किया। पहले जिस भूभाग का निरूपण किया उसमें तो रास्ता चलने वाले अथवा उनमें रहने वाले भी जहां तहां मिलते थे किन्तु इस भयावने वन को तो

केवल मैंने अकेले ने ही देखा। उस भयङ्कर वन को देखकर भी मुझे भय नहीं हुआ उसे कहते हैं। भयङ्कर बाघों से चीरे हुए मांसों को भी मैंने देखा और जिन बाघों को देखकर सब डर जाते हैं वे बाघ भी उस वन को देखकर डरते हैं। मध्य में जहां वृक्ष नहीं थे वह स्थान भी भयानक था। वहां पर सांपों, उल्लुओं और सियारों ने अपना घर बना रखा था और उनके खाने से बचे हुए मांस बिखरे पड़े थे। १३॥

श्लोक—**परिश्रान्तेन्द्रियात्माऽहं तृट्परीतो बुभुक्षितः।**
स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्या उपस्पृष्टो गतव्यथः ॥१४॥
तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आश्रितः।
आत्मनाऽऽत्मानमात्मस्थं यथाश्रुतमचिन्तयम् ॥१५॥
ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥१६॥

श्लोकार्थ—चलते-चलते मेरा शरीर, अन्तःकरण और इन्द्रियां शिथिल हो गई। मुझे जोर की प्यास और भूख लगी। वहां एक नदी मिली उसके ह्रद में मैंने स्नान, जलपान और आचमन किया इससे मेरी थकावट मिट गई। उस निर्जन वन में एक पीपल के नीचे मैं आसन लगाकर बैठ गया। उन महात्माओं से जैसा मैंने सुना था। हृदय में रहने वाले परमात्मा के उसी स्वरूप का मैं मन ही मन ध्यान करने लगा। भक्तिभाव से वशीकृत चित्त द्वारा भगवान् के चरण कमलों का ध्यान करते ही भगवत्प्राप्ति की उत्कट लालसा से मेरे नेत्रों में आंसू भर आये और धीरे-धीरे भगवान् प्रकट हो गये ॥१४॥१५॥१६॥

सुबोधिनी—पूर्वं भगवच्चिन्तनेन गतस्याऽप्यतिभयानकदर्शनाद्बहिर्मुखत्वे जाते **परिश्रान्तेन्द्रियात्मा** परितः श्रान्तानि इन्द्रियाणि आत्मा देहश्च यस्य। तथा तृट्परीतो बुभुक्षितश्च जातः। कस्याश्चिन्नद्याः पार्वत्याः कुण्डभूतो ह्रदः। स वृक्षादिना शीतलो भवति। तत्र स्नात्वा पीत्वा च पुनरात्मचिन्तनार्थमुपस्पृष्ट आचम्य। चिन्तनमात्रेणैवाऽन्तःकरणक्लेशनिवृत्तिः। देहेन्द्रियाणां च स्नानपानादिना। एवं सावधानो भूत्वा मनुष्यसम्बन्धाभावमात्रेण कोलाहलपापादिसम्बन्धाभावादुत्तमदेशारण्ये तत्राऽपि पिप्पलोपस्थे आश्रितः पश्चाद्भागेन वृक्षस्पर्शी आत्मानमचिन्तयम् **कोऽहमिति**। तथाच तस्मिन्नात्मत्वेन ज्ञाते केनाऽहमेतादृशो भास इत्याकांक्षायां स्वेनैव स्वप्रकाशेनैव आत्मना। एवं स्वप्रकाशात्मज्ञानानन्तरं पुनर्गूढोपदेशस्मरणेन यस्याऽहमात्मा पीठभूतः स कोऽयमिति जिज्ञासायामात्मन्येव प्रकाशमानं भगवन्तं दृष्टवान्। सा तु चिन्तनया मानसी मूर्त्तिः। **यथाश्रुतमिति** वचनात्। तस्मिश्चिन्तनायामारब्धायां भक्तिरुत्पन्ना। तस्यामुत्पन्नायां चरणाम्भोजध्यानमारब्धम्। ततश्चरणाम्भोजं भक्त्या निर्जितचेतसा ध्यायतो भक्त्यानन्दः पूर्णो जातः। तेन प्रेमौत्कण्ठ्यादानन्दाश्रुप्रभृतयो जाताः। तत औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृदये सर्वथा बहिर्दर्शनाभावे चिन्तनानुवृत्त्यर्थं भगवान् शनैराविरासीत् ॥१४॥१५॥१६॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि पहले भगवान् का चिन्तन करते हुए जा रहे थे परन्तु अत्यन्त भयावने वन को देखने से बहिर्मुखता हो गई। भगवान् का ध्यान जाता रहा। तब शरीर, इन्द्रियां और अन्तःकरण शिथिल हो गये तथा प्यास और भूख भी लग गई। किसी पर्वतीय नदी का कुण्ड सदृश ह्रद था वह वृक्ष आदि के कारण ठंडा होता ही है। उसमें स्नान किया तथा जलपान किया और फिर आत्म चिन्तन के लिए आचमन किया आत्म चिन्तन करते ही अन्तःकरण के क्लेश को निवृत्ति हो गई और स्नान तथा जलपान से देह और इन्द्रियों का क्लेश मिट गया। इस तरह सावधान होकर वन की निर्जनता के कारण वहां कोई हल्लागुल्ला या पाप आदि का सम्बन्ध तो था ही नहीं ऐसे उस वन में वहां भी पीपल के वृक्ष का पीठ के द्वारा सहारा लेकर आत्मा का चिन्तन किया। मैं कौन हूँ तब मैं आत्मा हूं ऐसा ज्ञान हुआ तदनन्तर मैं इस तरह किससे भासित हो रहा हूं ऐसी जिज्ञासा हुई तो यह समझ मे आया कि स्वयं प्रकाश अपनी आत्मा से ही मैं प्रकाशित हूँ इस तरह स्वप्रकाशरूप आत्मज्ञान के अनन्तर फिर गूढ उपदेश के स्मरण से जिसकी मैं आत्मा हूँ उस आत्मा का आश्रयभूत वह कौन है ऐसी जब जिज्ञासा हुई तो आत्मा में ही प्रकाशमान भगवान् के दर्शन किये। जैसा मैंने सुना था उसी का चिन्तन किया तो वैसो ही मानसी मूर्ति मेरे हृदय में आ गई। जब उसका चिन्तन आरम्भ किया तो उसमें मेरी भक्ति उत्पन्न हो गई। भक्ति उत्पन्न होने के अनन्तर भगवान् के चरण कमलों का ध्यान आरम्भ किया। चित्त को एकाग्र करके भक्तिपूर्वक चरणारविन्द का ध्यान करने से भक्त्यानन्द पूर्ण हो गया। भक्त्यानन्द के पूर्ण हो जाने से प्रेम और उत्कण्ठा के कारण आनन्द के अश्रु रोमाञ्च आदि हो गये। उत्कण्ठा के कारण नेत्र अश्रुओं से पूर्ण हो गये तब बाहर का देखना सर्वथा बन्द हो गया तब चिन्तन की अनुवृत्ति बराबर बनी रहे इसके लिए हृदय में शनैः शनैः भगवान् प्रकट हो गये ।।१४।।१५।।१६।।

आभास—मानसकल्पितमूर्ताविभ्यन्तराद्भगवदाविर्भावे मानसाविर्भूतयोरैक्ये यज्जात तदाह—

आभासार्थ—मन के द्वारा कल्पित मूर्ति के अन्दर से ही भगवान् का आविर्भाव होने पर उस मानसिक मूर्ति के साथ आविर्भूत भगवान् की एकता होने पर जो हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक — **प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।**
आनन्दसम्प्लुवे लीनो नाऽपश्यमुभयं मुने ।।१७।।
रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम् ।
अपश्यन्सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद्दुर्मना इव ।।१८।।

श्लोकार्थ—हे व्यासजी ! उस समय प्रेमभाव के अत्यन्त उद्रेक से मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा। हृदय अत्यन्त शान्त और शीतल हो गया। उस आनन्द की बाढ में मैं ऐसा डूब गया कि मुझे अपना और ध्येय वस्तु का भान न रहा। भगवान् का वह रूप समस्त शोकों का नाश करने वाला और मन के लिए अत्यन्त लुभावना

था। सहसा उसे न देख मैं अत्यन्त विकल हो गया। दुःखित मन वाले की तरह होकर आसन से उठ खड़ा हुआ ॥१७॥१८॥

सुबोधिनी—प्रेमातिभरेति। अयं हि भगवत्साक्षात्कारः। एवमेव ब्रह्मसाक्षात्कारोऽपि। यथा गङ्गाजले देवतारूपाया गङ्गाया ध्याने क्रियमाणे साक्षाद्भगवत्पदी यद्याविर्भवति तथा सर्वेषामात्मनामात्मभूते आत्मस्थे भगवति ध्यायमाने साक्षाद्भगवत आविर्भावश्चेत्स्वतस्तत्र स्थिरीभूते प्रवेशः सायुज्यम्। यथा जलस्य देवतायां प्रवेशे नदी शुष्यति तथा जीवो ब्रह्म सम्पद्यते। एवमाविर्भूते भगवति सान्निध्यात्परमप्रेम जातम्। तस्य प्रेम्णोऽतिभरो महापूरः। सान्निध्यलक्षणानामुत्तरोत्तरमत्युत्कृष्टत्वात्तेन पूरेण निर्भिन्नाः पुलका रोमाञ्चा यस्य। रोमकूपद्वारा बहिर्निगत इत्यर्थः। एवं सर्वाङ्ग आनन्दे पूर्णे परमा निर्वृतिर्जाता। शान्तानन्दमयो जात इत्यर्थः। स च पुनरानन्दसम्प्लवे ?। गङ्गात एवोद्धृत कलशजल पुनर्गङ्गायां प्रक्षिप्तं सत् गंगैव भवति तथा आनन्दसम्प्लवे लीनः। तदा आत्मानं भगवन्तं च उभयं नाऽपश्यम्। हे मुने इति सम्बोधनं संवादार्थम्। कदाचिन्मुनीनामेवं भवतीति। आनन्दे चैतन्यभावः प्रविष्टो न चित्त्वेन स्फुरित इत्यर्थः। ततो भगवदिच्छया भगवति तिरोभूते स्वस्याऽप्यानन्दांशे तिरोभूते मानस्यपि मूर्त्तिस्तिरोभूता। बलवता ह्यभिभवात्। तदा भगवतो रूपं मनसोभर्तृत्वेन प्रकाशमानं सर्वदुःखनाशकमपश्यन् क्वचिदितो गत इति बुद्ध्या सहसोत्तस्थे उत्थितवानस्मि। नन्वन्तःपदार्थस्य कुतो बहिर्गमनसम्भावना ? तत्राऽऽह। वैक्लव्यात्। विक्लवतया न स्फुरितमित्यर्थः। विकलता हि सर्वविस्मारिका। किञ्च। दुर्मना इव जातः। दुर्गतं मनो यस्य। यथा सर्वस्वनाशे सर्वस्वाविष्टं चित्तं नष्टमिव भवति, तथा भगवन्मूर्त्तौ तस्य चित्तं जातमिति दुष्टत्वम्। १७।१८।

व्याख्यार्थ—जिस तरह यह भगवत्साक्षात्कार हुआ उसी तरह ब्रह्म साक्षात्कार भी होता है। जिस तरह गङ्गाजल में देवता रूप गङ्गा का ध्यान करने पर साक्षात् गङ्गा यदि प्रकट होती है उसी तरह सभी आत्माओं के आत्मभूत आत्मस्थ भगवान् का ध्यान करने पर साक्षात् भगवान् का आविर्भाव यदि होता है तो स्वतः उसमें स्थिर हो जाने पर उसमें प्रवेश तथा सायुज्य हो जाता है। जैसे जल का देवता में प्रवेश हो जाने पर नदी सूख जाती है उसी तरह जीव ब्रह्म हो जाता है। अतएव आविर्भूत भगवान में सान्निध्य के कारण उत्कट प्रेम हो गया। उस प्रेम की बाढ़ आ गई थी। हृदय में भगवान् की सान्निधि के लक्षण उत्तरोत्तर बढ़ते गये। अतः उस प्रेम के पूर से शरीर में रोमाञ्च हो गये अर्थात् प्रेम रोमकूपों द्वारा बाहर प्रकट हो गया। इस तरह सर्वाङ्ग आनन्द से पूर्ण हो गया जिससे उन्हें अत्यन्त सन्तोष हो गया। अर्थात् नारदजी शान्तानन्दमय हो गये। जैसे गङ्गाजी के जल से घड़ा भरकर उस जल को फिर गङ्गाजी में डाल दिया जाय तो जैसे वह जल गङ्गा ही हो जाता है उसी तरह नारदजी को पहले तो स्वयं का तथा भगवान् का अलग अलग ज्ञान था परन्तु आनन्द की बाढ़ आ जाने पर तो नारदजी को स्वयं का और भगवान् का दोनों ही का अलग-अलग ज्ञान जाता रहा। हे मुने! ऐसा सम्बोधन स्वय का अनुभव बताने के लिए दिया है अर्थात् मुनियों को कदाचित् ऐसा अनुभव हुआ करता है। आनन्द में चैतन्य भाव प्रविष्ट हो गया आनन्द चैतन्य रूप से स्फुरित नहीं हुआ यह इसका अभिप्राय है। इसके बाद भगवान् की इच्छा से हृदय से भगवान् के तिरोहित हो जाने पर अपना आनन्द भी तिरोहित हो गया और आनन्दांश के तिरोहित होने पर वह मानसी मूर्ति भी तिरोहित हो गई। ऐसी जबरदस्त चोट के कारण भगवान्

का रूप जो मन के भर्त्ता रूप से प्रकाशमान था और जो सब दु:खों का नाश करने वाला था उसे न देखकर क्या इधर गये हैं या इधर गये हैं इस बुद्धि से सहसा मैं उठकर खड़ा हो गया । यदि शंका हो कि जो पदार्थ हृदय के अन्दर है उसके बाहर जाने की सम्भावना ही नारदजी को कैसे हुई उसका कारण यह है कि नारदजी इतने घबरा गये थे कि वे ऐसा सोच ही न सके कि भीतर का पदार्थ बाहर कैसे जा सकता है क्योंकि विकलता सब समझ को भुला देती है । तब वे उदास से हो गये । जैसे किसी का सर्वस्व नष्ट हो जाय तो सर्वस्व में आविष्ट चित्त नष्ट सा हो जाता है । उसी तरह सर्वस्व रूप भगवन्मूर्त्ति में आविष्ट उनका चित्त नष्ट हो गया चित्त खो गया ।।१७।।१८।

आभास—पुन: कियत्कालसमाधाने ज्ञातवान् भगवानाविर्भूत इति तेन चैतत्सर्वं जातमिति । तत: सावधानो भूत्वा पुनर्भगवद्दर्शनार्थं ध्यानमारब्धवानित्याह—

आभासार्थ—फिर कुछ समय तक नारदजी ने चित्त का समाधान किया तब उन्हें ज्ञान हुआ कि भगवान् प्रकट हुए थे इसलिए यह सब इतना हुआ । तब सावधान होकर पुन: भगवान् के दर्शन के लिए ध्यान आरम्भ किया—

श्लोक—**दिदृक्षुस्तदहं भूय: प्रणिधाय मनो हृदि ।**
वीक्ष्य(?)माणोऽपि नाऽपश्यमवितृप्त इवाऽऽतुर: ।।१९।।

श्लोकार्थ— आविर्भूत भगवत्स्वरूप को पुन: देखने की इच्छा से मैंने हृदय में मन को स्थिर किया । जिससे मुझे दर्शन हो जाय परन्तु मानसी मूर्त्ति को देखता हुआ भी वहां भगवान् को न देख सका । जिस प्रकार ज्वरादि राग वाला द्राक्षा आदि से अतृप्त सा रहता है मेरी भी वैसी ही स्थिति हुई ।।१९।।

सुबोधिनी— **दिदृक्षुस्तदहं भूय इति** । तद्भगवत्स्वरूपमाविर्भूत दिदृक्षु: । तत्र भगवद्ध्यानमेव साधनमिति ज्ञात्वा पुनर्मनो हृदि भगवन्मूर्त्तिव्याप्ते स्थिरीकृतवान् । ततो मानसीं मूर्त्ति पश्यन्नपि न भगवन्तं दृष्टवान् । तदाह— **वीक्ष्य(?)माणोऽपि नाऽपश्यमिति** । तदा सन्ताप उत्पन्न इत्याह — **अवितृप्त इवाऽऽतुर इति** । यथा ह्यातुरो ज्वरादिरोगवान् कदाचिद्द्राक्षादिके दत्ते अवितृप्त सन् पुन: प्रार्थनायां न प्राप्नोति, ततश्च रसाभिनिविष्टो महद्दु:ख प्राप्नोति । न हि ज्वरितस्य बह्वी द्राक्षा तु पथ्याय । किन्तु रोचिका । मार्गस्य संवादेन सत्यत्वज्ञानाद्भगवदाविर्भावाच्च काचित्तृप्तिर्जातैव । भुक्तवान्तवत् । तथापि न विशेषेण तृप्त: ।।१९।।

व्याख्यार्थ— उस आविर्भूत भगवान् के रूप को देखने की इच्छा से । उसके देखने में भगवान् का ध्यान ही साधन है ऐसा जानकर फिर मन को भगवान् की मूर्ति से व्याप्त हृदय में स्थिर किया । तब मानसी मूर्ति तो दिखाई दी किन्तु भगवान् दिखाई नहीं दिये । तब सन्ताप उत्पन्न हुआ उसे 'अवितृप्त इवातुर:' से बताते हैं । जैसे ज्वरादि रोग वाले रोगी को कदाचित् दाख आदि दी जाय तो उससे तृप्त न होकर वह फिर उसे मांगता है उसके न मिलने पर उसके रस के अभिनिवेश से महान् दु:ख को प्राप्त होता है परन्तु ज्वर वाले को अधिक दाख का देना हितकर नहीं होता किन्तु

दाख केवल उसकी रुचि बढ़ाने के लिए ही दी जाती है। मार्ग के संवाद से सत्यत्व ज्ञान से और भगवान् के आविर्भाव से कुछ तृप्ति तो हो ही गई थी। जो वस्तु खाई जाती है वही तो वमन में निकलती है इस तरह। तथापि विशेष रूप से तृप्ति नहीं हुई ॥१९॥

आभास—तथापि यत्न न त्यक्तवानित्याह—

आभासार्थ- फिर भी यत्न को नहीं छोड़ा उसे कहते हैं—

श्लोक —**एवं यतन्तं विजने मामाहाऽगोचरो गिराम्।**
गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव ॥२०॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार निर्जन वन में दर्शन के लिए यत्न करते हुए मुझे वाणी के अविषय साकार ब्रह्म ने गम्भीर और मधुर वाणी से शोक मिटाते हुए की तरह कहा ॥२०॥

सुबोधिनी—**एवं यतन्तमिति**। विजन इति मनुष्यान्तरवाक्यसम्भावनाभावः। कोऽयं स इत्याकांक्षायामाह—**अगोचरो गिरामिति**। "**यतो वाचो निवर्तन्त**" इति श्रुतेस्तत्साकारं ब्रह्म भगवच्छास्त्रगम्यमिति। तस्य वाक्यमाह। गम्भीरश्लक्ष्णया **वाचा**। गम्भीरत्वेन न प्रतिध्वनिः। श्लक्ष्णत्वान्नाकाशपुरुषस्य वाणी। तस्य शोकोऽयम्—किं मया भ्रमात्किञ्चिदनुभूतमाहोस्वित्स्वप्न इति। तथा सति न शास्त्रं प्रमाणमिति महद्दुःखम्। दिदृक्षाकृतञ्च। एवं नानाविधाः शुचः। ताः प्रशमयन्निव। अस्तित्वेन शमनम्। अग्रे च सम्भविष्यति। इदानीं नास्तीति च। तस्मादाह—**शमयन्निवेति** ॥२०॥

व्याख्यार्थ—विजन कहने का तात्पर्य यह है कि जहां अन्य किसी मनुष्य के वाक्य की सम्भावना ही नहीं थी तब वह बोलने वाला कौन था ? उसके लिए कहते हैं कि 'अगोचरो गिराम्' जिसे वाणी से नहीं कह सकते ऐसा साकार ब्रह्म जो केवल भगवच्छास्त्रों से ही जाना जा सकता है। जिसे श्रुति 'यतो वाचो निवर्तन्ते' ऐसा बताती है। गम्भीर वाणी से मुझे कहा गम्भीर होने से ही उसकी प्रतिध्वनि नहीं हुई और मधुर होने से वह आकाश पुरुष की वाणी नहीं थी। नारदजी को शोक इसलिए था कि मैंने जो अनुभव किया था क्या वह मेरा भ्रम था या स्वप्न था ? यदि भ्रम या स्वप्न हो तो उसमें शास्त्र प्रमाण नहीं हो सकता इसका उन्हें बहुत दुःख था और देखने की इच्छा का भी दुःख था। इस तरह उन्हें अनेक प्रकार के शोक थे उन सब शोकों को शान्त करने वाले वे वाक्य थे। शोक थे उनको तो शान्त किये आगे भले ही हो सकते हैं। इस समय तो नहीं है इसको बताने के लिए 'शमयन्निव' ऐसा कहा है ॥२०॥

आभास— भगवद्वाक्यमाह—

आभासार्थ—भगवान् के वचनों को कहते हैं—

श्लोक- **हन्ताऽस्मिञ्जन्मनि भवान् मा मां द्रष्टुमिहाऽर्हति ।**
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ।।२१।।

श्लोकार्थ—स्नेह से दुःखी तुम इस जन्म में और यहाँ मुझे नहीं देख सकते। क्योंकि जिनके राग द्वेष पके नहीं हैं ऐसे विघ्न वाले योगियों को मेरे दर्शन कठिनता से होते हैं ।।२१।।

सुबोधिनी—हन्ताऽस्मिन्निति । हन्तेति स्नेहेन दुःखितस्य सम्बोधनम् । अस्मिञ्जन्मनि मां द्रष्टुं भवान्नाऽर्हति । न वा इहेति । अन्यथा मरणपर्यन्तमत्रैव तिष्ठेत् । अतो वैकुण्ठेऽन्यत्र वा जन्मान्तरे दर्शनं भविष्यति । इहाऽदर्शने हेतुः । **अविपक्वकषायाणाम्** । न विशेषेण पक्वा रागादयो येषाम् । इदानीं भक्तिज्ञानादेरुद्गमादभिभूतास्तिरोहितास्तिष्ठन्ति । पुनः कालान्तरे निमित्तान्तरमासाद्य प्रबुद्धा भविष्यन्ति । अतस्तेषां पाको मृग्य इति । "**कषायपक्तिः कर्माणी**" ति श्रुतेः पाचककर्माणि कर्तव्यानीत्यर्थः । अपक्वेऽपि कषाये साधनेष्वतिनिर्बन्धश्चेत्कदाचिद्दुःखेन द्रष्टुं शक्येताऽपि । तदाह— **दुर्दर्श इति । कुयोगिनामिति** । अन्तरायैर्विहतानाम् । तस्मान्न कषायपाकः पूर्वसिद्धः । २१।।

व्याख्यार्थ—स्नेह के कारण दुःखी नारदजी को 'हन्त' इस अव्यय से सम्बोधित किया। इस जन्म में आप मुझे नहीं देख सकते और न यहां। यदि यहाँ दीखने की कहते तो मरण पर्यन्त नारदजी यहाँ ही रह जाते इसलिए वैकुण्ठ में या दूसरी जगह जन्मान्तर में दर्शन होंगे। यहाँ दर्शन न होने का कारण है कि तुम्हारे राग द्वेष आदि विशेष रूप से परिपक्व नहीं हुए हैं । यद्यपि इस समय भक्ति और ज्ञान के उदय से वे रागादि दब गये हैं इसलिए छिपे हुए हैं । कालान्तर में पुनः सहायक के मिल जाने पर वे तैयार हो सकते हैं। इसलिए उनके परिपक्व होने का उपाय ढूँढा। 'कषायपक्तिः कर्माणि' इस श्रुति के अनुसार कषायों को पकाने वाले कर्मों को तुम्हें करना चाहिये। कषायों के परिपक्व न होने पर भी यदि साधनों में तुम्हारा अधिक आग्रह होगा तो कदाचित् अन्त कठिनता से देख भी सकोगे। इसको बताने के लिए 'दुर्दर्शः' ऐसा कहा। दर्शन में विघ्न रुकावट डाल सकते हैं इसलिए कषायों का परिपाक आवश्यक है। कषायों का परिपाक तुम में पूर्वसिद्ध नहीं है ।।२१।।

आभास— सकृद्दर्शनं तु प्रमेयबलादित्याह —

आभासार्थ—यदि कषायों का परिपाक नहीं हुआ तो फिर एक बार दर्शन कैसे हो गये ? उसका उत्तर है उस दर्शन में तो प्रमेय बल कारण था—

श्लोक—**सकृद्यद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ ।**
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान् ।।२२।।

श्लोकार्थ - हे निष्पाप बालक ! तुम्हें जो मैंने एक बार दर्शन कराया है वह मेरे में उत्कट इच्छा उत्पन्न करने के लिए कराया है । मेरी कामना वाला साधक लौकिक कामों को धीरे-धीरे छोड़ देता है और साधु (भक्त) हो जाता है और मेरी कामना होने पर हृदयस्थ सभी रागादिकों को छोड़ देता है ।।२२।।

सुबोधिनी – **सकृद्यद्दर्शितं रूपमिति** । यदिदं रूपं सकृद्दर्शितं तत्ते **कामोत्पत्त्यर्थमुद्गतेच्छाविशेषाथम्** । येन कामेन प्रवृत्तः स्थातुं न शक्नुयात् । कामनायां किं स्यात्तदाह—**मत्काम इति** । मयि कामः । **शनकैरिति** । कामद्वारा यथा यथाऽहं हृदि प्रविष्टस्तथा तथा कामान्मुञ्चतीति । किञ्च प्रथमतः साधुर्भवति । साधुभिरेव प्राप्यत्वात् । रागादिभिश्च साधुत्वापगमात् । ततः सर्वानेव हृच्छयान् रागादीन्मुञ्चति ।।२२।।

व्याख्यार्थ—यह रूप जिसे मैंने तुम्हें एक बार दिखाया है वह मेरे में उत्कट इच्छा प्रकट हो इसके लिए था । उस उत्कट इच्छा में प्रवृत्त हुआ कभी चुपचाप नहीं रह सकता । उत्कट इच्छा से क्या होगा उस पर कहते हैं कि 'मत्कामः शनकैः' जिसकी मेरे प्रति उत्कट इच्छा हो वह उस इच्छा के द्वारा जैसे-जैसे मैं उसके हृदय में प्रविष्ट हो जाऊंगा वैसे वैसे वह लौकिक कामनाओं का परित्याग कर देता है । पहले तो वह साधु (भक्त) हो जाता है क्योंकि मैं भक्तों से ही प्राप्त हो सकता हूं । राग-द्वेष आदि यदि रहते हैं तो उसमें से साधुत्व चला जाता है । अतः वह हृदय में निवास करने वाले सभी रागादि दोषों का परित्याग करता है ।।२२।।

आभास—तर्हि किं साधनं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाह—

आभासार्थ—तो फिर मुझे क्या साधन करना चाहिये—

श्लोक—**सत्सेवयाऽदीर्घयाऽपि जाता मयि दृढा मतिः ।**
हित्वाऽवद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि ।।२३।।

श्लोकार्थ—थोड़े समय की सत्पुरुषों की सेवा से ही मेरे में तुम्हारी बुद्धि दृढ़ हो गई । दोष वाले इस देह को छोड़कर तुम सेवक बन जाओगे ।।२३।।

सुबोधिनी - **सत्सेवयेति** । साधनं तु तव निष्पन्नम् । यतः अदीर्घयाऽपि सत्सेवया मयि दृढा मतिर्जाता तर्हि काऽनुपपत्ति ? तत्राऽऽह—**हित्वाऽवद्यमिति** । देहस्तु दुष्टः । तस्मिन्नपगते भविष्यति । नन्वेतत्प्ररोहत्वादाग्रमोऽपि देहस्तादृशो भविष्यतीति तत्राऽऽह । **मज्जनताम्** । मम जनः सेवकः । तत्ता मज्जनता । असेवकोऽपि सेवकशरीरं प्राप्स्यसि ।।२३।।

व्याख्यार्थ—साधन तो तुम्हारा हो चुका । क्योंकि थोड़े समय ही की गई सज्जनों की सेवा से तुम्हारी मेरे में दृढ़ बुद्धि हो गई । तो फिर अब क्या बाकी रहा ? इस पर कहते हैं 'हित्वावद्यमिमं" यद्यपि तुम्हारी बुद्धि तो मेरे में दृढ़ हो गई है किन्तु यह देह तो दुष्ट है । यह जब चला जायगा तब तुम्हें मेरे दर्शन होंगे । यदि यह शंका हो कि आगे का शरीर भी तो इसी शरीर

का अङ्कुर होगा तो फिर आगे का शरीर निर्दोष कैसे हो जायगा इस पर कहते हैं 'मज्जनतामसि' असेवक होते हुए भी तुम सेवक शरीर को प्राप्त करोगे ।।२३।।

आभास—तदा शरीरान्तरे ज्ञानादिसाधनाभावात्कथ तव दर्शनम् ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—इसके अनन्तर प्राप्त होने वाले शरीर में तो ज्ञान आदि साधनों का अभाव रहेगा तो आपके दर्शन कैसे होंगे इस पर कहते हैं—

श्लोक—**मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित् ।**
प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात् ।।२४।।

श्लोकार्थ—मुझे प्राप्त करने का तुम्हारा यह दृढ़ निश्चय कभी नष्ट नहीं होगा । प्रलय हो जाने पर भी मेरे अनुग्रह से तुम्हें मेरी स्मृति रहेगी ।।२४।।

सुबोधिनी—**मतिर्मयि निबद्धेयमिति** । इदमेव ज्ञानं तदाऽप्यनुवर्तिष्यते । नाशशङ्का नास्त्येव । मयि नितरां सम्बद्धत्वात् । यथा मत्सायुज्ये जीवानामविद्यया न तिरोभावस्तथा ज्ञानादोनामपि । मज्ज्ञानमिव तदपि भविष्यतीत्यनुग्रहः । तदाह—**कर्हिचिदिति** । बाधककाले । द्वयमनूद्य निषेधति—**प्रजासर्गनिरोधेऽपीति** । अपरं च वरमाह—**स्मृतिश्चेति** । सर्वपदार्थानां पूर्वानुभूतानां स्मरणं च न विपद्येतेत्यर्थः । अनेन सर्वदा सावधानो भवेत्येतावदत्र सिद्धम् । कषायपाकः कर्त्तव्यः । अन्तरायैरनुपहतश्च भवेत् । अन्यत्तु मयैव कृतम् । मयि कामो विषयेष्वकामः । एतद्देहावसान एव मत्पार्षदशरीरप्राप्तिः ज्ञानानाशः सर्वपदार्थस्मरणं च । तत्र निर्विघ्नेन कषायपाकोपायस्त्वया शीघ्रमेव कर्तव्य इति सिद्धम् ।।२४।।

व्याख्यार्थ—इस देह का ज्ञान आगे के देह में भी बना रहेगा । इसके नष्ट होने की कोई शङ्का ही नहीं है । क्योंकि तुम्हारी बुद्धि का सम्बन्ध मेरे में दृढ़ हो गया है । जैसे मेरा सायुज्य प्राप्त होने पर जीवों का अविद्या से तिरोभाव नहीं होता उसी तरह ज्ञान आदि का तिरोभाव भी नहीं हो सकता । उनका ज्ञान भी मेरे अनुग्रह से मेरे ज्ञान की तरह हो जायगा । इसको 'कर्हिचित्' पद से बताया है । कभी भी बाधक काल के होने पर भी दोनों हो का अनुवाद करके निषेध करते हैं । अर्थात् प्रजा की सृष्टि के समय और प्रलय के समय भी उनका ज्ञान वैसा हो रहता है जिन पदार्थों का उन्होंने अनुभव किया है उनकी स्मृति कभी नष्ट नहीं होती इस कथन का तात्पर्य यह है कि तुम सदा सावधान रहो । कषायों का परिपाक करते रहो । अन्तराय (विघ्न) से अनुपहत रहो और सब तो मैंने ही तुम्हारे लिये कर दिया है । मेरे में उत्कट इच्छा होने से विषयों से अपने आप वैराग्य हो जाता है । इस देह के अवसान के अनन्तर ही मेरे पार्षद का देह तुम्हें मिलेगा और साथ-साथ ज्ञान भी बना रहेगा और सब पदार्थों की स्मृति भी तुम्हें रहेगी । वहां बिना किसी विघ्न के कषायों के परिपाक का उपाय तुम्हें करना होगा यह इससे सिद्ध होता है ।।२४।।

श्लोक—**एतावदुक्त्वोपरराम तन्महद्भूतं नभोलिङ्गमलिङ्गमीश्वरम् ।**
अहं च तस्मै महतां महीयसे शीर्ष्णाऽवनामं विदधेऽनुकम्पितः ।।२५।।

श्लोकार्थ—जिसके निश्वास से वेद हुए ऐसा वह महान् है और जो आकाश की तरह अदृश्य, प्रमाणादि से अगम्य कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ है वह भगवान् ऐसा कहकर चुप हो गये। मैंने महान् से भी महान् उस परिचित को साष्टाङ्ग प्रणाम किया क्योंकि मैंने उनकी अनुकम्पा प्राप्त की थी ॥२५॥

सुबोधिनी—एतावत् अग्रे उपायमनुक्त्वैव अनुकम्पयैव स्वतः स्फुरिष्यतीति पूर्वोक्तमात्रमुक्त्वा विरराम। प्रामाण्यार्थं वक्तारं विशिनष्टि। विशेषतोऽज्ञानान्नपुंसकपदप्रयोगः। **तदित्यनुवादः**। **महद्भूतमिति** "**अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमि**"ति वेदोद्गममूलभूतं **प्रामाण्यार्थमेव महज्जात**मिति। आकाशपुरुषं व्यावर्तयति—**नभोलिङ्गमिति**। आकाशं तु भगवतोऽनुमापकम्। प्रथमकार्यत्वात्। तथा कथने वा हेतुः। यतस्तत्कार्यमपि तथा कथयतीति। **अलिङ्गम्**। न हि भगवाननुमानगम्यः। आत्मत्वेन प्रत्यक्षत्वात्। अतिरिक्तरूपेऽपि न व्याप्त्यादीनां भगवन्नियामकत्वम्। **तदाह—ईश्वरमिति**। अन्यथाकरणसामर्थ्यान्न हेतुना वह्न्यादिरिव भगवान् सिद्ध्यतीत्यर्थः। एवं सर्वप्रमाणातीतः सर्वत्र प्रमाणमित्युक्तम्। मयाऽपि तदुक्तं कृतमित्याह—**अहं चेति**। तत्र निर्विघ्नार्थं तमेव भगवन्तं नमस्करोति। **तस्मै**। पूर्वपरिचयात्। ईश्वरफलदानपक्षेऽपि यथा फलं प्रयच्छेत्तदर्थमुक्तम्। ननु नमस्कारमात्रेण तत्कथं कुर्यात्तत्राऽऽह—**महतां महीयस इति**। अतिमहति तावदेव कर्तव्यमिति। बहिःशब्दश्रवणाद्बहिःस्थितो भगवानिति बहिः शीर्ष्णाऽवनामं साष्टाङ्गनमस्कारं कृतवान्। युक्तं चैतत्। यतो भगवान्महतीं कृपां कृतवान्। तदाह—**अनुकम्पित इति** ॥२५॥

व्याख्यार्थ—उपाय को बताये बिना ही वह उपाय तो स्वतः आगे समझ में आ जायगा। अतः पूर्वोक्त मात्र कहकर चुप हो गये। वह बात प्रामाणिक थी इसके लिए वक्ता की विशेषता बताते हैं। विशेष रूप से वक्ता का ज्ञान न हो सका इसलिए वक्ता का निर्देश 'नपुंसक' पद से किया है। तत् शब्द से उसका अनुवाद किया है। जो वेदों के उद्गम का मूलभूत है इसलिए उसे 'महद्भूत' पद से कहा 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितं वेदाः' वह कहने वाला आकाश पुरुष नहीं था। 'नभोलिङ्गम्' आकाश तो भगवान् का अनुमापक है। भगवान् का प्रथम कार्य आकाश था इसलिए भी नभोलिङ्ग ऐसा कहा। अथवा वैसा कहने में वह कारण था। क्योंकि उसका कार्य (शब्द) भी वैसा कह सकता है। अलिङ्ग का अभिप्राय यह है कि भगवान् अनुमानगम्य नहीं है। जो अप्रत्यक्ष होता है वह अनुमानगम्य होता है भगवान् तो प्रत्यक्ष है। भगवान् के अतिरिक्त रूप में भी व्याप्ति आदि नियामक नहीं है। यह 'ईश्वरं' पद से बताया है। भगवान् में अन्यथा करण का सामर्थ्य होने से धूमवत्वात् इस हेतु से अग्नि की सिद्धि की तरह भगवान् की सिद्धि किसी हेतु से नहीं हो सकती। इससे भगवान् सब प्रमाणों से पर और सर्वत्र प्रमाण है। मैंने भी उन्हीं भगवान का कहा हुआ किया। उस कार्य के करने में किसी प्रकार का विघ्न न हो इसलिए उसी भगवान् को नारदजी ने नमस्कार किया। उन भगवान् से पूर्व में परिचय होने के कारण ही 'तस्मै' उनके लिए ऐसा कहा। वह ईश्वर फल का दान करे इसके लिए भी नमन है। वह केवल नमस्कार मात्र से ही कैसे कार्य करेगा। इस पर 'महतां महीयसे' जो अतिमहान् है उनके लिए केवल नमस्कार ही किया जा सकता है। बाहर ही शब्द सुना था इसलिए भगवान् बाहर ही खड़े थे अतः उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। ऐसा करना उचित भी है क्योंकि भगवान् ने बड़ी भारी कृपा की थी ॥२५॥

ग्राभास—कषायपाकसाधनं करोमीत्याह—

ग्राभासार्थ—नारदजी ने निश्चय किया कि अब मैं कषायों के परिपाक के लिए साधन करता हूं—

श्लोक—**नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन् गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन् ।**
गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः कालं प्रतीक्षन्विमदो विमत्सरः ॥२६॥

श्लोकार्थ—लज्जा का परित्याग करके ग्रनन्त रूपों वाले भगवान् के नामों का उच्च स्वर से निरन्तर उच्चारण करता हुग्रा ग्रौर भगवान् की गोप्य एवं मनोहर लीलायें हैं उनका स्मरण करता हुग्रा सन्तुष्ट मन से मैं इच्छाविहीन गर्व एवं मात्सर्य रहित होकर काल की प्रतीक्षा करता हुग्रा पृथ्वी पर्यटन करता रहा ॥२६॥

सुबोधिनी **नामानीति** । कषायास्त्रिविधाः । साक्षाद्रागादयस्तामसाः । तेषामपि वासनारूपा
राजसाः । तेषामपि मूलभूता ग्रविद्यारूपाः । ते च क्रमात्कर्मणा भक्त्या ज्ञानेन च नाश्यन्ते । तत्र
चाऽधिकाराः पृथक् पृथक् । ग्रतो नैकेन नैकदा कर्तुं शक्याः । तस्मादेतेषां त्रयाणामेकोऽनुकल्पः
कर्त्तव्यः । तद्भगवत्कृपयाऽस्य यत्स्फुरितं तत्कृतवान् । "**चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेदि**"
ति वाक्यान्नामसु न देशकालयोरपेक्षा । एकं च नाम नाऽऽवर्त्तनीयम् । ब्रह्मविदः सर्वैरेव रूपैर्भगवत्से-
वनस्य श्रुतिसिद्धत्वात् । एकनाम्न ग्रावृत्तौ रूपविशेषस्येति न सर्वैः सर्वत्र रक्षा स्यात् । श्रोतुर्वक्तुश्च
परिच्छेदबुद्धिः पाषण्डताशङ्काऽपि स्यात् । तत्र हेतुमाह—**ग्रनन्तस्येति** । ग्रनन्तरूपस्य । तथा
सत्यनन्ता एव भगवद्धर्मा नामसु स्मृता भवन्ति । ग्रलौकिकं हि लोकमध्ये कुर्वन् गुप्तं करोति ।
लोकोपहासभिया देहकुलान्तःकरणधर्मैश्च लज्जा भवति । विहितत्वेऽपि लोकोपहासात् । तथा सति
लोकरक्षाबुद्ध्या न भगवति शुद्धो भावो भवेत् । ग्रतस्तांस्त्याजयति—**हतत्रप इति** । हतत्वान्न पुनर्जी-
वनम् । क्रियाकममध्ये ग्रधिकारिपदान्नामोच्चारण एव हतत्रपत्वम् । स्वाधीतानामर्थानुसन्धानपूर्वक-
मुच्चैरुच्चारणं पठनम् । शतृप्रत्ययेन निरन्तरता चोक्ता । चित्तस्य चञ्चलत्वात्तस्य भिन्नमवलम्बन-
माह—**गुह्यानीति** । यानि चरित्राणि गुह्यानि लोके स्पष्टतया वक्तुमयुक्तानि पुष्ट्या कृपया कृतानि
द्रौपद्यर्जुनादिशयनस्थानादिषु शयनस्थानादीनि । भद्राणि मनोहरादीनि (?) स्वस्याऽबाधकानि ।
कृतानि चेति । स्पष्टतया कृतानि । ग्रथवा कृतानि करिष्यमाणानि च । भगवत्कृपया तत्स्फुरणम् ।
शरीरकृत्यमाह—**गां पर्यटन्निति** । ग्रत्यन्तसयोगे द्वितीया । गोशब्दाद्गोसेवावद्धर्मजनकत्वम् ।
परितः ग्रटनम् । ग्रनेन ऋजुतया एकमार्गेण देशातिक्रमो निवारितः । एकमङ्गं **साधनसाधनत्वेनो-**
क्त्वा पञ्चाऽङ्गानि फलसाधनत्वेनाऽऽह—**तुष्टमना इत्यादि** । भूमिपर्यटन यद्यन्यार्थं स्यात्तदा मनसो
न तावन्मात्रेण परितोषः स्यात् । ग्रतस्तुष्टमना भवेत् पर्यटनमेव फलत्वेन जानीयात् यद्यपि तथा
पर्यटनेन लौकिकालौकिकानि फलानि भवन्ति तथापि तेषु स्पृहा न कर्तव्या । तदाह—**गतस्पृह**
इति । नन्वपरिच्छिन्नानि कर्माणि कर्त्तुमशक्यानि । ग्रत एव द्वितीयाध्याये कमभेदो निरूपितः ।
तत्र परिच्छेदको देशः कालो वा भवति । ततश्च परिच्छेदकदेशकालसम्बन्धे किं कुर्यादित्यत
ग्राह—**कालं प्रतीक्षन्निति** । शतृप्रत्ययेन ग्रादित ग्रारभ्य कालप्रतीक्षा कर्तव्या । ततः शरीररक्षा-

दिसाधनाभावे बाधके वा नाऽन्तःकरणे क्लेशो भवति । दैवगत्या सन्मानने प्राप्तेऽपि गर्वो न कर्त्तव्यः। न हि पूजनेन तस्य महत्त्वं प्रत्युत तद्बाधकम् । "जनेनाऽभिमतो योगी योगसिद्धि न विन्दती"ति वाक्यात् । विषयप्राप्तौ न वा मत्सरः कर्त्तव्यः । प्रत्युत कालसाधकत्वेन तेषामुपकारो मन्तव्यः । न वा विपरीतो मत्सरः कर्त्तव्यः । अबाधकविषयप्रापकेषु भगवदाज्ञानिर्वाहकत्वात् । निषिद्धप्रापकेषु तु बाधकवत्सहनम् ।।२६।।

व्याख्यार्थ—कषाय तीन प्रकार के हैं । साक्षात् रागादि तामस हैं । उनमें भी वासना रूप रागादि राजस हैं और उनके भी मूलभूत रागादि अविद्या रूप हैं । वे क्रमशः तामस रागादि कर्म के द्वारा, राजस रागादि भक्ति के द्वारा और अविद्या रूप रागादि ज्ञान के द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं । उनके अधिकार अलग-अलग हैं इसलिए किसी एक के द्वारा एक ही समय में इसका नाश नहीं किया जा सकता । इसलिए इन तीनों का एक अनुकल्प करना चाहिये । भगवान् की कृपा से नारदजी को जो हृदय में प्रेरणा हुई वो उन्होंने किया । भगवान् के नामों का सदा और सब जगह कीर्तन करे 'चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्त्तयेत्' इस वाक्य के अनुसार भगवान् के नामों के उच्चारण में अमुक देश ही हो या अमुक काल ही हो ऐसा कोई आवश्यक नहीं है । केवल एक ही नाम की आवृत्ति न करे । ब्रह्मवेत्ता के लिए सभी रूपों से भगवत्सेवा करनी चाहिये ऐसा श्रुति से सिद्ध है । केवल एक नाम की आवृत्ति में अथवा एक रूप विशेष की सेवा से सब नामों से या सब रूपों से सर्वत्र रक्षा नहीं हो सकती । श्रोता और वक्ता में संकीर्ण बुद्धि तथा पाषण्डता भी होगी । उसमें हेतु बताते हैं कि भगवान् के रूप अनन्त हैं ऐसा होने से अनन्त भगवद्धर्मों का उन नामों में स्मरण हो जाता है । जो अलौकिक कार्य होता है उसको लोक में छिपाकर करते हैं । क्योंकि लोगों के उपहास का भय रहता है तथा देह, कुल और अन्तःकरण के धर्मों से लज्जा भी होती है । विहित होने पर भी लोकोपहास होता है । लोग हमारा उपहास न करे ऐसी यदि बुद्धि होगी तो भगवान् में शुद्ध भाव नहीं होगा । इसलिए लोक लज्जा एव लोक भय को छुड़ाते हैं । हतत्रपः लज्जा को मारकर जो मर जाता है वह फिर जी नहीं सकता । क्रिया और कर्म के मध्य में अधिकारी पद का प्रयोग होने से नामोच्चारण में ही लज्जा का हनन करना चाहिये । अपने अधीत नामों का अनुसन्धानपूर्वक जोर-जोर से उच्चारण करना पठन कहा जाता है । शतृ प्रत्यय वर्तमान काल में होता है । अतः नामों का उच्चारण निरन्तर करते रहना चाहिये । चित्त चञ्चल है इस लिए उसके अवलम्बन के लिए जो भगवान् के गुप्त चरित्र हैं जिन्हें लोक में स्पष्ट रूप से नहीं कह सकते ऐसे जो चरित्र हैं जिन्हें भगवान् ने केवल कृपा से ही किये हैं जैसे अर्जुन द्रौपदी आदि के शयन स्थानादि में शयन स्थान आदि । भद्र पद से जो अच्छे लगे वैसे नाम और रूपों का जो अपने लिए बाधक न हों । जिनको स्पष्ट रूप से कह सकते हैं उन्हें कृतानि पद से बताया है । अथवा कृतानि से जो आगे किये जायेंगे उनका ग्रहण करना । भगवान् की कृपा होने से भगवान् के द्वारा आगे किये जाने वाले कर्म भी समझ में आ जाते हैं । गां पर्यटन् का अर्थ है पृथ्वी पर निरन्तर भ्रमण करते हुए । घूमना शारीरिक कर्म है । गां में द्वितीया 'कालध्वनोरत्यन्तसंयोगे' से हुई है । यहां पृथ्वी के लिए गो शब्द का प्रयोग किया है उसका आशय यह है कि जैसे गाय की सेवा करना धर्म है उसी तरह पृथ्वी का पर्यटन भी धर्म है । पर्यटन् कहते हैं सब ओर घूमना । अतः नारदजी ने केवल सीधे मार्ग से ही देशों का अतिक्रमण नहीं किया । यहां केवल एक हतत्रप अङ्ग को ही साधन का साधन बताया । अब पांच अङ्गों को फल का साधन बताते हैं । तुष्टमनाः यदि पृथ्वी

पर्यटन अन्य कार्य के लिए हो तो केवल उतने मात्र से मन को परितोष नहीं होता । इसलिए प्रसन्न चित्त होना चाहिये । अर्थात् केवल पर्यटन का ही फल समझना चाहिये । पर्यटन का अन्य कोई फल नहीं होना चाहिये । यद्यपि वैसे घूमने में लौकिक अथवा अलौकिक फल होते हैं परन्तु उन फलों की इच्छा न करे इसके लिए 'गतस्पृहः' ऐसा कहा । शङ्का कर सकते हैं कि अपरिच्छिन्न (अपरिमित) कर्म तो किये नहीं जा सकते इसलिए द्वितीय अध्याय में कर्मभेदों का निरूपण किया गया है । उनमें कर्मों का परिच्छेदक (माप करने वाला) या तो देश होगा या काल होगा । कर्मों के परिच्छेदक देश और काल के सम्बन्ध होने पर क्या करना चाहिये इस पर कहते हैं कालं प्रतीक्षन् प्रतीक्षन् में शतृप्रत्य हुआ है इसलिए प्रारम्भ से ही काल की प्रतीक्षा करनी चाहिये । इससे शरीर रक्षा आदि के साधनों के अभाव में अथवा शरीर रक्षा में बाधक होने पर भी अन्तःकरण में क्लेश नहीं होगा । दैवगति से सम्मान प्राप्त हो तो भी अभिमान नहीं करना चाहिये । सम्मान (पूजा) से उसका कोई महत्व नहीं होता प्रत्युत सम्मान तो बाधक होता है । कहा भी है 'जनेनाभिमतो योगी योगसिद्धिं न विन्दति' मनुष्यों से सम्मान-प्राप्त योगी योगसिद्धि को प्राप्त नहीं होता । विषयों की प्राप्ति न हो तो मात्सर्य भी नहीं करना चाहिये । काल के साधक होने से उसका तो और भी उपकार मानना चाहिये । उसके विपरीत मात्सर्य नहीं करना चाहिये । अबाधक विषयों के प्राप्त कराने वालों में भगवान् की आज्ञा का पालन नहीं हो सकता है । निषिद्ध वषयों के प्राप्त कराने वालों को तो बाधकों की तरह सहन करना चाहिये ॥२६॥

आभास—एवं षडङ्गसहितं नामोच्चारणपूर्वकं भूपर्यटनं कषायपाके हेतुः । तस्य किं दृष्टद्वारा अदृष्टद्वारा वा कषायपाकहेतुत्वमित्याकांक्षायामाह—

आभासार्थ—इस तरह १. हतत्रप २. प्रसन्नमन ३. गतस्पृह ४. और काल की प्रतीक्षा करते रहना ५. मद न करना ६. मात्सर्य न करना इन छह अङ्गों के सहित नामोच्चारणपूर्वक भूपर्यटन कषायों के परिपाक का कारण हैं । इस तरह कषायों के परिपाक का कारण दृष्ट के द्वारा या अदृष्ट के द्वारा होता है इस आशङ्का पर कहते हैं—

श्लोक—**एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नसक्तस्याऽमलात्मनः ।**
कालः प्रादुरभूत्काले तडित्सौदामनी यथा ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मरूप व्यासजी ! इस प्रकार कृष्ण में बुद्धि रखने वाले विषयों में अनासक्त शुद्धान्तःकरण वाले मेरी वर्षाकाल में सुदाम पर्वत से होने वाली बिजली की तरह समय आने पर मृत्यु स्पष्ट दिखाई दी ॥२७॥

सुबोधिनी—**एवं कृष्णमतेरिति** । एवं पर्यटने कृष्णे मतिर्भवति । तदैव विषयेष्वसङ्गः । यदा कृष्णो रोचते तदैव विषया न रोचन्ते **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनमपि संवादाय । कृष्णमत्या विषयासङ्गे जाते तदैवान्तःकरणं शुद्धं जातम् । तदैव कषायाः पक्वा इत्यर्थः । पाकार्थमेव शरीरस्य रक्षितत्वात् पक्वे च कषाये शरीरस्य प्रयोजनान्तराभावात्तद्ग्रहणाय कालः प्रादुरभूत् । काले शरीरप्रारम्भकादृष्टसमाप्तौ शापसमाप्तौ वा । उत्तरत्र वा सम्बन्धः । काले वर्षाकाले । **तडिदिति** । शीघ्र-

मिति केचित्। सौदामनी वा सुदामपर्वताज्जाता। तडित्सौदामनीत्येकं वा पदम्। तडिदिव पीत इत्यादावेकदेशप्रयोग:। यथा प्रथमत एव स्तनयित्नुवृष्टेर्विद्युत्तथा शरीरनाशकरोगाद्यपेक्षया कालो जीवप्रणेता प्रथमत एव प्रादुर्भूत इत्यर्थ: ।।२७।।

व्याख्यार्थ—इस तरह घूमने पर ही कृष्ण में मति होती है और तब ही विषयों में अनासक्ति होती है। जब कृष्ण अच्छे लगने लगते हैं तब संसार के विषय अच्छे नहीं लगते। 'ब्रह्मन्' ऐसा व्यासजी के लिए दिया गया सम्बोधन व्यासजी की सम्मति का परिचायक है। कृष्ण में रुचि हो जाने से और विषयों में आसक्ति न होने पर ही जब अन्त:करण शुद्ध हो गया तब ही कषायों का परिपाक हो गया। कषायों के परिपाक के लिए ही तो शरीर की रक्षा की थी। जब कषाय पक गये तब शरीर का और कोई प्रयोजन रहा नहीं तब उस शरीर को ग्रहण करने के लिए काल प्रकट हो गया। जब शरीर के प्रारम्भक अदृष्ट की समाप्ति हो गई अथवा शाप की समाप्ति हो गई उस समय। अथवा काले का सम्बन्ध आगे समझना। अर्थात् वर्षाकाल आने पर। कोई टीकाकार तडित् का अर्थ शीघ्र ऐसा करते हैं अथवा तडित् का अर्थ बिजली यह बिजली सुदाम पर्वत से उत्पन्न हुई है इसलिए इसे तडित् सौदामनी ऐसा कहते हैं अथवा तडित् सौदामनी यह एक ही पद है। 'तडिदिव पीत:' इस वाक्य में तडित् इस एकदेश का प्रयोग भी देखा गया है। जैसे मेघ से होने वाली वृष्टि के पहले ही बिजली चमकती है उसी तरह शरीर को नष्ट करने वाले रोग आदि की अपेक्षा जीव को ले जाने वाला काल पहले ही प्रकट हो गया ।।२७।।

आभास—तत: किं वृत्तन्तदाह—

आभासार्थ—इसके बाद क्या हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक—**प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्।**
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत्पाञ्चभौतिक: ।।२८।।

श्लोकार्थ—मुझे शुद्ध भगवद्भक्त पार्षद देह के प्राप्त कराये जाने पर जिसके आरम्भक कर्म नष्ट हो गये हैं ऐसा पञ्चभूतों से बना हुआ पहला देह गिर गया।२८।

सुबोधिनी—प्रयुज्यमान इति। देहवियोगक्लेशो न ज्ञात एव। प्रथमत एव भगवत्सम्बन्धी शुद्धसत्त्वपरिणामरूपो देह उपस्थित:। कालेन चाऽहं तत्र शीघ्रमेव नीत:। तस्मिन्मयि नीयमाने कियद्दूरं शरीरमप्युद्गतं विमानसमुखतया, परं भौतिकत्वाद्गुरुत्वेन पञ्चभूतानि (?) क्रमेण वैकुण्ठगमनाद्वा न्यपतत्। ननु योगे ब्रह्मसम्पत्तावपि शरीरं तिष्ठति। कथमिदं पतितम्? तत्राऽऽह—**आरब्धकर्मनिर्वाण इति**। येन कर्मणा इदं शरीरमारब्धं तस्य निर्वाण: समाप्तिर्यस्य (?) निर्वाण-शब्देन कर्मापि मुक्तम्। परम्पराजनकत्वाभावात्। वरादिकं त्वारम्भककर्मरूपं भवति। तस्य च समाप्तिर्देहग्रहणमात्रेणैव। देहस्तु ब्रह्माण्डपर्य्यवसायी। तद्व्यावृत्त्यर्थम्—**भौतिक इति** ।।२८।।

व्याख्यार्थ—पहले से ही भगवत्सम्बन्धी शुद्ध सत्त्व का परिणाम रूप देह उपस्थित था इसलिए मुझे देह के वियोग का क्लेश ज्ञात न हो सका। समय प्राप्त होते ही मुझे शीघ्र ही उस देह

में ले जाया गया । वहां ले जाते समय कुछ दूर तक विमान के सम्मुख शरीर भी गया था परन्तु पाञ्चभौतिक शरीर के भारी होने से क्रमशः सब गिरते गये अथवा बैकुण्ठ तक पहुँचने पर यह शरीर गिर गया । योग में तो ब्रह्मता प्राप्त होने पर भी शरीर रहता है । तो फिर वह शरीर कैसे गिर गया ? उसका उत्तर देते हैं । जिस कर्म से इस शरीर का आरम्भ हुआ था वह कर्म समाप्त हो गया अत यह शरीर गिर गया । निर्वाण शब्द से यह जाना जाता है कि केवल देह ही नहीं छूटा । किन्तु कर्म भी समाप्त हो गये । जब कर्म समाप्त हो गये तो अब उनकी परम्परा ही समाप्त हो गई । वर आदि तो आरम्भक कर्मरूप होता है । उसकी समाप्ति तो देह ग्रहण मात्र से ही हो गई । यद्यपि देह ब्रह्माण्ड तक जाता है परन्तु वह तो भौतिक देह था इसलिए यहीं गिर गया ।।२८।।

आभास—तर्हि ब्रह्मणः सकाशात्कथमुत्पत्तिः? तदाह—**कल्पान्त** इति द्वाभ्याम्—

आभासार्थ--तो फिर ब्रह्माजी से कैसे उत्पत्ति हुई इसे दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—कल्पान्त इदमादाय शयानेऽम्भस्युदन्वतः ।
शिशयिषोरनुप्राणं विविशेऽन्तरहं विभोः ।।२९।।
सहस्रयुगपर्यन्तमुत्थायेदं सिसृक्षतः ।
मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे ।।३०।।

श्लोकार्थ—जब कल्प के अन्त में सबको उदर में लेकर भगवान् समुद्र के जल में सोते हैं तब सोने की इच्छा रखने वाले ब्रह्माजी के नासापुट के श्वास के साथ में भीतर प्रविष्ट हो गया । एक सहस्रचतुर्युगी बीत जाने पर जब ब्रह्मा जगे और उन्होंने सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा की तब उनके अवयवों तथा इन्द्रियों से मरीचि आदि ऋषियों के साथ मैं भी उत्पन्न हो गया ।।२९।।३०।।

सुबोधिनी—यदा कल्पान्तो भवति तदा सर्वं स्वकृतमुदरीकृत्य नारायणः शेते । ब्रह्माऽपि नाभिद्वारा उदरं प्रविशति । ततो नारायणेन सहैक्यं प्राप्य **शेते** सहस्रयुगपर्यन्तम् । तदा नित्यत्वाद-स्मच्छरीरस्य शयनार्थमहमपि ब्रह्मणो नासापुटवायुना सह अन्तः प्रविष्टः । वायोरेव गमनाऽऽगमने अहं तु तत्रैव स्थितः । प्रविष्टधारणसामर्थ्यमाह – **विभोरिति** । अन्तः स्थितस्य कालः सहस्रयुग-पर्यन्तम् । तदा राजसकल्पे भगवांस्तिरोहितः । ब्रह्मा तु निर्गतः । निर्गत्य शयनादुत्थायेदं जगत्पूर्व-वत्स्रष्टुमियेष । तदा सिसृक्षतस्तस्य अवयवेभ्यो मरीचिमुख्या ऋषयः अहं च जज्ञिरे । तत्र **"उत्सङ्गान्नारदोजज्ञ"**इति वचनाद्भगवतो भक्तत्वादयमुत्सङ्गे स्थापितः । ततः प्रजापतावन्तःप्रविष्ट-त्वाद्ब्रह्मण. प्राणरूपेभ्यो भगवदंशेभ्यस्तत्तत्स्थाने स्थितेभ्यो जाता इत्यर्थः । २९।।३०।।

व्याख्यार्थ—जब कल्प की समाप्ति होती है तब भगवान् नारायण अपनी बनाई हुई इस सारी सृष्टि का अपने पेट स्थापित करके सोते हैं । ब्रह्माजी नाभि के द्वारा उदर में प्रवेश करता है । तब नारायण के साथ एकता को प्राप्त करके ब्रह्मा भी हजार युग पयन्त सोते हैं । तब हमारे शरीर के नित्य होने से शयन के लिए मैं भी ब्रह्म के नासापुट की वायु से अन्दर प्रविष्ट हो गया । उस

समय केवल वायु का ही आना जाना रहता है । मैं तो वहीं (ब्रह्मा के पेट में) रहा उन भगवान् में प्रविष्ट होने वाले को धारण करने की शक्ति है यह विभु पद से बताया है । अन्दर रहने का समय एक हजार युग पर्यन्त का था । तब राजस कल्प में भगवान् तिरोहित हो गये । ब्रह्मा तो निकल गये । निकलकर और शयन से उठकर पूर्ववत् जगत् की सृष्टि करने लगे । तब सृष्टि करते हुए ब्रह्मा के शरीर के अवयवों से मरीचि हैं मुख्य जिनमें वे ऋषि और मैं उत्पन्न हो गये । उनमें मेरी उत्पत्ति ब्रह्मा की गोद से हुई 'उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे' इस वचन से मैं भगवान् का भक्त था इसलिए भगवान् ने मुझे अपनी गोद में रखा था । तदनन्तर प्रजापति के अन्दर ही प्रविष्ट हुए ब्रह्म से प्राण रूप भगवान् के अंशों से जो उन-उन स्थानों में स्थित थे वे उत्पन्न हुए ॥२९॥३०॥

आभास—सा कृपा जातेऽपि तथैवाऽनुवर्त्तत इत्याह—

आभासार्थ-मेरे उत्पन्न होने पर भी भगवान् की वह कृपा मेरे पर बनी रही—

श्लोक—**अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन्पर्येम्यस्कन्दितव्रतः ।**
अनुग्रहान्महाविष्णोरविघातगतिः क्वचित् ॥३१॥

श्लोकार्थ—जो कर्म करने वाले हैं वे तीन लोक के अथवा ब्रह्माण्ड के बाहर नहीं जाते । जिनने तप आदि से ब्रह्मलोक को प्राप्त किया वे तीन लोक के अथवा ब्रह्माण्ड के भीतर नहीं जाते । मैं तो सबसे अपरिच्छिन्न भगवान् के अनुग्रह से सर्वत्र भगवान् को देखने के नियम का पालन करता हुआ बाहर-भीतर फिरता हूं । मेरी गति कहीं भी नहीं रुकती ॥३१॥

सुबोधिनी—**अन्तर्बहिरिति** । यथा बालकः पुत्रो गृहमध्ये बहिरपि परिभ्रमति, तथा ब्रह्माण्डान्तर्बहिश्च । त्रिलोक्यां वाऽन्तर्बहिश्च । साधारणन्यायेन बहिः परिभ्रमणे वा सम्भवत्यन्तरित्युक्तम् । द्वितीया त्वत्यन्तसंयोगे । ननु किमेतावता । अचेतनानां वाय्वादीनामपि तथात्वात् । तत्राऽऽह—**अस्कन्दितव्रत इति** । न स्कन्दितं भगवद्दर्शनलक्षणं व्रतं यस्येति । भगवतः सर्वत्र विद्यमानत्वाद्देशविशेषाविवक्षायां भवतैः सर्वत्र दर्शनं कर्तव्यम् । ततश्च यत्रैव भगवन्तं न पश्येत्तत एव व्रतहानिर्भवेत् । अतो मम सर्वत्र परिभ्रमणेन भगवद्दर्शनान्न व्रतहानिरित्यर्थः । ननु मशकादिहृदयेऽपि भगवतो विद्यमानत्वात्कथं तादृशेषु तव गतिरिति तत्राऽऽह—**अनुग्रहान्महाविष्णोरिति** । व्यापकस्तु देशकालापरिच्छिन्नः । महाविष्णुस्तु वस्त्वपरिच्छिन्नोऽपि । तस्याऽनुग्रहोऽपि तादृश एव । अतो न विद्यते विघातो यस्यास्तादृशी । गतिर्यस्येति । क्वचिदपीत्यर्थे—**क्वचित्** ॥३१॥

व्याख्यार्थ—जैसे छोटा बच्चा घर के अन्दर तथा बाहर भी घूमता है उसी तरह मैं भी ब्रह्माण्ड के बाहर और भीतर घूमता हूं । अथवा तीनों लोकों के बाहर और भीतर घूमता हूं । साधारण न्याय से बाहर घूमने के कहने से अन्दर घूमना भी समझ लिया जाता है । लोकान् में द्वितीया 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' से हुई है । अर्थात् निरन्तर लोकों में घूमता रहा । इस तरह निरन्तर घूमने से लाभ क्या हुआ ? अचेतन जो वायु आदि हैं उनकी भी निरन्तर गति होती है ।

उस पर कहते हैं कि मेरा घूमना निरथक नहीं था मैंने जो यह व्रत ले रखा था कि भगवान् के दर्शन से कदापि वंचित न रहूं । जब भगवान् सर्वत्र हैं तो भक्त को अमुक जगह ही दर्शन करना चाहिये यह नियम नहीं रहता अत: भक्तों को तो सब जगह भगवान् के दशन करने चाहिये । इसलिए जिस जगह भगवान् को नहीं देखेगा वहीं भक्त के व्रत की हानि हो जायगी । इसलिए मेरे सर्वत्र घूमने में सर्वत्र भगवान् के दर्शन होने से व्रत हानि नहीं हुई । यदि कोई शङ्का करे कि भगवान् तो मच्छर के हृदय में भी रहते हैं तो उस जगह तुम्हारो गति कैसे होगी इसका उत्तर देते हैं कि 'अनुग्रहान्महाविष्णो:' वहां भी महाविष्णु की कृपा से गति होती है । यद्यपि व्यापक ब्रह्म देश काल से अपरिच्छिन्न होता है । महाविष्णु तो वस्तु से अपरिच्छिन्न होते हैं तो भी उन महाविष्णु की कृपा से मेरी गति कहीं नहीं रुकती । अविघात गति का अर्थ है जो गति (जिसका जाना) कहीं रुके नहीं इसी तरह क्वचित् का अर्थ है किसी काल में भी ॥३१॥

आभास—एवं सत्संगेन श्रवणमारभ्य सर्वत्र भगवद्दर्शनपर्यन्तमेका श्रवणभक्तिरुक्ता । द्वितीया तु भगवत्कृपया समारब्धेत्याह—

आभासार्थ—इस तरह सत्सङ्ग से श्रवण से प्रारम्भ करके सर्वत्र भगवद्दर्शन पर्यन्त एक श्रवण भक्ति कहो गई । अब दूसरो कीर्तन-भक्ति तो भगवान् को कृपा से ही आरम्भ हुई—

श्लोक—**देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम् ।**
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—देवताओं से दी हुई जो षड्ज आदि ब्रह्मरूप स्वर से भूषित है उस वीणा से संगीत शास्त्र सिद्ध स्वरों का सम्बन्ध कर हरिकथा को गाता हुआ फिर रहा हूं ॥३२॥

सुबोधिनी—**देवदत्तामिति** । भक्तिमार्गे देवकृतो विघ्न: कदाचिदसम्भाव्येतेति शङ्कानिवृत्यर्थं कीर्तनाङ्गभूतां वीणां दत्तवन्त इति देवदत्ता । श्रुतिपूरिका हि सा । तत्राऽङ्गुल्यादिचालनप्रयासोऽपि निवारित: - **स्वरब्रह्मेति** । स्वरा: षड्जादय: । नादब्रह्मात्मकत्वात्तदेव ब्रह्म । तेन विशेषेण भूषिता । **तादृशीम्** । **मूर्च्छयित्वा** । स्वराणां मूर्च्छना सङ्गीतशास्त्रसिद्धा तां प्रापयित्वा । तथा सति रसाऽऽविर्भावादश्रान्त सङ्कीर्तनं भवतीति तथा कृत्वा हरिकथां गायमानश्चरामि । परिभ्रमणं तु कीर्तनेऽप्यङ्गम् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—भक्तिमार्ग में देवता कदाचित् विघ्न करेंगे यदि ऐसी सम्भावना हो तो उस शंका को दूर करने के लिए नारदजी ने कहा कि कीर्तन की अङ्गभूत यह वीणा ही स्वयं देवताओं ने दी है अत: वे मेरे कीर्तन में किसी प्रकार का विघ्न नहीं करते । वह वीणा श्रुतिपूरिका है । इस पर अगुली के चलाने का भी परिश्रम नहीं करना पड़ता । यह 'स्वरब्रह्मविभूषिताम्' से बताया है । स्वर तो षड्ज आदि हैं । यह वीणा नादब्रह्मरूप होने से ब्रह्मरूप है । उस नादब्रह्मात्मकता से विभूषित है ऐसी वीणा को । स्वरों की जो मूर्च्छना संगीतशास्त्र में प्रसिद्ध है उससे योजित करके ।

वैसा होने से रसाविर्भाव हो जाता है जिससे निरन्तर बिना थके इससे संकीर्तन होता है और हरि-कथा का गायन करता हुआ घूमता हूं । यह घूमना कीर्तन का भी अङ्ग है ।३२॥

आभास—ननु पूर्वस्मात्को विशेषो जातस्तत्राऽऽह—

आभासार्थ—शंका हो सकती है कि पूर्व से विशेषता क्या हुई—

श्लोक—**प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ।**
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥३३॥

श्लोकार्थ—जब मैं उनकी लीलाओं का गायन करने लगता हूं तब वे प्रभु जिनके चरण कमल में सन्त निवास करते हैं और जिनकी कीर्त्ति प्यारी है वे भगवान् बुलाये हुए की भाँति तुरन्त मेरे हृदय में आकर दर्शन दे देते हैं ॥३३॥

सुबोधिनी—**प्रगायत इति** । पूर्वं यद्दर्शनार्थं भूयान् यत्नः कृतः स इदानीं स्वत एव भवति । तत्र हेतुः—**प्रगायत इति** । यस्तु स्ववीर्याणि प्रकर्षेण गायति तस्याऽग्रे वीर्यास्फुरणं मा भवत्विति स्वयमेव तत्स्फुरणार्थं विषयान्तरसञ्चाराभावाय शीघ्रं चित्ते समायाति । ननु श्रोतुरभावादनङ्गं कीर्त्तनं कथं फलायेति तत्राऽऽह—**तीर्थपाद इति** । तीर्थानि सन्तः पादे यस्य । सर्वे हि सन्तः सायुज्यं प्राप्ता भगवत्पादे वर्तन्ते । अन्येऽपि भक्तिवशात् । तादृशो हि भक्तिगुणः । पादं च हृदि स्थापयित्वा गायतीति सतां श्रोतृणां विद्यमानत्वात्कीर्त्तनं नाऽङ्गविकलम् । ननु कथमेवं भगवान् सर्वां सामग्रीं सम्पादयतीति तत्राऽऽह—**प्रियश्रवा इति** । प्रियं श्रवः कीर्त्तिर्यस्य । तत्सम्पादनार्थं सर्वं सम्पादयतीति भावः । अग्रे वीर्यास्फुरणे भगवतः स्मरणमाह्वानमिव सज्जातम् । प्रियत्वादाह्वाने च समागमनम् ॥३३॥

व्याख्यार्थ—पहले तो भगवान् के दर्शन के लिए बहुत प्रयत्न किया था परन्तु अब तो भगवान् के दर्शन स्वतः ही हो जाते हैं । उसमें कारण यह है कि जो कोई भगवान् की लीला का गायन करता है उसके आगे भगवान् स्वयं आकर उपस्थित हो जाते हैं । भगवान् सोचते हैं कि इसके हृदय में मेरी लीला की स्फूर्ति रुक न जाय इसलिए लीला की स्फूर्ति के लिए और इसके चित्त में विषयान्तरों का सचार न हो इसलिए शीघ्र ही स्वयं अपने आप चित्त में आ जाते हैं । यह शङ्का हो सकती है जब कीर्तन का सुनने वाला कोई नहीं हो तो बिना श्रोता के कीर्तन का फल क्या होगा ? उसका उत्तर देते हैं कि सभी सन्त भगवान् के चरण मे सायुज्य को प्राप्त हुए हैं तथा और भी चरणों में सायुज्य प्राप्त हुए हैं ऐसा इस भक्ति का गुण है उसी चरण को मैं (नारद) अपने हृदय में स्थापित करके गायन करता हूँ अतः उस चरण में निवास करने वाले सन्त श्रोता विराजमान हैं वे इस कीर्तन को सुनते हैं अतः कीर्तन का अङ्ग श्रोता विद्यमान है इसलिए अङ्ग की विकलता भी नहीं है । यदि यह शंका हो कि भगवान् इस तरह सब सामग्री का सम्पादन क्यों करते हैं उसका उत्तर यह है कि भगवान् प्रियश्रवा है । भगवान् को अपनी कीर्ति अच्छी लगती है । अतः जो उनकी कीर्ति का गायन करता है उसके लिए अपेक्षित सभी सामग्री का सम्पादन भगवान्

करते हैं। यदि भगवान् की लीलाओं को आगे स्फूर्ति न हो तो भगवान् अपने स्मरण को अपने लिए भक्त का बुलावा समझते हैं और कीर्ति प्रिय होने से बुलाने पर अविलम्ब उपस्थित हो जाते हैं। ३३॥

आभास—एव कीर्त्तनं सपरिकरं निरूप्य सर्वत्र लोके तत्सिद्धयर्थं तद्विषयवर्णनं त्वया कर्त्तव्यमित्यभिप्रायेण कीर्त्तनमनुवादेन स्थिरीकरोति—

आभासार्थ—इस प्रकार कीर्तन भक्ति का परिकर सहित निरूपण करके सभी जगह लोक में कीर्तन भक्ति होवे इसके लिए उसका विषय जो भगवान् है उसका वर्णन तुम्हें करना चाहिये इस अभिप्राय से कीर्तन का अनुवाद करके स्थिर करते हैं—

श्लोक—**एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः।**
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—माया की रक्षा करने वाले जो विषय हैं उनके स्पर्श (भोग) की इच्छा से आतुर चित्त वाले मनुष्यों के लिए भगवल्लीला वर्णन ही संसार समुद्र को पार करने में नौका रूप है ॥३४॥

सुबोधिनी - एतद्धीति। मात्रास्पर्शेच्छया आतुरचित्तानां हरिचर्याऽनुवर्णनमेव भवसिन्धुप्लवो दृष्टः। **एतदिति**। स्वक्रियमाणसमानम्। हीति पूर्वोक्ता हेतव उक्ताः। मां मायां त्रायन्त इति मात्रा विषयाः। तेषामपि स्पर्शमात्रम्। शब्दव्यंगेन च महापातकत्व सूचितम्। हरिचर्यानुवर्णने न तेषां श्रवणं भविष्यति। अन्यथा महारोगस्य सञ्जातत्वात्क्वापि परलोकसाधने न प्रवृत्तिः। प्रवृत्तावपि तस्य रोगजनकत्वम्। ज्वरमध्ये भक्षितपथ्यादेरिव। श्रवणस्य तु न मात्रासाधकत्वम्। प्राप्तेऽपि विषये इच्छाया निवृत्तित्वात्(?)मुहुरित्युक्तम्। अयं तु सुखेनैव संसारतारको मयैव दृष्टः। साधनतामनूद्य रूपमाह—**हरिचर्यानुवर्णनमिति** ॥३४॥

व्याख्यार्थ—विषयों के स्पर्श (भोग) की इच्छा से आतुर चित्त वाले मनुष्यों के लिए भगवान् की लीला का वर्णन ही संसार समुद्र के पार करने में नौका रूप देखा गया है। श्लोक में आये 'एतत्' का यह अभिप्राय है कि मेरे समान किये जाने वाला भगवल्लीला का वर्णन संसार समुद्र से पार करा सकता है। श्लोक में 'हि' शब्द निश्चयार्थक है जिसका तात्पर्य यह है कि पहले किये गये हेतुओं से भी यह निश्चय है। श्लोकस्थ 'मात्रा' का अर्थ माया की रक्षा करना है अर्थात् जो विषय माया की रक्षा करते हैं वे मात्रा शब्द से लिये गये हैं। उन विषयों के स्पर्श मात्र से ही जिनके चित्त आतुर है। यहां 'मात्राभोगेच्छया' न कहकर 'मात्रास्पर्शेच्छया' कहा है इसलिए इसमें शब्द व्यंग्य है अर्थात् जैसे महापातकी का स्पर्श करना भी ठीक नहीं है वैसे ही विषयों के स्पर्श करने की इच्छा भी ठीक नहीं है। भगवल्लीला के अनुवर्णन होने पर उसके सुनने में लगा रहेगा। अतः विश्व का श्रवण नहीं होगा। श्रवण न होने पर उन विषयों की ओर आकृष्ट भी नहीं होगा। यदि फिर भी विषयों की ओर आकृष्ट होगा तो मानना चाहिये कि यह महारोग ग्रस्त हो गया। वैसी स्थिति में

परलोक के साधन में भी उसकी प्रवृत्ति न होगी । कदाचित् प्रवृत्ति कर भी ली तो भी उससे रोग ही पैदा होगा । जैसे ज्वर में खाये हुए पथ्य आदि ज्वर को चढ़ाते ही हैं वैसे ही यहां समझना चाहिये । भगवल्लीला का श्रवण विषयों का साधक नहीं है क्योंकि उसे उन विषयों के सुनने का अवसर ही नहीं प्राप्त होता । विषय प्राप्त होने पर भी इच्छा की निवृत्ति होने से कभी उस ओर प्रवृत्ति नहीं होगी । इस बात को 'मुहुः' शब्द कहता है । यह भगवल्लीलानुवर्णन संसार समुद्र से पार करा सकता है । यह मैंने देखा है । इस प्रकार साधन का निरूपण करके उस साधन का क्या रूप है उसको 'हरिचर्यानुवर्णनम्' से कहते हैं अर्थात् वह साधन हरि लीला का अनुवर्णन रूप है ।।३४।।

आभास—तस्य दृष्टोपायत्वं वदन् साधनान्तराणामतथात्वमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवल्लीला का अनुवर्णन रूप दृष्ट उपाय को बताते हुए दूसरे साधन ऐसे नहीं हैं इस बात को कहते हैं—

श्लोक—**यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ।**
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माऽद्धा न शाम्यति ।।३५।।

श्लोकार्थ—काम और लोभ की चोट से बार-बार घायल अन्तःकरण श्रीकृष्ण सेवा से जैसी प्रत्यक्ष शान्ति का अनुभव करता है वैसी शान्ति यम नियम आदि योग-मार्गों से नहीं मिल सकती ।।३५।।

सुबोधिनी **यमादिभिरिति** । चित्तसाधनार्थमेव योगः प्रवृत्तः । **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोध"** इति । तथापि स्वस्थे चित्ते तत्सम्भवः । प्राणिनां त्वन्तःकरणं मृतमस्ति । कामेन ज्वालितो लोभेन प्लावितः । तस्य हि मृतसञ्जीविकया विद्यया जीवनं भवति । यमादयश्च योगमार्गाः । तत्र यश्चलितुं शक्तस्तस्येष्टसिद्धिः । मुहुश्चाऽयं हत इति कामलोभपरवशत्वम् । उभयोर्बीजमन्तः क्रोधादेर्बहिरिति तयोर्ग्रहणम् । संसारमग्नानां मोक्षदातृत्वान्मृतसञ्जीवकत्वं मुकुन्दत्वम् । सेवा तु रोगनिवर्त्तिका । श्रवणेन चाऽन्तः प्रविशति भगवान् । तत्र चित्तं सेवां भावयति । अतः श्रवणप्रकरणेऽपि सेवोक्ता । यद्यपि भगवदाश्रितो योगोऽपि क्रमेण तथा करोति । सेवा त्वद्धा साक्षात् । योगसेवापेक्षयाऽपि योगेशसेवाया उत्तमत्वात् । **आत्मेति** । सजातीयस्य शीघ्रशामकत्वमित्यन्तःकरणस्याऽऽत्मपदप्रयोगः ।।३५।।

व्याख्यार्थ—चित्त को ठीक करने के लिए ही योग कहा गया है । जैसा कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' से कहा है । परन्तु वह योग चित्त के स्वस्थ होने पर ही हो सकता है । प्राणियों का अन्तःकरण मरा हुआ है और उसे काम ने जला दिया है तथा लोभ ने अपने प्रवाह में बहा दिया है । ऐसी स्थिति में वह अन्तःकरण मृत संजीवनी विद्या से ही जीवित हो सकता है ।

यम नियम आदि योग के मार्ग हैं । उसमें जो चलता है उसको कार्यसिद्धि होती है । परन्तु वह अन्तःकरण काम लोभ से बराबर दबाया गया है इसलिए उनके अधीन हो गया है । काम लोभ

का बीज भीतर है और क्रोध आदि का बीज बाहर है इसलिए अन्त:करण को बिगाड़ने वाले काम लोभ है । अत: श्लोक में उन्हीं का ग्रहण किया गया है । संसार में मग्न होने वालों को मोक्ष देने वाले मुकुन्द भगवान् हैं इसलिए वे मृत को जिलाने वाले हैं उनकी सेवा तो काम लोभ आदि रोगों को मिटाने वाली है । भगवल्लीला श्रवण से भगवान् प्राणी के अन्त:करण में प्रविष्ट होते हैं जब भगवान् अन्त:करण में प्रविष्ट होते हैं तब चित्त सेवा की भावना करता है । अत: श्रवण प्रकरण होते हुए भो सेवा कही गई है । यद्यपि भगवान् के लिए होने वाला योग भी परम्परया चित्त को शान्त बनाता है परन्तु सेवा तो साक्षात् ही शान्त बनाती है । योग की सेवा करने की अपेक्षा योगेश भगवान् की सेवा करना उत्तम है । अर्थात् योग साधन करने वाला योग को सेवा करता है और भगवान् की सेवा करने वाला योगेश की सेवा करता है । श्लोक में अन्त:करण का बोधक 'आत्मा' पद दिया गया है । तात्पर्य यह है कि अन्त:करण एवं भगवान् आत्मा शब्द से कहे जाते हैं इसलिए भगवान् का सजातीय प्राणी का अन्त:करण है । क्योंकि आत्मत्व दोनों में हैं । अत: साजात्य होने से भगवान् की सेवा से वह अन्त:करण शीघ्र शान्त हो जाता है ।।३५।।

आभास—इतोऽपि किञ्चिद्रहस्यं भविष्यतीत्याशङ्क्योपसंहरति—

आभासार्थ—इससे भी कोई रहस्य की बात और होगी इस आशङ्का का उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**सर्वं तदिदमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयाऽनघ ।**
जन्मकर्मरहस्यं मे भवतश्चाऽऽत्मतोषणम् ।।३६।।

श्लोकार्थ—हे निष्पाप व्यासजी ! आपने मुझसे जो कुछ पूछा था वह सब अपने जन्म और साधन का रहस्य तथा आपके आत्म तुष्टि का उपाय मैंने बता दिया ।।३६।।

सुबोधिनी—**सर्वं तदिति** । स्वत एव नारदो महानिति लोके प्रसिद्धिः । मया त्वेतावान् क्लेशोऽनुभूत इति रहस्यम् । तवाऽपि चित्तोद्वेगे हेतुरुक्त: सर्वत्र भगवान् हेतुरिति । कथने हेतु:—**आत्मतोषणमिति** । भगवत्प्रीतिहेतुरन्त:सुखजनकं वा ।।३६।।

व्याख्यार्थ—लोक में प्रसिद्धि है कि नारदजी अपने आप ही महान् बन गये, परन्तु मैं तो इतने कष्ट झेलने पर महान् बना हूं । यही रहस्य है, तुम्हारे चित्त में जो उद्वेग है उसके हेतु का भी मैंने वर्णन कर दिया, अर्थात् सभी कार्यों में भगवान् ही हेतु हैं । उक्त बात को कहने का कारण यह है कि 'आत्मतोषणम्' अर्थात् इसके सुनने से भगवान् में प्रीति होती है क्योंकि सुनने वाला यह समझता है कि नारदजी एक शूद्री के पुत्र होते हुए भी भगवान् को प्रीति से ब्रह्मा के पुत्र बन गये और जब चाहते हैं तभी दर्शन कर लेते हैं अत: प्रीति का फल महान् है इसलिए भगवान् में प्रीति करनी चाहिये अथवा 'आत्मतोषणम्' का यह अर्थ है कि अन्त:करण को सुख मिलता है ।।३६।।

आभास—नारदस्याऽद्याऽपि साधनपरत्वमिति ख्यापयितुमाह—

आभासार्थ—नारदजी इस समय भी साधन कर रहे हैं इस बात को बताने के लिए कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—एवं सम्भाष्य भगवान्नारदो वासवीसुतम् ।
आमन्त्र्य वीणां रणयन्ययौ याद्दच्छिको मुनिः ॥३७॥

श्लोकार्थ—श्री सूतजी कहते हैं–हे शौनकादि ऋषियों ! देवर्षि नारदजी ने व्यासजी से इस प्रकार कहकर जाने की अनुमति ली और वीणा बजाते हुए निःस्वार्थ नारदजी विचरण करने के लिए गये ॥३७॥

सुबोधिनी—एवमिति । भगवानिति प्रत्युपकारानपेक्षा । **वासवीसुतमिति अनुगमनाद्यभावात् ।** पूर्वोक्त सम्भाषणशेषत्वेनाऽनूद्य, **आमन्त्र्य** गच्छामीत्युक्त्वा, भक्तिमाग एव मार्ग इति ख्यापयितु वीणां रणयन्ययौ । **याद्दच्छिक इति** पुनरागमनसम्भावनाऽभावः । मुनित्वात्कार्यं सर्वं कृत्वा गतः ॥३७॥

व्याख्यार्थ– इस प्रकार बातचीत कर भगवान् नारद गये, नारदजी भगवान् हैं इसलिए वेद व्यासजी से उन्हें प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं है । क्योंकि भगवान् को सभी प्राप्त है । नारदजी जब चले व्यासजी उन्हें पहुँचाने नहीं गये, यह अविवेक बताने के लिए ही यहां व्यासजी को वासवी के पुत्र हैं यह कहा गया है इसी अर्थ को बताने के लिए 'वासवीसुतम्' कहा । पहले कही गई बात सम्भाषण का अङ्ग थी, इसका अनुवाद कर और जाता हूं यह कहकर भक्तिमार्ग ही मार्ग है यह बताने के लिए वीणा को बजाते हुए अर्थात् कीर्तन भक्ति करते हुए गये । नारदजी निष्प्रयोजन है इसलिए पीछे उनके आने की सम्भावना नहीं है । नारदजी मनन करने वाले होने से-मुनि हैं इसलिए वेदव्यासजी की सारी स्थिति को समझ गये अतः सब कार्य करके गये ॥३७॥

आभास—गते तु तस्मिन्नस्याऽपि हृदये भक्तिमार्गः समागत इत्यभिप्रायेण नारदवर्णनमाह—

आभासार्थ—नारदजी के चले जाने पर व्यासजी के हृदय में भी भक्तिमार्ग आ गया इसी अभिप्राय से यहां व्यासजी ने नारदजी का वर्णन किया है यह बात कहते हैं—

श्लोक—**अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः ।**
गायन्माद्यन् गिरा तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ॥३८॥

श्लोकार्थ—सभी लोग अपना ही सुख चाहते हैं परन्तु नारदजी प्राणी मात्र का सुख चाहते हैं इसलिए वेदव्यासजी आश्चर्यपूर्वक कहते हैं कि ये नारदजी धन्य हैं क्योंकि भगवान् की कीर्ति को गाते हुए स्वयं प्रसन्न होते हुए तापत्रय से दुःखी जगत् को भी वीणा से कीर्तन कर सुख पहुंचाते हैं ॥३८॥

सुबोधिनी—अहो इति । देवर्षिरिति दृष्टफलसिद्धिः। गायन्माद्यन्निति स्वतन्त्रभक्तिः । अयमेव परोपकार इति ज्ञातवान् । तदाह—रमयतीति ॥३८॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित-
विरचितायां प्रथमस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

व्याख्यार्थ—भक्ति करने से नारदजी देवर्षि बन गये । उनका देवर्षि बनना ही भक्ति का प्रत्यक्ष फल है । 'यायन्माद्यन्' इन दो पदों से नारदजी स्वतन्त्र भक्ति करते हुए गये यह कहा है । नारदजी स्वय कीर्तन करते हुए उपदेश दे रहे हैं कि सब को मेरी तरह भगवान् की भक्ति करनी चाहिये । यही नारदजी ने परोपकार किया । यही बात 'रमयत्यातुर जगत' इससे कही है ॥३८॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण प्रथम स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के वक्ता के हृत्प्रसाद प्रकरण का
षष्ठम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत संहिता ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका

हिन्दी अनुवादात्मक व्याख्या सहित

प्रथम स्कन्ध—अधिकार लीला

तृतीय प्रकरण—उत्तम अधिकार

अध्याय—७

❀ अश्वत्थामा के बाण से रक्षा ❀

कारिका—एवं त्रिभिर्मध्यमस्य स्वातन्त्र्येण निरूपणात् ।
नारदव्याससंवादं निरूप्याऽथोत्तमाऽभिधा ॥१॥
त्रयोदशभिरध्यायैः साधकोऽयं प्रजापतिः ।
स्वतन्त्र उत्तमस्यैव साऽधिकोऽयं निरूप्यते ॥२॥
द्वादशांगैश्च सहितो ह्यधिकारो निरूप्यते ।
हेतुः षड्भिर्विरक्तिश्च तथा स्वातन्त्र्यमन्तिमे ॥३॥
हेतुस्तु द्विविधः प्रोक्तः सामान्यः स त्रिधा मतः ।
विशेषः पञ्चधा प्रोक्तः सप्तमे त्रितयं जगौ ॥४॥

कारिकार्थ—इस प्रकार तीन अध्यायों से मध्यम प्रकरण का स्वतन्त्र रूप से निरूपण करके उसमें नारदजी और व्यास के संवाद का निरूपण किया। अब उत्तम प्रकरण का तेरह अध्यायों से निरूपण करते हैं। शङ्का होती है कि यह प्रकरण उत्तम कैसे है? तो कहते हैं कि इस उत्तमाधिकार में वर्णित भगवान् साधारण रूप जो प्रजा है उनके दीन होने से चारों ओर से उनका रक्षक होता हुआ वह भगवान्

उस प्रजा का साधक है इसलिए यह प्रकरण उत्तमाधिकार का प्रकरण है और कथा श्रवण कीर्तन रूप अधिकार भी स्वतन्त्र है इसलिए भी यह उत्तम प्रकरण है, इस प्रकार यहां इन दोनों कारणों से यह उत्तम है यह कहा गया है।

यद्यपि मध्यम प्रकरण में भी कार्य को सिद्ध करने वाले तो भगवान् ही हैं, तो भी नारदजी को दीन प्रजारूप नहीं होने से, प्रजापति रूप में भगवान् वहां साधक नहीं हैं।

प्रथम प्रकरण (हीनाधिकार प्रकरण) में अधिकार को स्वतन्त्रता नहीं है और इस प्रकरण में (तीसरे उत्तम प्रकरण में) तो प्रजा के पति होने से भगवान् साधक हैं और श्रोता तथा वक्ता के अधिकार स्वतन्त्र हैं इसलिए यह प्रकरण उत्तम प्रकरण रूप है।

बारह अङ्गों सहित अधिकार का निरूपण होने से इस प्रकरण के तेरह अध्याय हैं। इनमें छः अध्याय से अधिकार के कारण का तथा छः अध्यायों से वैराग्य का निरूपण किया गया है। अन्तिम अध्याय में अधिकार की स्वतन्त्रता निरूपित है।

सप्तम अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक हेतु के छः अध्याय हैं। हेतु के सामान्य और विशेष—ये दो भेद हैं। इसमें सामान्य हेतु तीन प्रकार का है और विशेष हेतु पाँच तरह का है। सामान्य हेतु के तीन भेद सातवें अध्याय में वर्णित हैं और बाकी के पाँच अध्यायों में विशेष हेतु के पाँच भेद कहे हैं।

शङ्का होती है कि हेतु के छः अध्याय बताये हैं और उसके भेद में सामान्य हेतु तीन प्रकार का है और विशेष हेतु पाँच प्रकार का है। इस तरह दोनों मिलाकर आठ भेद होने से आठ अध्याय होने चाहिये। तो इसके उत्तर में कहते हैं कि—

सप्तम अध्याय में श्री भागवत की उत्पत्ति, प्रवृत्ति और भक्तों का मनोरथ पूर्ण करना है इसलिए अश्वत्थामा को छोड़ देने से, भीम तथा द्रौपदी वगैरह का मनोरथ पूर्ण करना ये तीन सामान्य हेतु इस सातवें अध्याय में बताये हैं।

यद्यपि भक्तों का मनोरथ पूर्ण करना यह विशेष हेतु है तो भी वह देह की रक्षा करने रूप में है इसलिए उसे सामान्य हेतु रूप माना है॥१—४॥

इस प्रकरण में कथा का श्रवण और कीर्तन रूप उत्तम अधिकार का निरूपण स्वतन्त्र रूप से करना है। इसी प्रकार वह अधिकार हेतु और वैराग्य युक्त होने पर ही उत्तम होता है। उसमें हेतु भगवान् हैं, क्योंकि महान् श्रोता के रूप में भागवत के श्रोता परीक्षित का भगवान् ने बड़े क्लेश से पालन किया है। वह भगवान् सर्वोत्तम हैं (ऐसा १२वें अध्याय का अभिप्राय है) और सबसे जानने योग्य है (ऐसा ११वें अध्याय का अभिप्राय है) सबको मुक्ति देने वाला है (ऐसा १०वें अध्याय का अभिप्राय है) सबको ज्ञान देने वाला है (ऐसा ९वें अध्याय का अभिप्राय है) प्रत्येक के प्रत्येक दुःख की निवृत्ति कर भक्ति देने वाला है (ऐसा ८वें अध्याय में कहा है) और भक्तों का मनोरथ पूर्ण करने वाला है (यह ७वें अध्याय का अभिप्राय है) ऐसा भगवान् महान् प्रयत्न द्वारा स्वय उद्यम कर जिसका पालन करता है ऐसा व्यक्ति मूल से ही भागवत सुनने में मुख्य अधिकारी है। इस तरह ६ अध्यायों से निरूपण होता है।

अभास—अत्र ह्युत्तमोऽधिकारो निरूपणीयः स्वतन्त्रतया कथाश्रवणकीर्त्तनरूपः। स च हेतुवैराग्याभ्यां सहित उत्तमो भवति। हेतुर्भगवान्महता क्लेशेन भागवतश्रोतारं पालितवान्। यस्तु सर्वोत्तमः, सर्वमृग्यः, सर्वेषां मुक्तिदाता, सर्वेषां ज्ञानदः, सर्वेषां सर्वद्दुःखनिवृत्तिपूर्वकभक्तिप्रदो, भक्तमनोरथपूरकश्च, स स्वयमुद्यम्य महता प्रयत्नेन यं पालयति स मूलतो भागवतश्रवणे मुख्याधिकारी। एवं षड्भिरध्यायैर्निरूप्यते। यस्याऽधिकारी निरूपणीयः प्रथमं स निरूपणीयः। तद्वक्ता च। अतः सप्तमेऽध्याये भागवतोत्पत्तिप्रवृत्ती भक्तानां मनोरथपूरणं च निरूप्यते। तत्र प्रथमं शौनको भागवतोत्पत्तिप्रश्नमाह—

आभासार्थ—भागवत के अधिकारी का निरूपण करना है, इसलिए भागवत का तथा उसके वक्ता का पहले निरूपण करना चाहिये अतः सप्तम अध्याय में श्री भागवत की उत्पत्ति, प्रवृत्ति और भक्तों का मनोरथ पूर्ण करना चाहिये। उसमें शौनक ऋषि प्रथम श्री भागवत की उत्पत्ति के बारे में प्रश्न करते हैं—

शौनक उवाच—श्लोक—**निर्गते नारदे सूत भगवान्बादरायणः।**
श्रुत्वा तु तदभिप्रेतं ततः किमकरोद्विभुः ॥१॥

श्लोकार्थ—शौनक पूछते हैं कि—व्यासजी के आश्रम से नारदजी के चले जाने पर उनके अभिप्राय को सुनकर भगवान् वादरायन ने फिर क्या किया? ॥१॥

सुबोधिनी निर्गत इति । **भगवानिति** सहजशक्तिः । **बादरायण** इत्यागन्तुकतपश्शक्तिः । बदरफलेन वर्त्तमानो बादरायणः । तदभिप्रायं भगवद्गुणानां याथात्म्यप्रतिपादकग्रन्थकरणम् ।।१।।

व्याख्यार्थ– श्लोक में वेदव्यास का विशेषण "भगवान्" है जिससे यह बताया है कि उन वेदव्यास में सहज शक्ति थी क्योंकि वे षडैश्वर्य युक्त थे । "वादरायण" पद से यह बताया गया है कि वेदव्यास ने वैर के फल खाकर तप किया था उस तप से उनमें आगन्तुक तप की शक्ति भी थी । ऐसे भगवान् व्यास ने नारदजी के इस अभिप्राय को कि "भगवद्गुणों का यथार्थ प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ आप बनावें" सुनकर फिर उन्होंने क्या किया ? ।।१।।

आभास—नारदवचनानन्तरं भगवदिच्छानिर्द्धारार्थं समाधिं कृतवान् । तत्र शुद्धे देशे भगवदाविर्भावः शुद्धिश्च देवयजन इति व्यासनिवासस्थानस्य देवयजनत्वमाह—

आभासार्थ—नारदजी के वचन सुनने के बाद भगवान् की इच्छा जानने के लिए व्यासजी समाधि स्थित हुए । शुद्ध देश में भगवान् का आविर्भाव होता है और जहां देवताओं का यज्ञ होता हो वह स्थान शुद्ध समझा जाता है । इसलिए व्यासजी का निवास स्थान देवयजन रूप (देवताओं का जहां यज्ञ हुआ है ऐसा) था इसी बात को सूतजी कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक— **ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे ।**
शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्द्धनः ।।२।।

श्लोकार्थ—जहां वेदाध्ययन होता था और जहां ब्राह्मण रहते थे ऐसी सरस्वती नदी के पश्चिमी तट पर ऋषियों के (यज्ञ) कर्म को बढ़ाने वाले शम्याप्रास नाम से प्रसिद्ध व्यासजी का आश्रम था ।।२।।

सुबोधिनी—ब्रह्मनद्यामिति । सामीप्ये सप्तमी । ब्रह्मदैवत्यां **सरस्वत्यामिति** तत्रैव वेदादिविद्यास्फूर्त्तिः सहजा । **पश्चिमे तट इति** । पुरतो नदी देवयजने भवति । पुरो हविश्च । तद्देवयजनम् । किञ्च । **शम्याप्रास इति प्रोक्तः** । शम्या प्रास्यते अस्मिन्निति **शम्याप्रासः** । तदग्नेः प्रियं धाम भवति । तदैवाऽग्निः स्वस्थानादाशम्याप्रासादपक्षा(?)इति । यदि परस्तरामपक्षायेदिति(?)वा । शम्या प्रास्यते अस्मादिति वा । तस्य स्थानस्य बलमाह । ऋषीणां सत्रं वर्द्धयतीति ।।२।।

व्याख्यार्थ—श्लोक में आये ब्रह्मनद्याम् में ब्रह्म पद से वेद ब्राह्मण और तप लिये गये हैं । उस नदी के पास ब्राह्मण रहते थे वेदपाठ होता था और तप होता था इसलिए यहां सरस्वती नदी को ब्रह्म नदी पद से कहा गया है । 'ब्रह्मनद्याम्', 'सरस्वत्याम्' में समीप अर्थ में सप्तमी है । अर्थात् उस नदी के समीप में ब्राह्मण बैठे हुए वेदाध्ययन कर रहे थे ऐसी वह सरस्वती नदी थी । समीप में व्यासाश्रम था इसलिए वहीं वेदादि विद्या की स्फूर्त्ति सहज हो सकती है । उस नदी के पश्चिमी तट पर देवयजन था । जिस स्थान के सामने नदी और हवि होती है वह देवयजन स्थान है और उसे

वाला एक काष्ठ का बना हुआ आयुध होता है जो यज्ञ का आयुध कहलाता है। शमी पद से उसी आयुध को यहां कहा गया है। उस आयुध को बलपूर्वक जहां फेंका जाय उसी स्थान का नाम शम्याप्रास है। वही "गार्हपत्यादि" अग्नि का प्रिय स्थान होता है। जब वह अग्नि का प्रिय स्थान हो जाता है तभी गार्हपत्यादि अग्नि उस जगह वहां इस प्रकार शमी फेंकी जाती है वह अपने अग्नि कुण्ड से अङ्गार रूप में बाहर निकलकर उस प्रदेश में स्वयं पड़ती है। अथवा वह अग्नि उस स्थान से कहीं अन्यत्र पड़ जाय तो वह स्थान भी शम्याप्रास कहलाता है। अथवा जिस स्थान से शमी फेंकी जाती है वह स्थान भी शम्याप्रास कहलाता है। ऐसे शम्याप्रास स्थान का बल कहते हैं कि 'ऋषीणां सत्रवर्धनः' वह स्थान ऋषियों के कर्म को बढ़ाने वाला होता है। वहीं व्यास का आश्रम था ।।२।।

आभास—एवं देवयजनत्वं निरूप्य तत्र व्यासस्य समाधिमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार उस स्थान को देवयजन बताकर उसी स्थान में व्यासजी ने समाधि लगाई यह कहते हैं—

श्लोक—**तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते ।**
आसीनोऽप उपस्पृश्य मनः प्रणिदधौ स्वयम् ।।३।।

श्लोकार्थ—बोर के वृक्षों के समूह से शोभित उस परमानन्द देने वाले अपने आश्रम में आचमन कर बैठे हुए स्वयं व्यासजी ने मन को स्थिर किया ।।३।।

सुबोधिनी—तस्मिन्निति । स्व आश्रम इति । अपराधीनत्वेन निर्भयचित्तप्रसादहेतौ । **व्यास-** इत्यधिकारी । बदरीखण्डमिति(?)वा पाठः । बदरी अमृतदरी परमानन्ददायिनी । तस्याः षण्डः समूहः । खण्डो वा । तेन च मण्डिते । अनेन तपःस्थान मोक्षस्थानं च तदिति सूचितं भवति । तस्मिन्नासीनः । सर्वदेवताप्रसादाय चाऽऽचमनम् । **"यत् त्रिराचामति तेन ऋचः प्रीणाती"**ति श्रुतेः । योगेन साधितं मनः । तदुक्तमार्गव्यतिरेकेण स्वतन्त्रतया यदत्र भगवतोऽभीष्टं तत्स्फुरिष्यतीति बुद्ध्या स्वयं मनः स्थिरीकृतवान् ।।३।।

व्याख्यार्थ—स्वे आश्रमे का तात्पर्य यह है कि यह आश्रम उनका खुद का था। अपने आश्रम में मनुष्य निभय और प्रसन्न चित्त से रहता है। अस्तु व्यासजी अपने आश्रम में थे इसलिए पराधीन न होने से उनमें निर्भयता थी और चित्त में प्रसन्नता थी। वे व्यास थे वेदों का विभाजन करने वाले थे इसलिए वे भगवान् में मन को स्थिर करने के अधिकारी थे।

'बदरीषण्डमण्डिते" बदरी याने अमृत की गुफा जो कि परमानन्द देने वाली थी। वह स्थान ऐसी गुफाओं के समूह से शोभित था। श्लोक में आये बदरीषण्ड की जगह वदरीषण्ड पाठ मानते हैं तो उसका अर्थ होगा कि वोर वृक्ष की लकड़ी वहां पड़ी हुई थी उनसे वह शोभित था। इस प्रकार बदरी शब्द को वृक्ष अर्थ में रूढ मानते हैं

हैं। अर्थात् 'ब' माने अमृत और 'दरी' याने गुफा (ब अमृत बीज होने से ब से अमृत परमानन्द (मोक्ष) लिया गया उसकी दरी अर्थात् वहां मोक्ष को देने वाली गुफायें थी-ऐसी गुफा समूह से वह स्थान शोभित था यह अर्थ होता है। इस प्रकार के अर्थों से यह सूचित होता है कि वह तपश्चर्या का एवं मोक्ष का स्थान था। उस स्थान में बैठे हुए व्यासजी ने सब देवताओं को प्रसन्न करने के लिए आचमन किया। श्रुति में कहा है कि "यत् त्रिराचामति तेन ऋचः प्रीणाति" तीन बार आचमन करने से ऋचायें (तथा उनके देवता) प्रसन्न हो जाते हैं।

नारदजी के बताये हुये मार्ग से भिन्न कोई स्वतन्त्र मार्ग भगवान् को अभीष्ट होगा तो उसका स्फुरत मुझे होगा इस बुद्धि से व्यासजी ने योग से ठीक किये हुये मन को स्थिर किया ॥३॥

आभास—तदा समाधिभाषाविषयाः पदार्था स्फुरिता इति तान्वर्णयितुं प्रथमं तदाधारं वर्णयति—

आभासार्थ—तब भागवत के वर्णनीय पदार्थ स्फुरित हुए इसलिए उनका वर्णन करने के लिए उन पदार्थों का आधार जो मन है उसका वर्णन करते हैं—

श्लोक—**भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।**
अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयाम् ॥४॥

श्लोकार्थ—भक्तियोग से निर्मल इसीलिए अच्छे रूप में स्थिर मन में पूर्ण पुरुषोत्तम को तथा उसके अधीन माया को देखा ॥४॥

सुबोधिनी—भक्तियोगेनेति। वायुवशात्स्थिरीभूतञ्चेद्योगमार्गो, भक्तिमार्गेण स्थिरीभूतञ्चेन्नारदवद्भगवत्स्फूर्तिरिति तदाह—**भक्तियोगेनेति**। निःकामत्वादमले। तत्र यद्दृष्टवांस्तदाह—**अपश्यदिति** द्वयेन। **साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिरुत्तमा। तया सर्वत्र सम्मोहः साक्षाद्भक्तिश्च** मोचिकेति। पूर्णं पुरुषं पुरुषोत्तमम्। जीवराशिभिराकीर्णं ब्रह्माण्डकोटिभिर्वा। मायां चाऽपश्यद्भगवदेकशरणाम् ॥४॥

व्याख्यार्थ—मन यदि वायु-वश से स्थिर होता है तो वह योगमार्ग है और भक्तिमार्ग से यदि स्थिर होता है तो नारदजी की तरह भगवान् की स्फूर्ति होती है। इसी बात को भक्तियोगेन से कहा है। मन को भक्तियोग से स्थिर किया इसलिए मन निष्काम था अतएव निर्मल था। उस मन में जो देखा उसको "अपश्यत्" आदि से कहते हैं।

व्यासजी ने क्या देखा? (समाधि में शुद्ध साकार ब्रह्म को और उसकी उत्तम शक्ति जो माया है जिससे कि सर्वत्र मोह हो रहा है उसको तथा साक्षात् मुक्ति देने वाली (माया से छुटकारा कराने वाली) भक्ति को देखा) अर्थात् भक्ति ही माया को छुड़ाने वाली साक्षात् है परम्परया नहीं यह देखा।

श्लोक में आये हुए "पुरुषम्" की पुरा आस याने सबसे पहले रहने वाला । ऐसी व्युत्पत्ति करने पर पुरुषोत्तम लिया ही जाता तो फिर "पूर्णम्" पद देने की क्या आवश्यकता है ? ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं कि पूर्ण पद यहां यह सूचित करने के लिए दिया है कि भगवान् जीवों के समुदाय से अथवा ब्रह्माण्ड कोटि से व्याप्त है। ऐसे पुरुषोत्तम को तथा एक मात्र जिसका भगवान् ही आश्रय है ऐसी माया को व्यासजी ने देखा ॥४॥

आभास—तस्याः कार्यं चाऽपश्यत्—

आभासार्थ—और माया के कार्य को भी देखा—इसी बात को कहते हैं कि—

श्लोक—**यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।**
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाऽभिपद्यते ॥५॥

श्लोकार्थ—जिस माया से मोहित जीव वस्तुतः माया के गुणों से अलग रहता हुआ भी अपने को गुणत्रयात्मक जड़रूप मानता है और गुणत्रय के अभिमान से होने वाले जन्म मरणादि को प्राप्त करता है ॥५॥

सुबोधिनी—**यया सम्मोहित इति** । यद्यपि प्रपञ्चोऽपि तस्याः कार्यं तथापि तत्र करणत्वेन तस्या अन्वयः । सम्मोहने तु कर्तृत्वेन । स्वातन्त्र्यात् । अतस्तदेवाऽऽह—**ययेति** । वस्तुतो जीवोऽपि ब्रह्मैवेति परोऽपि प्रकृतेर्नियामकोऽपि त्रिगुणात्मकं गुणत्रयभावापन्नं जडरूपं मन्यते । तत्कृतं चाऽनर्थं जन्ममरणादि प्राप्नोति ॥५॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि प्रपञ्च भी माया का कार्य है तथापि जगत् के निर्माण में वह माया-घट बनाने में दण्ड की तरह करण है, उस कार्य में स्वतन्त्र न होने से कर्त्री नहीं है । सम्मोहन करने में वह स्वतन्त्र होने से कर्त्री है । इसी बात को 'यया सम्मोहितः' में जो यया हैं वहां करण में तृतीया न होकर कर्त्ता में तृतीया देकर कहा है ऐसा श्री आचार्य का अभिप्राय है अर्थात् वह जीवों के सम्मोहन में कर्त्री है । कर्त्ता वहां होता है जो स्वतन्त्र होता है । वास्तव में जीव ब्रह्म का अंश है इसलिए ब्रह्म ही है । ब्रह्म होने से वह प्रकृति का नियामक होता हुआ भी गुणत्रय रूप जड़ देह को अभिन्नरूप से स्वीकार करता है और देहादि के साथ अभिन्नरूपता समझने से ही गुणत्रय से होने वाले जन्म मरणादि को वह जीव प्राप्त करता है ॥५॥

आभास—तत्र निस्तारोपायं चाऽपश्यदित्याह—

आभासार्थ—माया से छुटकारा पाने का उपाय भी व्यासजी ने देखा—यही कहते हैं—

श्लोक—**अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे ।**
लोकस्याऽजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥६॥

श्लोकार्थ—जन्म मरणादिरूप अनर्थ को दूर करने वाला जो भगवान् में भक्ति-योग है उसे भी देखा । यह सब कुछ देखकर स्वय जानते हुए भी वेदव्यास ने इसको नहीं जानने वाले लोकों के उपकार के लिए श्री भागवत संहिता को बनाया ।।६।।

सुबोधिनी—**अनर्थोपशममिति** । ज्ञानकाशया मायया मोह इति म ज्ञाने विश्वासः कर्तुं शक्यः । ननु साधनैरुत्पन्नं ज्ञानमकस्मादुत्पन्नं मायेति सन्देहो न भविष्यतीति चेन्न । साधनानामपि द्विरूपत्वात् । कार्त्स्न्येनाऽनभिव्यक्तत्वादिभिस्तन्निर्णयेऽपि न साक्षात्तस्याऽनर्थनिवर्त्तकत्वम् । यथा दर्पणे मुखं नास्तीति प्रतीतिदार्ढ्येऽपि दर्पणरूपदोषस्य विद्यमानत्वात्कदाऽपि न मुखाभावप्रतीतिः । दर्पणाभावश्च न ज्ञानसाध्यः । तथा मूलभूताया मायाया विद्यमानत्वान्न कदाऽप्यनर्थनिवृत्तिः । शास्त्रप्रामाण्येन ससाधने ज्ञानेऽपि जाते पुनर्मायया मोहः । **"ज्ञानिनामपि चेतांसी"**ति वाक्यात् । शास्त्रं तु भक्तिद्वारा साधकं वदति । साक्षाद्भक्त्या वा अनर्थनिवृत्तौ ज्ञानमिति । **"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"** । **एवकारेण सर्वेषामनुपायत्वमाह हि** । अतः साक्षादनर्थनिवृत्तिहेतुर्भक्तिरेव । दृष्टे सा लौकिकी कर्म वेति तद्व्यावृत्त्यर्थम्—**अधोक्षज इति** । इन्द्रियातीते भक्तिः शास्त्रीयैव । अनेन वस्तुत एवमेव पदार्था नाऽन्यथेति बोधितम् । अन्यथापदार्थनिरूपणं तु ऋषीणां बुद्धिदोषात् । योगोऽपि राजसादिभिस्तद्भावापन्न इति न वस्तुयाथात्म्यं बोधयति । अन्यथा विवादो न स्यात् । तस्माद्भगवद्वाक्येन वेदेन वा संवादो योगजधर्मः पदार्थयाथात्म्य बोधयति नाऽन्यः । तस्मान्नारदवाक्येन फलसंवादिना भगवद्वाक्येन संवादियोगात्प्रमाणमिति ज्ञात्वा अजानतो लोकस्याऽर्थे स्वयं युक्तिसहितं ज्ञात्वा **सात्त्वतसंहितां** भगवत्प्रोक्तपदार्थप्रतिपादिकां वेदत्वाय संहितां चक्रे ।।६।।

व्याख्यार्थ—शङ्का होती है कि अविद्या (अज्ञान) से मोह होता है और उसकी निवृत्ति ज्ञान से ही सम्भव है तो मोह निवृत्त करने के लिए ज्ञान को दिखाना ठीक था, भक्ति, मोह निवृत्त करने वाली है ऐसा कैसे बताया ? तो श्री सुबोधिनी व्याख्यान में कहते हैं कि "ज्ञानकाशया" अर्थात् ज्ञान से प्रकाशित माया से मोह होता है ऐसी दशा में ज्ञान का रूप सन्दिग्ध है इसलिए ज्ञान हमारे अनर्थक (जन्म मरणादि) का निवर्त्तक हो जायगा ऐसा विश्वास नहीं कर सकते ।

शङ्का होती है कि ज्ञान तो साधनों से पैदा होता है और माया अकस्मात् उत्पन्न होती है इसलिए ज्ञान और माया के विषय में सन्देह नहीं हो सकता । तो उत्तर देते हैं कि साधन भी दो प्रकार के हैं । १. मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनाऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् अणु २. अद्विपा वहां कहा है कि स्वप्न सृष्टि केवल मायिक है । दूसरे का व्यामोह करने वाली शक्ति विशेष का नाम माया है । जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक सृष्टि मिथ्या है उसी प्रकार मायिक सृष्टि (स्वप्न सृष्टि) मिथ्या है । क्योंकि वस्तु के होने में देश काल विषय का सन्निधान है । इन्द्रियों का व्यापार और कोई बाधक न होना अपेक्षित है । वो स्वप्न सृष्टि में नहीं है इसलिए स्वप्निक सृष्टि मिथ्या है अर्थात् मायिक चीज मिथ्या होती है । तो जिसको साधन सम्पादक योग्य देह मिल गया है । माया से गुण दोषों का सम्बन्ध ऐसे जीव में नहीं होता । इससे यह सिद्ध हुआ कि माया मिथ्या वस्तु को और ज्ञान सत्य वस्तु को दिखता है इसलिए ज्ञान के स्वरूप का निर्णय हो गया तब भी वह ज्ञान जन्म मरणादि का निवर्त्तक नहीं हो सकता । ज्ञान साक्षात् जन्म मरणादि को नही मिटा सकता क्योंकि ज्ञान की स्थिति में माया रहती है और माया की स्थिति में जन्म मरणादि होंगे । जैसे मानव को दर्पण में

मुख नहीं है ऐसा ज्ञान दृढ़ है तब भी काचरूप दोष के रहने से कभी भी दर्पण में मुख नहीं है (नहीं दीखे) ऐसा नहीं होता । ऐसे ही ज्ञान होने पर भी माया के रहने से जन्म मरणादि रूप अनर्थ अवश्य होगा । जैसे ज्ञान से दर्पण का अभाव नहीं हो सकता वैसे ही ज्ञान से माया का भी अभाव नहीं होता और जब तक अनर्थ की मूलभूत माया विद्यमान है तब तक कभी भी जन्म मरणादि की निवृत्ति नहीं हो सकती ।

शङ्का करते हैं कि जन्म मरणादि को प्राप्ति मोह से होती है और वह मोह यदि ज्ञान से निवृत्त हो गया तो माया के रहते हुए भी वह माया उसका कुछ नहीं कर सकेगी । यदि ऐसा नहीं मानें तो ज्ञान से जन्म मरणादि की निवृत्ति हो जाती है-ऐसा बताने वाले शास्त्रों का अप्रामाण्य हो जायगा । तो इसके उत्तर में कहते हैं कि शास्त्र प्रमाण से साधन सहित ज्ञान के होने पर भी फिर से माया का मोह हो जाता है जैसा कि "ज्ञानिनामपि चेतांसि" से कहा गया है । अर्थात् भगवान् की माया ज्ञानियों के चित्त को भी बलात् मोहयुक्त बना देती है इसलिए माया निवृत्ति आवश्यक है ।

शास्त्र में ज्ञान से जो अनर्थ की निवृत्ति बताई है उसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान से भक्ति होती है और भक्ति से अनर्थ की निवृत्ति होती है । अस्तु ज्ञान अनर्थ की निवृत्ति में परम्परया कारण है साक्षात् नहीं ।

अथवा साक्षात् भक्ति से अनर्थ (जन्म मरणादि) के निवृत्त होने पर ज्ञान पैदा होता है । माया से मोह होने पर ही जन्म मरणादि होते हैं । वह माया भगवच्छरणागति से दूर हो जाती है । जैसा कि "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतान्तरन्तिते" अर्थात् जो मेरी ही शरण लेते हैं वे इस माया को तिर जाते हैं । "मामेव" में जो "एव" कार है वह यह बताता है कि माया की निवृत्ति का कोई दूसरा उपाय नहीं है । अत: अनर्थ निवृत्ति का साक्षात् कारण भक्ति ही है ।

जो दृष्ट वस्तु होती है उसमें भक्ति लौकिकी अथवा कर्म रूप हो सकती है परन्तु भगवान् तो इन्द्रियातीत होने से नहीं दीखने में आते इसलिए उसमें शास्त्रीय ही भक्ति हो सकती है । इसी तात्पर्य से यहां "अधोक्षजे" कहा है । अर्थात् इन्द्रिय जन्य ज्ञान उससे नीचे ही रह जाता है । लौकिक इन्द्रियों से उसका ज्ञान नहीं होता । इससे यह सिद्ध हुआ कि वास्तव में माया की निवृत्ति में भक्ति ही कारण है और उसी से जन्म मरणादि मिट सकते हैं । अन्यथा नहीं । ज्ञान से अनर्थ की निवृत्ति होती है-यह जो ऋषियों का कहना है वह उनकी बुद्धि के दोष से है ।

राजस, सात्त्विक, तामस व्यक्तियों से होने वाला योग भी राजस, सात्त्विक, तामस होने से वस्तु की यथार्थता को नहीं बताता । यदि वस्तु की यथार्थता को बताना हो तो विवाद ही क्यों हो । इसलिए भगवद्वाक्य के अनुसार ही अथवा वेद के अनुसार ही होने वाला योगज धर्म पदार्थ की यथार्थता को बता सकता है दूसरा नहीं ।

नारदजी के फल संवादी वाक्य से और भगवद्वाक्य के अनुसार होने से यह बात प्रामाणिक है ऐसा ज्ञान कर नहीं जानने वाले लोगों के लिए स्वयं युक्ति सहित जानकर भगवान् से कहे गये पदार्थों का प्रतिपादन करने वाली भागवत संहिता को बनाया ।

यहां "संहिता" पद इसलिए दिया गया है कि भागवत में वेदत्व है । जैसे यजुर्वेद संहिता आदि वेद हैं उसी तरह यह भागवत संहिता है इसलिए वेद के तुल्य है ।।६।।

आभास—ननु किमनया संहितया । पदार्थज्ञानैर्वा किम् । साधनकथनेऽपि प्राणिनां तथाऽधिकाराभावाद्व्यर्था संहिता । इत्याशङ्क्य तस्याः फलमाह—

आभासार्थ—इस भागवत संहिता से क्या फल है ? और माया ज्ञान भक्ति आदि पदार्थों के ज्ञान से भी क्या फल है ? साधन कहने पर भी प्राणियों को वैसे साधन करने का अधिकार नहीं है इसलिए यह भागवत संहिता व्यर्थ है ऐसी आशङ्का कर उसका (भागवत का) फल कहते हैं—

श्लोक—अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे ।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ।।७।।

श्लोकार्थ—जिस भागवत संहिता के सुनने से ही कालादि नियन्ता जो परम पुरुष कृष्ण है उसमें मनुष्यों की (स्वतन्त्र पुरुष की) शोक, मोह, भय को दूर करने वाली भक्ति पैदा हो जाती है ।।७।।

सुबोधिनी—**अस्यां वै श्रूयमाणायामिति** । भक्त्युत्पत्तिपर्यन्तमियं श्रोतव्या । इयं च दृष्टद्वारा भक्तिजनिका । दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । यथा चाऽस्या दृष्टोपयोगस्तदुपपादितं प्रथमश्लोके । **कृष्णे** आविर्भूते भगवति । **परमपूरुषे** । सर्वप्रमाणसमन्वये कालादिनियन्तरि वा । भक्तिरुत्पद्यते स्वतन्त्रस्य शोकमोहभयानि रजस्तमस्सत्त्वकार्याणि । तान्यपहन्तीति तथा । अनर्थनिवृत्तिर्दूरे । गुणकार्यमात्रमेव निवर्त्तत इत्यर्थः ।।७।।

व्याख्यार्थ—भक्ति की उत्पत्ति पर्यन्त इस संहिता को अवश्य सुनना चाहिये । यह (दृष्ट से) सुनने से ही भक्ति पैदा कर देती है । अर्थात् जैसे यज्ञादि करने से उस अदृष्ट से कालान्तर में फल मिलता है वैसा यहां (भागवत में) नहीं है । यहां तो देखे गये श्रवण के द्वारा उसी समय भक्तिरूप फल मिल जाता है । दृष्ट जब सम्भव है तब अदृष्ट की कल्पना करना ठीक नहीं है । जिस प्रकार इस भागवत का दृष्ट में उपयोग होता है इस बात को भागवत के प्रथम श्लोक जन्माद्यस्य की सुबोधिनी व्याख्यान में यथाहि वेदा यज्ञीया से लेकर भागवत संहिता पर्यन्त से कहा है । अथवा यों कहिये कि इस श्लोक से पहला श्लोक जो "अनर्थोपशमम्" है उससे कहा है ।

श्लोकस्थ "कृष्णे" पद से "प्रकट हुए कृष्ण भगवान् में" ऐसा सूचित होता है क्योंकि प्रकट हुए भगवान् का नाम ही कृष्ण है ।

"परमपूरुषे" का तात्पर्य यह है कि जिन भगवान् में सभी प्रमाणों का समन्वय है अथवा जो भगवान् काल कर्म स्वभावादि का नियामक है उस भगवान् में स्वतन्त्र पुरुष की अर्थात् दूसरे देवता एवं दूसरे साधनों में निष्ठा नहीं रखने वाले पुरुष की भक्ति उत्पन्न हो जाती है । श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि—कृष्णे और परमपुरुषे ये दो पद देकर यहां यह बताया है कि कृष्ण को परम

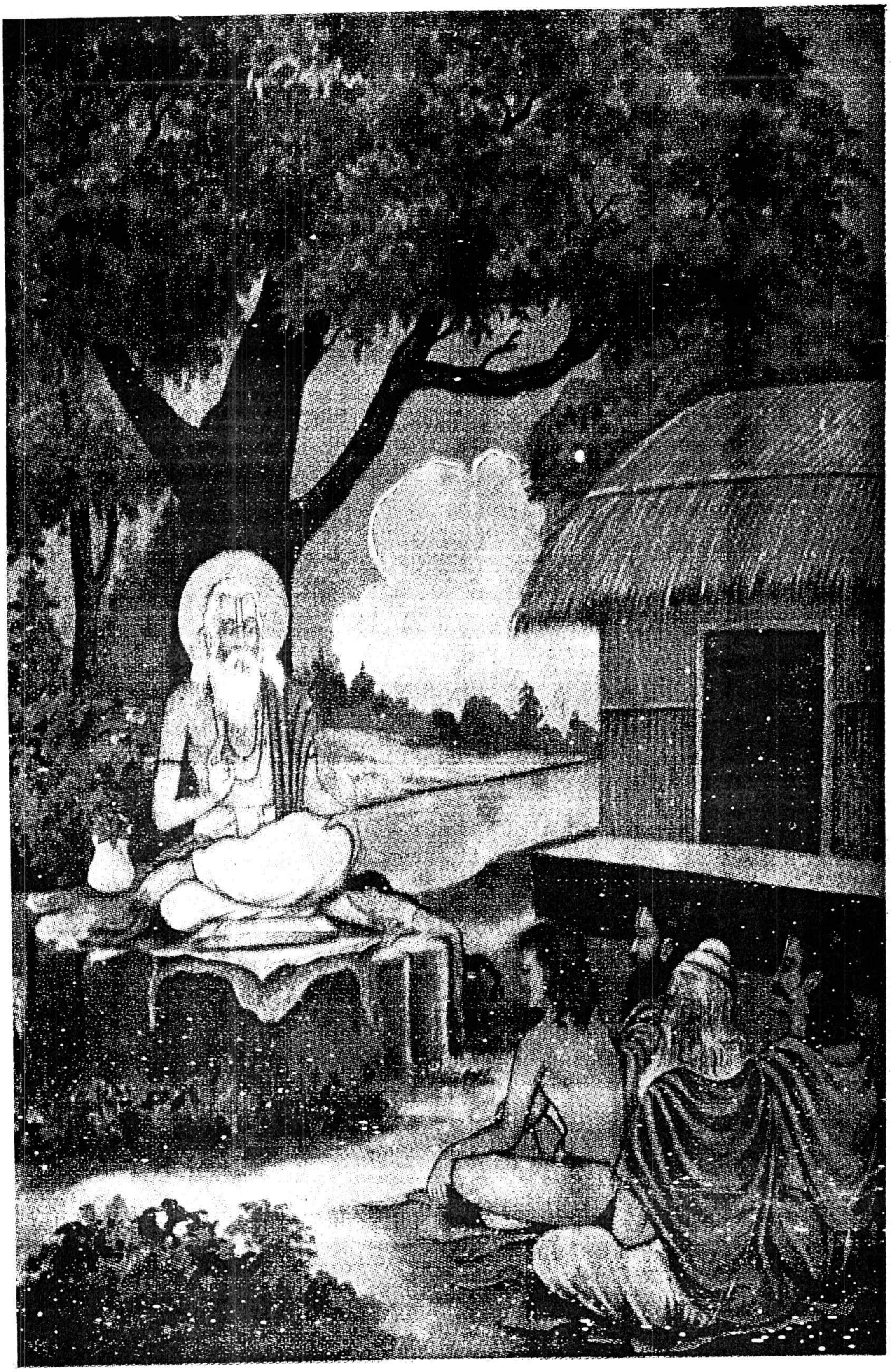

श्रीशुकदेव मुनि भगवान् व्यासदेवसे भागवत पढ़ रहे हैं।

पुरुष मानकर जो भक्ति करते हैं वे उत्तराधिकारी हैं और जो कृष्ण ही मानकर उनमें प्रेम करते हैं वे मध्यम और प्रथमाधिकारी हैं । इस प्रकार भक्ति रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुण के कार्यरूप शोक मोह भय को दूर करने वाली होती है । (उससे जन्म मरणादि की निवृत्ति होना तो एक साधारण सी बात है । गुण का कार्य मात्र ही निवृत्त हो जाता है तो) ।।७।।

आभास—एवं भागवतस्योत्पत्तिमुक्त्वा प्रचारमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार भागवत की उत्पत्ति कहकर उसका प्रचार कैसे हुआ सो कहते हैं—

श्लोक—**स संहितां भागवतीं कृत्वाऽनुक्रम्य चाऽऽत्मजम् ।**
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः ।।८।।

श्लोकार्थ—श्री वेदव्यास मुनि ने भगवत्सम्बन्धिनी इस संहिता को बनाकर उसको क्रमबद्ध कर निवृत्ति में परायण अपने पुत्र शुकाचार्य को पढ़ाया ।।८।।

सुबोधिनी – **स संहितामिति** । संहितां भागवतीमित्यनुवादो बहुसंहिताकरणादन्यव्यावृत्त्यर्थः। अनुक्रमेण शोधयित्वा आनुपूर्व्येण वा । इदमन्येन न प्रसृतं भविष्यतीति स्वतद्दृशं पुत्रमध्यापयामास । इदं दोषवता न प्रसृतं भविष्यतीति मननादवगत्य मुक्तं शुकमध्यापयामास । मुक्तोऽपि लीलया लोकानुवर्त्ती ईश्वरवत् । तेनाऽपि नाऽस्य प्रचारो भविष्यतीति तदर्थमाह—**निवृत्तिनिरतमिति** । कदाचिदपि प्रवृत्तिस्वभावत्वे तद्दोषेण सम्बन्धान्न भक्तिजनिका स्यात् । विषयावेशविष्णवावेशयोर्विरोधात् । एतच्च मननादवगतमतिविचारेण नाऽऽपाततः प्रतिपन्नम् । तदाह – **मुनिरिति** ।।८।।

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'संहितां भागवतीम्' इसलिए कहा है कि ऊपर के श्लोकों में भागवत संहिता का निरूपण आ चुका है इसलिए इस श्लोक में इमां करना चाहिये था, फिर भागवतीं संहितां क्यों कहा ? तो कहते हैं कि व्यासजी ने अनेक संहिताएं बनाई हैं वे यहां न ले ली जाय । भागवत ही ली जाय । अर्थात् भागवत का ही अध्ययन व्यासजी ने शुकाचार्य को कराया । व्यासजी ने अनुक्रम से शोधन कर अथवा जो भी वस्तु समाधि में दीखी उसे यथावस्थित अपने समान अपने पुत्र शुकाचार्य को इसलिए पढ़ाया कि दूसरे किसी से भी इसका प्रसार नहीं होगा । व्यासजी मुनि होने के कारण उन्होंने मनन से समझा कि यह भागवत सदोष व्यक्ति को पढ़ाई जावेगी तो प्रसार नहीं होगा इसलिए उन्होंने जीवमुक्त शुक को पढ़ाया ।

मुक्त भी लीला से ईश्वर की तरह लोकों का अनुसरण कर सकता है तो लोकानुवर्त्तन करने वाले से इसका भागवत का प्रचार नहीं हो सकता है । इसके लिए कहते हैं कि "निवृत्तिनिरतम्" शुक केवल निवृत्ति परायण थे । अर्थात् कदाचित् इसका प्रचार करने वाला यदि कोई प्रवृत्ति स्वभाव वाला होगा तो भागवत में उसके दोष का सम्बन्ध होने से यह उससे प्रचारित यह भागवत भक्ति पैदा करने वाली नहीं होगी, कारण कि या तो विषयों का ही आवेश हो सकता है या विष्णु का ही इन दोनों विरुद्ध बातों का एक साथ रहना नहीं हो सकता । प्रवृत्ति स्वभाव वाले में विषयावेश होना सम्भव है ऐसी स्थिति में विष्णु का आवेश नहीं हो सकता इसलिए निवृत्ति

परायण को पढ़ाया। यहां श्लोकस्थ मुनि शब्द का तात्पर्य यह है कि इस बात को वेदव्यासजी ने ऊपर-ऊपर से नहीं समझा किन्तु मनन से समझा यही बात संहिता में आये हुए मुनि शब्द से कही गई है ॥८॥

आभास—ननु भागवतस्य विषयपरत्वे सति नाऽधिकार इति निवृत्तिनिरतो योजितः। स च न भागवतार्थं तथाविधः किन्तु ज्ञानार्थमिति तथा सति ज्ञाने प्रवृत्तिमात्रस्यैव बाधकत्वाद्यथा लौकिकी प्रवृत्तिस्त्याज्या तथा भक्तिमार्गानुसारिणी भागवतप्रवृत्तिरपि। तथा च व्यासः स्वकार्यानुरोधेन यद्यपि शुकं योजयति तथापि स कथं स्वकार्यविरोधे प्रवर्तेतेति पृच्छति—

आभासार्थ—कहते हैं कि विषयों में पारायण भागवत का अधिकारी नहीं है इसलिए भागवत के प्रचार में निवृत्ति परायण को लगाया परन्तु शुकाचार्य ज्ञान के लिए परमहंस बने थे (निवृत्ति परायण थे) भागवतार्थ के लिए नहीं। ऐसा होने पर ज्ञान में तो सभी प्रकार की प्रवृत्ति बाधक होती है जैसे लौकिकी प्रवृत्ति उसके लिए त्याज्य है वैसे ही भक्तिमार्गानुसारिणी भागवत में प्रवृत्ति भी त्याज्य है। तो व्यासजी ने अपने कार्य के अनुरोध से यद्यपि शुकाचार्य को उस कार्य में लगाया भी तब भी शुक अपने कार्य के विरोधी कार्य में क्यों कर प्रवृत्त होंगे? इसी बात को शौनक पूछते हैं कि—

शौनक उवाच—श्लोक—**स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनिः।**
कस्य वा बृहतीमेतामात्मारामः समभ्यसत् ॥९॥

श्लोकार्थ—शौनक कहते हैं कि निश्चय ही वे शुकाचार्य निवृत्ति में ही निरत थे, आत्माराम थे और अध्ययन अध्यापनादि सभी कार्यों में उनकी उपेक्षा थी ऐसे शुकाचार्य मुनि ने ग्रन्थ रूप में और अर्थरूप में बड़ी जो यह संहिता है उसका उच्चारण पर्यन्त अध्ययन किसलिए किया? ॥९॥

सुबोधिनी—स वै निवृत्तिनिरत इति। भागवतस्य पाठः प्रवृत्तिरूपः। येनोपनयनवेदाध्ययनं नित्यमपि परित्यक्तम्। निवृत्तावेव नियतत्वात्। न च पितुर्भगवतो वाऽनुरोधात्पठतीति वाच्यम्। फलतो वा स्वरूपतो वा तदुपकारानपेक्षणात्। यद्यपि ईश्वरगुरूपकाररूपं ज्ञानमपेक्ष्यते तथापि ज्ञानबाधकप्रवृत्तिरूपोपकारं नाऽपेक्ष्यते। तदाह—**सर्वत्रोपेक्षक इति।** न च भ्रमाज्ज्ञानसाधनत्वेन भागवत पाठ इति? तत्राऽऽह—**मुनिरिति।** मननमेव हि साक्षात्कारे एकवाक्यतयोक्तम्। अतः सम्भावितहेतूनामभावात्कस्य वा हेतोः बृहतीं स्वरूपतोऽर्थतश्च भावसहितार्थावबोधपूर्वकस्वाधीनोच्चारणपर्यन्तं कथमभ्यसत्। न च कौतुकाविष्टचित्तः। आत्मारामत्वात् ॥९॥

व्याख्यार्थ—भागवत को पढ़ना प्रवृत्तिरूप है। जिन शुकाचार्य ने निवृत्ति में ही निरत होने से नित्य आवश्यक जो उपनयन वेदाध्ययन है उसे भी छोड़ दिया तो भागवत का अध्ययन उन्होंने

कैसे किया ? यदि कहो कि पिता अथवा भगवान् के अनुरोध से उन्होंने भागवत को पढ़ा किन्तु फल से और स्वरूप से शुकाचार्य को पठन से जो उपकार होता है उसकी अपेक्षा नहीं है तो उन्होंने उसे पढ़ा कैसे ?

यद्यपि ईश्वर और गुरु का उपकार रूप ज्ञान अपेक्षित है अर्थात् ईश्वर और गुरु का उपकार ज्ञानी को भी करना चाहिये परन्तु वह उपकार प्रवृत्तिरूप है इसलिए जो ज्ञान में बाधा डालने वाला है । निवृत्तिमार्गी शुक को अपेक्षित नहीं है । अर्थात् निवृत्ति निरत को ब्रह्मज्ञान में बाधक कोई भी वस्तु अपेक्षित नहीं होती इसी बात को "सर्वत्रोपेक्षक:" से कहा है ।

शङ्का करते हैं कि भागवत भी ज्ञान का साधन है इस भ्रम से श्री शुक ने भागवत को पढ़ा होगा तो उत्तर में कहते हैं कि 'मुनि:" श्री शुकदेव मनन करने वाले थे ऐसे मुनियों को मनन से ही साक्षात्कार होता है ऐसा कहा है । अत: भागवत के पढ़ने में सम्भावित कारणों के नहीं रहने से किस हेतु से स्वरूपत: अर्थत: बड़ी भागवत को भावसहित अर्थावबोधपूर्वक उच्चारण पर्यन्त उन्होंने कैसे पढ़ा ? यदि कहो कि उन्होंने उसे कौतुकाविष्ट चित्त से पढ़ा तो उत्तर देते हैं कि वो आत्मा में ही पूर्ण रूप से रमण करने वाले थे उन्हें कौतुक के लिए दूसरा अपेक्षित ही नहीं है तो कौतुकाविष्ट चित्त होकर पढ़ा यह कहना भी ठीक नहीं है ।।१०।।

आभास—अत्रोत्तरमाह—

आभासार्थ—इसका उत्तर देते हैं कि—

सूत उवाच—श्लोक—**आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।**
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरि: ।।१०।।

श्लोकार्थ—सूतजी ने कहा—आत्माराम, मनन करने वाले और अविद्या से रहित भी भगवान् में बिना प्रयोजन के भक्ति करते हैं इस प्रकार के गुण वाले भगवान् हैं ।।१०।।

सुबोधिनी—**आत्मारामाश्चेति** । कौतुकसाधनाविद्यानिवर्तकत्वेन अन्यथासिद्धिर्नास्तीति विशेषणत्रयम् । चकारादन्यैर्न क्रियत इति न । किन्तु तेऽपि कुर्वन्तीत्यलौकिकत्वम् । अपिशब्दाद्भक्तिमार्गस्थिता: । मार्गान्तरस्थस्तु वैकल्याभावात्प्रचारणसमर्थ इति स योजित: । न तु मार्गस्थाभावान्निवृत्तितात्पर्याच्च । **उरुक्रम** इत्यलौकिकसामर्थ्यम् । अलौकिकीं भक्ति कुर्वन्तीत्यनुवाद: । तत्रोपपत्ति:— **इत्थम्भूतगुणो हरिरिति** । भगवद्गुणा: । प्रवृत्तिरूपा निवृत्तिस्वभावा: । परमानन्दरूपाश्च ज्ञानरूपाश्च । तस्माद्य: कश्चिद्यत्र कुत्रचिदासक्तो भगवद्गुणेषु रमत एव । सर्वप्रतिकृतिरूपत्वाद्गुणानां ज्ञानवशीकरणस्वभावाच्च ।।१०।।

व्याख्यार्थ—विनोद के लिए, साधन सम्पत्ति के लिए तथा अविद्या निवृत्ति के लिए भागवत का पठन होना चाहिये, परन्तु श्री शुक मे तीनों प्रयोजन नहीं थे इसी बात को बताने के लिए श्लोक

में आत्मारामा: मुनय: और निर्ग्रन्था: ये तीन विशेषण दिये हैं । अर्थात् वे आत्मा में ही रमण करने वाले थे इसलिए उन्होंने कौतुक से (विनोद के लिए) पढ़ा यह नहीं कह सकते, मुनि होने से मनन ही करने वाले थे इसलिए अन्य साधन उन्हें अपेक्षित नहीं थे, जीवन्मुक्त होने से वे स्वयं अविद्या से मुक्त थे इसलिए इनके लिए उन्होंने भागवत को पढ़ा यह नहीं कह सकते इसका उत्तर सूतजी देते हैं कि "आत्मारामाश्च" जो आत्मा में ही रमण करने वाले हैं, मनन करने वाले हैं तथा अविद्या से युक्त हैं वे भी भगवान् में प्रीति करते हैं इसलिए यह नहीं कह सकते कि-"ऐसे व्यक्ति भक्ति नहीं करते" किन्तु ऐसे व्यक्ति भगवान् के गुणों का वर्णन करते हैं । आत्मारामाश्च में जो च है वह यह बताता है कि और भी जो हैं वे सब भगवद्गुणगान करते हैं इसलिए भगवान के गुण अलौकिक हैं ।

श्लोकस्थ "अपि" शब्द का स्वारस्य यह है कि भक्तिमार्ग में स्थित भी भगवान् के गुणों की अपेक्षा रखते हैं ।

शङ्का करते हैं कि यह भागवत संहिता भक्ति पैदा करने वाली है । भक्तिमार्गियों का उसमें आदर है तो उन्हें छोड़कर व्यास ने जीवन्मुक्त शुक को प्रचार के लिए क्यों लगाया ? उत्तर में कहते हैं भक्तिमार्गीय प्रेम में विभोर हो जाते हैं, वे जैसा चाहिये वैसा प्रचार नहीं कर सकते और निवृत्तिमार्गीय (ज्ञानमार्गीय) को वैसी विकलता नहीं होती अत: वह प्रचार करने में समर्थ है इसलिए उन्हें ही (शुकाचार्य को ही) इस कार्य में लगाया । भक्तिमार्गीय न होने से और निवृत्तिमार्गीय होने से उन्हें इस कार्य में लगाया ऐसी बात नहीं है किन्तु ऐसे व्यक्ति भगवद्गुण वर्णन करते हुए विकल नहीं होते इसलिए प्रचार करने में उनके समर्थ होने से उन्हें इसमें लगाया ।

भगवान् 'उरुक्रम' हैं । (उरुक्रम का अर्थ है बड़ा है पाद विक्षेप जिनका) इसलिए उनमें अलौकिक सामर्थ्य है ।

श्लोकस्थ "अहैतुकीं भक्ति कुर्वन्ति" यह अनुवाद है । वे अलौकिक भक्ति करते हैं । वहां युक्ति देते हैं कि "इत्थम्भूतगुणो हरि:" भगवान् इस प्रकार के गुण वाले हैं ।

यद्यपि भगवान् के गुण प्रवृत्तिरूप हैं तथापि वे निवृत्ति स्वभाव हैं याने वे निवृत्ति का फल देने वाले हैं परमानन्दरूप तथा ज्ञानरूप है इसलिए जो कोई कहीं भी आसक्त हो अर्थात् प्रवृत्तिमार्गीय हो अथवा निवृत्तिमार्गीय हो परमानन्द एवं ज्ञान चाहने वाले हो वे सब भगवद्गुणों में आनन्दानुभूति करते ही है । भगवद्गुण साँचे की तरह सबके प्रतिकृतिरूप हैं । उन भगवद्गुणों का ज्ञान होने से उनका स्वभाव है कि वे वश में कर लेते हैं ।।१०।।

आभास—नन्वस्तु भगवद्गुणानां तादृशत्वम् । ग्रन्थे किमागतमित्यत आह—

आभासार्थ- शंका करते हैं कि आत्माराम मुनि एवं अविद्या रहित भी भगवान् के गुणों की ओर आकृष्ट होते हैं इस प्रकार के भगवान् के गुण रहें तो भी इस ग्रन्थ में इससे क्या हुआ ? अर्थात् इस भागवत ग्रन्थ के लिए तुमको क्या कहना है ? इस पर कहते हैं कि—

श्लोक—**हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणि: ।**
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रिय: ।।११।।

श्लोकार्थ—सर्वदा भगवद्भक्त हैं प्यारे जिनको—ऐसे भगवान् शुक ने हरि के गुणों से आकृष्ट बुद्धि हो जाने से इस बड़े भी भागवत आख्यान को पढ़ा ॥११॥

सुबोधिनी—हरेर्गुणाक्षिप्तमतिरिति । गुणानामनुपनिबद्धानां स्वबुद्धया स्मरणे कल्पनया क्लेशः । उपनिबन्धने तु सिद्धत्वात्सुलभ स्मरणमिति भगवद्गुणैर्वशीकृतमतिः सन् । **आक्षेपान्नाऽन्यत्र** प्रवृत्तिः । **मतिरिति** फलं गृहीतम् । तेनाऽन्यत्र विषयेन्द्रियसंयोगेऽपि न **मत्युत्पत्तिरिति** भावः । एतज्जीवविचारेणोक्तम् । वस्तुतस्तु शुको महादेवः । तदाह—**भगवानिति** । **कृतिप्रवृत्त्यर्थं** विष्णुर्महादेवश्चाऽवतीर्णाविति । तदाह—**बादरायणिरिति** । अतो **महदप्याख्यानमधीतवान्** । **नन्वनाहूतः** स्वयं गत्वा कथं प्रचारितवान् ? तत्राऽऽह—**नित्यं विष्णुजनप्रिय इति** । **नित्यं विष्णुजनाः** प्रिया यस्य । **कामः** कामिनीमिव भगवद्गुणाः स्वप्रतिष्ठार्थं भक्तं प्रापयन्ति । अतः **सर्वदा** ये भगवद्भक्ता अकृत्रिमनित्यवैष्णवास्ते प्रिया यस्येति । न हि स्नेहः संगे हेत्वन्तरमपेक्षते ॥११॥

व्याख्यार्थ—भगवद्गुणों का यदि सिलसिलेवार ग्रन्थरूप देकर संग्रह नहीं किया जाता तो श्री शुक को अपनी बुद्धि से उन्हें स्मरण करने में कल्पना करना पड़ती और उससे क्लेश होता और उपनिबद्ध करने पर ग्रन्थ रूप में लिखने पर गुणों के सिद्ध रहने से उनका स्मरण सुलभ हो गया । इसलिए भगवद्गुणों से वश में की गई बुद्धि वाले होते हुए श्री शुक ने इसे पढ़ा । भगवद्गुणों की ओर आकृष्ट बुद्धि होने से और तरफ उनकी प्रवृत्ति नहीं हुई ।

श्लोकस्थ "मति" पद का अभिप्राय यह है कि विषय और इन्द्रियों के संयोग से होने वाला जो ज्ञानरूप फल है उसे भगवद्गुणों ने ग्रहण कर लिया । अर्थात् विषय और इन्द्रिय संयोग से होने वाला जो ज्ञानरूप फल है उसे नहीं होने दिया । इसलिए अन्यत्र विषयों के साथ इन्द्रिया का संयोग होने पर भी उस ओर उनकी बुद्धि नहीं हुई । यह बात श्री शुक को जीव मान करके कही गई है । वास्तव मे "कैपायनाच्छुको जज्ञे भगवानेव शंकरः" इस कूर्म पुराण के वाक्य से श्री शुक महादेव के अवतार थे । इसी बात को 'भगवान्' यह विशेषण कहता है । गुणों को उपनिबद्ध करने के लिए विष्णु व्यास के रूप मे तथा उन गुणों को प्रवृत्ति कराने के लिए महादेव श्री शुक के रूप में अवतीर्ण हुए । इसलिए श्लोक में श्री शुक का बोधक अन्य शब्द न देकर उन कार्यों का सूचक "बादरायणिः" पद दिया है । इसलिए इन्होंने पढ़े भी इस भागवतरूप आख्यान को पढ़ा ।

शंका करते हैं कि बिना बुलाये ही स्वयं जाकर श्री शुक ने कैसे प्रचार किया ? इसका उत्तर देते हैं कि "नित्यं विष्णुजनप्रियः" अर्थात् भगवद्भक्त सर्वदा उनको प्यारे हैं जैसे काम कामिनी को प्राप्त करा देता है वैसे ही भगवद्गुण भी विशेष रूप से अपनी स्थिति हो इसके लिए भक्त को मिला देते है । अर्थात् भक्त के मिलने से भगवान् के गुणों का वर्णन होता है इसलिए उनकी विशेष रूप से स्थिति रहती है । इसीलिए कहा है कि सर्वदा भगवद्भक्त जो अकृत्रिम नित्य वैष्णव हैं वे ऐसे शुक को प्यारे हैं । स्नेह का स्वभाव है कि वह सङ्ग कराने में दूसरे हेतु की अपेक्षा नहीं रखता । अर्थात् स्नेह से ही उनका सङ्ग हो जाया करता है ॥११॥

आभास—एवं भागवतस्योत्पत्तिप्रवृत्ती निरूप्य श्रोतुः सर्वथा भगवदीयत्वाभावे न प्रतिष्ठितं भवेदिति गर्भसंस्कारमारभ्य भगवतैव स्वतेजसा परिपालित इति वक्तु

पूर्वरूपस्य ब्रह्मास्त्रेण दाहं निरूपयितु तादर्थ्यमपि वैष्णव एवेति तेषां पाण्डवानां सन्तत्यन्तरस्य दाहं निरूपयन् प्रकृतस्य दाहहेतुमाह—**परीक्षितोऽथेत्यारभ्य यावदध्यायसमाप्ति**। अश्वत्थाम्नो महदपमाननं हेतुः। पुत्रान्तरदाहस्तूभयत्र। संरक्षायामपमानने च। अपृष्टं नोच्यत इति पृष्टमनूद्य प्रतिजानीते—

आभासार्थ—इस प्रकार भागवत की उत्पत्ति और प्रवृत्ति निरूपण कर, इसका श्रोता यदि सर्वथा भगवदीय न होगा तो इसकी (भागवत की) स्थिति नहीं होगी इसलिए गर्भ के संस्कार से लेकर भगवान् ने अपने तेज से पालन किया इस बात को कहने के लिए तथा परीक्षित का जो गर्भ स्थित पूर्व देह था उसका ब्रह्मास्त्र से दाह निरूपण करने के लिए इस प्रकार का परिपालन परीक्षित वैष्णव ही है इस बात को बताता है।[1] अतः पाण्डवों की दूसरी सन्ततियों का दाह निरूपण करते हुए प्रकृत बात परीक्षित के दाह का कारण है इसको परीक्षितोऽथ राजर्षे से लेकर अध्याय समाप्ति तक कहते हैं। परीक्षित को ब्रह्मास्त्र से जलाने में अश्वत्थामा का बड़ा अपमान होना ही कारण है।

द्रौपदी के दूसरे पुत्रों का दाह परीक्षित की रक्षा में तथा अश्वत्थामा के अपमान में कारण है।

सूतजी बिना पूछे कोई बात नहीं कह सकते इसलिए वे स्वयं प्रष्टव्य का अनुवाद करके उसके दाह जन्म आदि का हेतु कहने की प्रतिज्ञा करते हैं अर्थात् कहते हैं—

श्लोक—**परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्म कर्म विलायनम्।**
संस्थाञ्च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—इसके बाद राजर्षि परीक्षित का जन्म कर्म देहत्याग प्रकार और युधिष्ठिर आदि का महा प्रस्थान का वर्णन करूंगा जिसमें कि कृष्णकथा का उदय है ॥१२॥

सुबोधिनी - परीक्षित इति। अथ भागवतनिरूपणानन्तरं तच्छ्रोतुः परीक्षितो बीजसंस्कारार्थं जन्म। कर्म धर्मरक्षार्थम्। भगवत्कार्यकरणात्। विलायनं भागवतश्रवणार्थं पुरुषत्रयशुद्धयर्थमप्रतिबन्धार्थं च। संस्थां पाण्डुपुत्राणां प्रथमत एव। चकाराद्धृतराष्ट्रस्याऽपि। अमुक्तत्वान्न सहोक्तिः। प्रतिबन्धकत्वं "**भ्रातृणामेकजातानामि**" त्यभिप्रायेण। मुक्तावप्यतिदेशाच्चकारेण ग्रहणम्। अत एव पाण्डुपुत्राणामित्युक्तं न पाण्डवानाम्। कृष्णकथाप्रतिपादकत्वादेतेषां वचनम्। अन्यथा त्वसङ्गतिः। तदाह—**कृष्णकथेति**। कृष्णकथाया उदयो यत्रेति। न हीयं भगवतः स्वतश्चरित्ररूपा किन्तु नैमित्तिकी। अतो हेतुनिमित्त स्वरूपोपकारिहेतुरिति तन्निरूप्यत इति भावः ॥१२॥

---

[1] श्री पुरुषोत्तमजी महाराज कहते हैं कि श्री सुबो. में तादर्थ्यम् न होकर तावदर्थ्यम् ऐसा पाठ मानना चाहिये।

व्याख्यार्थ– अब भागवत के निरूपण के बाद उसके श्रोता परीक्षित का बीज रूप में ही संस्कार हो गया इसलिए उसके जन्म का वर्णन करूंगा। धर्म रक्षा भगवान् का कार्य है उस कार्य को परीक्षित ने किया याने परीक्षित ने कलि निग्रह कर धर्म रक्षा की इसलिए उसके कर्मों का भी निरूपण करूंगा और भागवत सुनने के लिए पूर्व तीन पुरुषों की शुद्धि होनी चाहिये उसके लिए।

और किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं हुआ इसके लिए परीक्षित के देह त्याग का वर्णन करूंगा इससे पहले पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर आदि के देह त्याग का प्रकार अथवा अच्छे रूप में उनकी स्थिति रही इस प्रकार को कहूंगा।

श्लोकस्थ "च" से धृतराष्ट्र भी लिया गया है अर्थात् धृतराष्ट्र ने देह त्याग किया यह भी वर्णन करूंगा किन्तु पाण्डवों के साथ श्लोक में उसका निर्देश इसलिए नहीं किया गया है क्योंकि धृतराष्ट्र की पाण्डवों के साथ मुक्ति नहीं हुई। पाण्डु पुत्रों की मुक्ति में प्रतिबन्धकता इसलिए थी कि वे एक माता पिता से पैदा नहीं हुए थे। धर्मशास्त्र में कहा है कि "भ्रान्दणामेक जातानामेकश्चेत्पुत्रवान् भवेत्" अर्थात् एक माता पिता से पैदा हुए भाइयों में एक के भी यदि पुत्र हो गया तो सब पुत्रवान कहलाते हैं। यहाँ पाण्डवों की माताओं के भिन्न-भिन्न होने से एक जात न होने के कारण मुक्ति नहीं हो सकती थी तो कहते हैं कि माता भले ही भिन्न-भिन्न हो पिता एक होने से वे एक जात कहलाये और एक के पुत्र होने से सभी पुत्र वाले हुए जिससे कि सबको मुक्ति हुई।

श्लोकस्थ 'च" से मुक्ति भी यहां ली गई है। तात्पर्य यह है कि श्लोकस्थ च से पाण्डवों की सम्यक् स्थिति देह त्याग प्रकार को और उनकी मुक्ति का भी मैं वर्णन करूंगा। श्लोक में "पाण्डुपुत्राणाम्" पाण्डुपुत्रों को ऐसा कहा है। पुत्र वही कहलाते हैं जो मुक्ति कराने वाले होते हैं तो पाण्डुपुत्र शब्द जो है वह यह कहता है कि पुत्र होने से वे पाण्डु को मुक्ति देने वाले हैं इसलिए यहां पाण्डुपुत्राणाम् दिया है पाण्डवानाम् नहीं दिया।

पाण्डुपुत्रों का वर्णन इसलिए है कि उसमें कृष्णकथा का प्रतिपादन है। बिना पूछे ही सूतजी का यह कहना ठीक नहीं कि मैं पाण्डुपुत्रों के महा प्रस्थान को कहूंगा क्योंकि वो पूछा ही नहीं गया परन्तु उन पाण्डुपुत्रों के वर्णन में भगवत्कथा भी आती है इसलिए सङ्गति हो जाती है। इसी बात को "कृष्ण कथोऽदयाम्" से कहा है। अर्थात् पाण्डुपुत्रों की कथा में भगवत्कथा भी आती हैं इसलिए उससे कृष्णकथा का उदय होगा।

यद्यपि पाण्डुपुत्रों की कथा भगवान् का स्वतः चरित्र रूप नहीं है किन्तु किसी निमित्त से पाण्डुपुत्रों की रक्षा के लिए उसका वर्णन है इसलिए वह भगवत्स्वरूपोषकारी हेतु रूप है इसलिए उसका निरूपण किया जाता है ।।१२।।

आभास— तत्र पुत्रान्तराणां मारणं वक्तुं हेतुमाह—

आभासार्थ— अब दूसरे पुत्रों को मारने का वर्णन करने के लिए कारण कहते हैं—

श्लोक—**यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु ।**
वृकोदराविद्धगदाभिमर्षभग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे ।।१३।।

श्लोकार्थ—जब कौरव और सृञ्जयों के युद्ध में वीरों के मुक्त होते पर भीम से चलाई गई गदा के आघात से धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन के उरु दण्डों के भग्न होने पर ॥१३॥

सुबोधिनी—यदा मृध इति । सृञ्जयवंशोत्पन्नो धृष्टद्युम्नः पाण्डवानां चमूपतिरिति स्वतः पाण्डवानां कौरवत्वेऽपि विरोधनिमित्तं द्रौपदीति पाण्डवानां धृष्टद्युम्नप्रवेशादयुक्तपरिहाराय च सृञ्जयानामित्युक्तम् । तेषां सम्बन्धिनां च मुक्तिरिति निरूपयति— वीरगतिमिति । "द्वौ सम्मताविह मृत्यू" इति वाक्यात् । अनेन पुत्राणामेवाऽन्यायमरणमिति शोकहेतुः सूचितः । अथो इति मध्ये भिन्नप्रक्रमवचनात् "पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्ये"ति च निरूपितम् । दुर्योधनस्याऽयुक्तमरणमाह— वृकोदरेति । "वृको दशविधः प्राण उदरे यस्य तिष्ठति । स वृकोदर इत्युक्तो भगवत्कार्यसाधक" इति वाक्याद्भीमेन प्रक्षिप्तगदाया अभिमर्षणेन भग्ने ऊरू एव दण्डे यस्य । दण्ड इति ताडनहेतुः । द्रौपद्याः प्रदर्शनेन दुःखजनकत्वात् । धृतराष्ट्रपुत्र इत्यन्धपुत्रत्वादविवेकित्वमुक्तम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—सृंजय वंश में पैदा हुआ धृष्टद्युम्न पाण्डवों का सेनापति था इसलिए पाण्डवों के स्वतः कौरव होने पर भी विरोध का कारण द्रोपदी थी इसलिए पाण्डवों में धृष्टद्युम्न ने प्रवेश किया । यदि श्लोक में 'सृञ्जयानाम्' यह पद न देते तो भाई भाइयों में लड़ना युक्त नहीं था क्योंकि दोनों कुरुवंश के थे अतः इस अयुक्तता को मिटाने के लिए सृञ्जयानाम् कहा ।

कौरव सृञ्जयों की तथा उनके वीरों की मुक्ति हुई इस बात को 'वीरगतिम्' से कहते हैं । यहां "द्वौ सम्मताविह मृत्युः" दो ही मृत्यु अच्छी समझी गई है । पहली योग के द्वारा देह छोड़ना और दूसरी रण में लड़ते हुए देह को छोड़ना । इससे यह सूचित हुआ कि द्रोपदी के पुत्रों का इन दोनों प्रकार से मरण न होने से उनका मरण शोक का कारण बना । अर्थात् वो लड़ते हुए नहीं मरे तथा योग के द्वारा नहीं मरे इसलिए वे लड़के द्रोपदी के शोक का कारण बने ।

मध्य में दिया गया 'अथो' शब्द भिन्न प्रक्रम को बताता है । अर्थात् "पार्थास्त्रपूता. पदमापुरस्य ।" अर्जुन के अस्त्र से मारे गये भी भगवान् के चरणारविन्दों को प्राप्त हुए ।

दुर्योधन का अयुक्त मरण हुआ यह "वृकोदराविद्धगदाभिमर्ष" से कह रहे हैं । वृकोदर शब्द का अर्थ यह है कि वृक[1] याने दश प्रकार का प्राण है उदर में जिसके वह वृकोदर है और वह वृकोदर भगवान् के कार्य को करने वाला है । इससे महाबली भीम से चलाई गई गदा के मारने से भग्न हो गये हैं उरुदण्ड जिसके । जंघाओं को दण्ड कहकर यहां यह बताया है कि दण्ड ताडन के लिए होता है और ताडन से दुःख होता है । द्रोपदी को दुर्योधन ने बैठने के लिए अपनी जांघ बताई इसलिए एक प्रकार से वह जांघ दुःख देने वाली होकर ताडन का कारण बनी । अर्थात् जांघ ही उसको नष्ट करने वाली बनी ।

---

[1] वृकोदशविधः प्रातः उदरे यस्य तिष्ठति । स वृकोदर इत्युक्तः भगवत्कार्य साधकः ।

यहां दुर्योधन न कहकर धृतराष्ट्र पुत्र कहा है इसका मतलब यह है कि धृतराष्ट्र अन्धे थे इसलिए अन्धे का पुत्र होने से दुर्योधन भी अविवेकी था। अर्थात् धृतराष्ट्र बाहर से अन्धा था और दुर्योधन भीतर से अन्धा था ॥१३॥

आभास—अत एव तत्सेवकोऽप्यविवेकी जात इत्याह –

आभासार्थ—मालिक के (दुर्योधन के) अविवेकी होने से उसका सेवक अश्वत्थामा भी अविवेकी हुआ इसी बात को कहते हैं—

श्लोक—**भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन्कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि ।**
उपाहरद्विप्रियमेव तस्य जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति ॥१४॥

श्लोकार्थ—अश्वत्थामा अपने स्वामी दुर्योधन का इसी रूप में प्रिय होगा ऐसा विचारता हुआ सोते हुए द्रौपदी पुत्रों के मस्तकों को काटकर दुर्योधन के सामने लाकर रखे। दुर्योधन को यह प्रिय नहीं लगा। क्योंकि जुगुप्सित कर्म की सभी निन्दा करते हैं ॥१४॥

सुबोधिनी—**भर्तुरिति। द्रौणिरिति** वैरानुबन्धे मूलहेतुः। मातृपुत्रत्वात्स्वापः। **अनेकपुत्रत्वान्मातुर्ग्रहणम्**। अत एव भगवता वंशार्थं ते न रक्षिताः। कृष्णा द्रौपदी। **प्रसवमात्रं तस्या** नोद्धार इति–**सुतानामिति**। कृष्णेति पदं—**"यो यच्छ्रद्धः स एव स"** इति वाक्यात्तद्भावापत्ति सूचयति। प्रदर्शनार्थं शिरसामुपाहरणम्। तेनाऽर्द्धदाहादतिदुःखम्। दुर्योधनस्याऽपि न तन्मारणमभीष्टम्। लोकवाच्यता न दुर्योधने स्थिता। इदं तु लोका विगर्हयन्तीति तदाह– **विप्रियमिति** ।१४।

व्याख्यार्थ—श्लोकस्थ 'द्रौणि' पद से यह सूचित होता है कि धृष्टद्युम्न ने अपने पिता द्रोणाचार्य को मारा था इसलिए अश्वत्थामा के वैर रखने का यही मूल कारण हुआ। माता के छोटे-छोटे बच्चे थे, इसलिए वे सो रहे थे। पाण्डवों के अनेक पुत्र थे किन्तु उन्हें न मारकर द्रौपदी के ही बच्चों को उसने मारा यह बताने के लिए "कृष्णा" पद दिया गया है। द्रौपदी के स्वभाव आदि में विशेष रूप से वे बच्चे अनुरूप थे इसलिए भगवान् ने पाण्डवों का वंश चलाने के लिए उनकी रक्षा नहीं की। माता को जाने वाला सन्तान साहसी एवं बलवान नहीं होगा। श्लोक में आये कृष्णा का अर्थ है द्रौपदी। 'सुत' पद का अर्थ है पैदा होने वाले। अर्थात् वे नरक से बचाने वाले 'पुत्र' संज्ञक नहीं थे इसलिए पुत्र शब्द न देकर सुत पद दिया है।

'यो यच्छ्रद्धः स एव सः" इस वाक्य से अर्थात् जो जिस पर श्रद्धा रखता है वह वही बन जाता है। द्रौपदी को भगवान् में ही श्रद्धा थी इसलिए द्रौपदी भी कृष्ण रूप बन गई थी। एतदर्थं द्रौपदी के लिए "कृष्णा" पद दिया गया है।

अश्वत्थामा दुर्योधन को दिखाने के लिए उन बच्चों के मस्तकों को ले गया इसलिए उनका धड़ मात्र जलाने से उन बच्चों का अर्द्धदाह ही हुआ मस्तक रहित शरीर का दाह हुआ जिससे

द्रोपदी को अति दुःख हुआ । दुर्योधन को भी उन बच्चों का मारना अभीष्ट नहीं था । दुर्योधन लोकापवाद हो इस प्रकार के कार्य नहीं करता था और इस कार्य की तो लोक निन्दा करते हैं । इसीलिए अश्वत्थामा का यह कार्य उसे प्रिय नहीं लगा इसी बात को सूचित करने के लिए "विप्रियम्" कहा ।।१४।।

श्लोक —**माता सुतानां निधनं शिशूनां निशम्य घोरं परितप्यमाना ।**
तदाऽरुदद्बाष्पकलाऽऽकुलाक्षी तां सान्त्वयन्नाह किरीटमाली ।।१५।।

श्लोकार्थ—माता द्रोपदी अपने से पैदा हुए छोटे बच्चों का दुस्सह मरण सुन कर संतप्त हुई । इसीलिए आँसुओं से व्याप्त नेत्र वाली द्रोपदी रोई । उसको सांत्वना देता हुआ अर्जुन बोला ।।१५।।

सुबोधिनी— माता द्रौपदी । रोदने मातृत्वमेव हेतुः । **शिशूनामिति** स्नेहाधिक्यम् । **श्रवणादधिकक्लेशः । घोरमिति** रात्रौ सौषुप्तिकपर्वकथा सूचिता । यदा अरुदत्तदा तां सान्त्वयन्निति सम्बन्धः । किरीटमाली अर्जुनः । एकस्मिन्नपि किरीटे किरीटबाहुल्यप्रतीतिः । बहुपुरुषवद्युद्धकरणाद्वेगाद्वा । स्त्रीवशा अपि भक्ता भगवता परिपाल्यन्त इत्यर्जुनस्य प्रतिज्ञामाह । अथवा । तां सान्त्वयन्निति वचनान्न यथार्थत्वं प्रतिज्ञायाः ।।१५।।

व्याख्यार्थ—श्लोकस्थ "माता" पद से यहां द्रोपदी ली गई है । उसका मातृत्व ही रोदन में कारण बना । अर्थात् वह माता थी इसलिए रोई । छोटे बच्चे थे इसलिए उसका उनमें अधिक स्नेह था । सुनने से उसे अधिक क्लेश हुआ ।

श्लोकस्थ "घोरम्" पद से रात्रि में यह काण्ड हुआ यह बताया । इससे महाभारत की सौषुप्तिक पर्व की कथा सूचित हुई ।

"यदा" यह ऊपर से आक्षिप्त करके "यदा असदत् तदा तां सान्त्वयन्" ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिये । क्योंकि यत्तदोर्नित्य सम्बन्धः के अनुसार जब तक यदा नहीं आवे तब तक तदा नहीं आ सकता अर्थात् जब वह रोई तब उसको सान्त्वना देते हुए "किरीटमाली" अर्जुन ने ।

श्लोकस्थ 'किरीटमाली" का तात्पर्य यह है कि उसके इस एक मुकुट में बहुत से मुकुटों का आभास होता था । वह एक होते हुए भी बहुत पुरुषों की तरह युद्ध करता था इसलिए अथवा वेग से युद्ध करता था । इसलिए भी एक मुकुट में अनेक मुकुटों का आभास होता था । अतएव अर्जुन को मुकुटों की माला वाला कहा गया है ।

स्त्री के वश में रहने वाले भक्तों का भगवान् परिपालन करते हैं । प्रकृत में इस वाक्य का समन्वय इस प्रकार है । अर्जुन द्रोपदी के वश था तो भी भगवान् ने उसकी चारों ओर से रक्षा की इसी बात को सूचित करने के लिए अर्जुन की प्रतिज्ञा को कहते हैं । अथवा "तां सान्त्वयन्" के कहने से अर्जुन ने उसे सान्त्वना देने के लिए ही प्रतिज्ञा की यथार्थरूप से नहीं । जैसे कोई झूठी बात कहकर भी कदाचित् सान्त्वना दे देता है । इसलिए आगे की कथा से विरोध नहीं हुआ । अर्थात् मस्तक काटने की प्रतिज्ञा को यथार्थ न कर सका ।।१५।।

आभास—शोकापनोदनं स्त्रिया भर्त्रा करणीयम् । तत्र तूष्णीमश्रुप्रोञ्छनमशक्तविषयम् । अप्रतीकार्ये च । तत्र मृतानां जीवनमशक्यं मारकवधस्तु शक्य इति तत्कृत्वा तत्राऽश्रुप्रोञ्छनं कर्तव्यमित्याह—

आभासार्थ—स्त्री का शोक पति को मिटाना चाहिये । चुपचाप आँसू पोंछ लेना असमर्थ का काम है जो असमर्थ होता है उससे किसी का प्रतिकार नहीं होता । अत: वह काम ही समझा लेता है । बाहर किसी से झगड़ा नहीं करता और जिसका प्रतिकार नहीं होता वहां भी चुप रहा जाता ऐसी स्थिति में भी झगड़ा मोल न लेकर घर में ही समझा जाता है । तो इस जगह मरे हुए सुतों का (पुत्रों का) जीवित होना तो अशक्य है, मारने वाले को मारा जा सकता है इसलिए उसे मार कर तेरे आँसू पोछूंगा इसी बात को कहते हैं—

श्लोक—**तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे यद्ब्रह्मबन्धोः शिर आततायिनः ।**
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरुपाहरे त्वाक्रम्य यत्स्नास्यसि दग्धपुत्रा ।।१६।।

श्लोकार्थ—हे शुभ लक्षणे द्रोपदी ! जब गाण्डीव धनुष से छोड़े गये बाणों से जिसमें कि ब्राह्मण्य आता जाता रहता है ऐसे ब्राह्मणाधम आततायी अश्वत्थामा के सिर को काटकर तेरे पास लाऊंगा और उसको नीचे रखकर जिसके पुत्रों का दाह संस्कार हो गया ऐसी तू जब स्नान करेगी तब तेरे शोकाश्रु पोछूंगा ।।१६।।

सुबोधिनी— **तदेति** । क्रूरे हि क्रूरमश्रु प्रोञ्छयते । **शुच इति** । शोकाश्रूणि । पुनरनुद्गमाय हेतुशब्दवाच्यता । ननु विपरीते किमुत्तरम् ? तत्राऽऽह— **भद्रे इति** । तत्र वैधव्यलक्षणाभावान्न तथा भविष्यतीति भाव: । **ब्रह्मबन्धोरिति** । ब्रह्म ब्राह्मणजाति: । बन्धुरेव कदाचिदागच्छति कदाचिन्नेति न सदा तस्य ब्राह्मण्यं तिष्ठति । देवविरोधित्वादसुरावेशाच्च । "**दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मण: । असुर्य: शूद्र**'' इति श्रुते: । किञ्च । **आततायिन:** । '**अग्निदो गरदश्चे**'' ति वाक्यात्—"**आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् । जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेदि**''ति स्मृतेश्च न तद्वधे दोष: । बाणैरेव च्छित्वा समानयनं न स्पर्श: । दुष्टत्वात् । तथा करणे सामर्थ्यमाह— **गाण्डीवमुक्तैरिति** । शिर आक्रम्य स्नानं क्षत्रियधर्मत्वेन वैरनिर्यातन उक्तम् । **दग्धपुत्रेति** । सौषुप्तिक एव दाह: संस्कारदाहो वा । प्रथम: शोकाधिक्यहेतु: । द्वितीय: स्नानहेतु: । यदा स्नास्यसि तदा शुच: प्रमृजामीति सम्बन्ध: । क्षत्रियत्वान्नाऽन्यवत्स्वभावत: शोक: । कामपराणामेव तन्न क्रोधपराणाम् ।।१६।।

व्याख्यार्थ—क्रूर कार्य में क्रूर रूप से ही आँसू पोंछे जाते हैं । श्लोक में जो 'शुच.' पद है उसका अर्थ है शोकाश्रु । अर्थात् तब शोक के आँसू पोछूंगा जब बाणों से अश्वत्थामा का मस्तक लाकर उस पर तुम्हें बैठाकर स्नान कराऊंगा । अर्थात् उस हेतु बने अश्वत्थामा को ही नष्ट कर दूंगा तो उसके कारण तेरे फिर आँसू नहीं आयेंगे । यदि तू कहे कि तुम ही मर जाओगे तो क्या होगा तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि तू 'भद्रे' शुभ लक्षण वाली है । तेरे में विधवा होने के लक्षण नहीं हैं इसलिए मैं नहीं मरूंगा ।

वह अश्वत्थामा ब्रह्मबन्धु है । यहां ब्रह्म से ब्राह्मण जाति (ब्राह्मण्य) ली गई है। बन्धु शब्द का तात्पर्य यह है कि जैसे बन्धु कभी कार्यवश आता है और चला जाता है । इसी प्रकार ब्राह्मण जाति भी अश्वत्थामा में कभी आती थी और कभी चली जाती थी । इसमें सदा ब्राह्मण जाति नहीं रहती थी क्योंकि यह देवताओं का अथवा देवजीवों का विरोधी धर्म और आसुरावेशी था। ब्राह्मण देववर्ण और आसुरवर्णावेशी शूद्र हैं । जैसा कि श्रुति में 'दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः असुर्यः शूद्रः' यह कहा है । तात्पर्य यह है कि अश्वत्थामा कभी ब्राह्मण के जैसा कार्य और कभी आतिहीन शूद्र जैसा कार्य करता था और "अग्निदोगरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः क्षेत्र दारापहारी च षडेतेह्याततायिनः।" अर्थात् आग लगाने वाला, विष देने वाला, मारने के लिए शस्त्र जिसके हाथ में हो, धन का अपहरण करने वाला और खेत व स्त्री को अपहरण करने वाला । ये छः आततायी हैं इस वाक्य के अनुसार यह अश्वत्थामा आततायी है । श्रुति में कहा है कि–'आतितायिन मायान्तमपि वेदान्त पारगम् । जिघांसन्तं जिघांसी यान्नतेन ब्रह्महा भवेत्" वेदान्त में पारङ्गत हो तो भी मारने की इच्छा रखने वाले आततायी ब्राह्मण को भी मार देना चाहिये । ऐसे आततायी ब्राह्मण को मारने पर भी वह ब्रह्महत्या करने वाला नहीं समझा जाता । इसलिए उस अश्वत्थामा के मारने में कोई दोष नहीं है । बाणों से ही काटकर मैं उसे लाऊंगा । बाणों से दूर से ही मारा जा सकता है । इसलिए बाणों से मारने के कारण मेरा उससे स्पर्श नहीं होगा । क्योंकि वह दुष्ट है। दुष्टों का स्पर्श नहीं करना चाहिये । दुष्ट के स्पर्श करने से स्वयं में भी दोष आते हैं । ऐसा कार्य करने में सामर्थ्य कहते हैं "गाण्डीवमुक्तैः" गाण्डीव से छूटे हुए बाण यह सब कर सकते हैं ।

शत्रु के सिर को आसक्त बनाकर स्नान करना वैर निकालने में क्षत्रियधर्म बताया गया है । श्लोक में 'दग्धपुत्रा' कहा है इसका अभिप्राय दो तरह से है । सोते हुए बच्चों को जला दिया गया अथवा दाह संस्कार कर दिया गया ।

यदि अश्वत्थामा ने सोते हुए बच्चों को जला दिया ऐसा अभिप्राय लेते हैं तो यह बात अधिक शोक होने में कारण है और यदि दाह संस्कार किया गया तो वह स्नान का कारण है। जब तू स्नान करेगी तब तेरे शोक के आंसू पोछूंगा ऐसा श्लोक का सम्बन्ध है।

प्रायः क्षत्री क्रोधी होते हैं । क्षत्रिय होने से दूसरे की तरह स्वभावतः उन्हें शोक नहीं होता, क्योंकि शोक जो है वह काम परायणों को होता है क्रोध परायणों को नहीं । अर्थात् क्रोधी को शोक नहीं होता ॥१६॥

श्लोक—इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः स सान्त्वयित्वाऽच्युतमित्रसूतः ।
अन्वाद्रवद्द शित उग्रधन्वा कपिध्वजो गुरुपुत्र रथेन ॥१७॥

श्लोकार्थ—मित्र एवं सारथी श्रीकृष्ण से युक्त उग्र धनुष वाला कपिध्वज वह अर्जुन इस प्रकार मनोहर और विचित्र वाक्यों से प्रिया द्रोपदी को सांत्वना देकर कवच को बांधता हुआ रथ से गुरु पुत्र अश्वत्थामा के पीछे भागा ॥१७॥

सुबोधिनी—एवं कथने हेतुः—**प्रियामिति** । वल्गु मनोहरम्-आक्रम्य स्नास्यसीति । विचित्रम्—विशिखैरुपाहर इति । **जल्पैरिति** स्त्रैणवाक्यम् । तत्तस्या अपि क्षत्रियत्वात्सम्यक्सान्त्वनम् । एतादृशकार्यसिद्धौ हेतुः—**अच्युतमित्रसूत इति** । अच्युतस्य मित्रमप्यच्युतमेव । तेन स्वरक्षणं । सूतत्वात्कार्यसिद्धिः । अनु पश्चादाद्रवण पलायनशङ्कया । पश्चादेव कवचपरिधानं धनुषश्च ग्रहणम् । धनुष उग्रत्वं वधपर्यवसायित्वात् । **कपिध्वज** इत्यतिसामर्थ्यं सूचितम् । अथवा । दंशित इति स्वरक्षा । उग्रत्वाद्धनुषः । कपिध्वजत्वाद्रथस्य । गुरुपुत्रमित्यनर्थपर्यवसायित्वम् । रथेनेति न स्वीया शक्तिः ॥१७॥

व्याख्यार्थ - द्रोपदी प्यारी थी इसलिए पूर्वोक्त प्रकार से अर्जुन ने उससे कहा । अश्वत्थामा के मस्तक नीचे रखकर तू स्नान करेगी उसके ऐसे वाक्य में मनोहरता थी । "बाणों से काटकर तेरे पास लाऊंगा" इस वाक्य में विचित्रता थी । विचित्र का तात्पर्य यह है कि बाण ही तेरे सामने उसके मस्तक को लाकर रखेंगे । इस विशेष प्रकार के स्त्रैण वाक्यों से भी व अद जैसे वाक्यों से जो कि क्षत्रिय होने से द्रौपदी को भी भली प्रकार सांत्वना देने वाले थे उसे सांत्वना दी ।

अश्वत्थामा के सिर काटने के कार्य की सिद्धि में हेतु कहते हैं कि "अच्युतमित्रसूतः" अर्थात् भगवान् में अच्युत होने से किसी प्रकार की च्युति नहीं हैं उसी तरह अर्जुन में भी किसी प्रकार की च्युति नहीं थी । वह अर्जुन अच्युत का मित्र होने से अच्युत रूप ही था । इसलिए वो अपनी रक्षा कर सकता था । श्री सुबोधिनी में आये स्वरक्षा पद से अपनी धनुष की और रथ की रक्षा कही गई है । अच्युत भगवान् सारथी (मार्गदर्शक) है इसलिए कार्य सिद्धि होगी ही । अश्वत्थामा भाग न जाय इसलिए अर्जुन उसके पीछे-पीछे भागा । भागते हुए ही कवच पहिना और धनुष को लिया । वह धनुष उग्र इसलिए था कि उससे छूटे हुए बाणों से सामने वाले की मौत जरूर हो जाती थी । वह अर्जुन कपिध्वज था याने उसके रथ की ध्वजा में हनुमानजी थे इसलिए वह अतिसामर्थ्य वाला था । अथवा कवच धारण करने से अपनी रक्षा हुई । धनुष के उग्र होने से धनुष की रक्षा हुई और हनुमानजी के ध्वजा में होने से रथ की रक्षा हुई । गुरुपुत्र पद से यह तात्पर्य मालूम होता है कि गुरु पुत्र गुरु के समान होता है उसको मारने से पर्यवसान में अनर्थ ही होगा अथवा गुरु पुत्र होने से वह धनुर्विद्या आदि में अर्जुन की अपेक्षा अधिक निपुण है इसलिए पर्यवसान में अनर्थ हो सकता है । श्लोक में रथेन् कहा है इसलिए अर्जुन की अपनी शक्ति उसके पीछे दौड़ने की न होने से रथ में बैठ कर उसके पीछे दौड़ा यह कहा गया ॥१७॥

श्लोक—तमापतन्तं स विलक्ष्य दूरात्कुमारहोद्विग्नमना रथेन ।
पराद्रवत्प्राणपरीप्सुरुर्व्यां यावद्गमं रुद्रभयाद्यथाऽर्कः ॥१८॥

श्लोकार्थ—उस अर्जुन को पीछे दौड़ते हुए दूर से देखकर उद्विग्नमन वाला जीने की इच्छा रखने वाला बालघाती वह अश्वत्थामा जहां तक जाया जा सकता है उतना पृथ्वी पर रथ से महादेवजी के भय से जैसे सूर्य दौड़ा था उसी तरह दौड़ा ।१८।

सुबोधिनी—दृष्टेऽपि न गतिर्मन्दा जाता। ततो वधपर्यवसायित्वं ज्ञातम्। तदाह— **आपतन्तमिति**। सापराधत्वाद्दूरादेव दर्शनम्। क्षत्रियधर्माश्रितस्य युद्धोपस्थितौ प्रोत्साहो भवति। बालकवधात्तस्य पापेन मनस उद्वेगः। युद्धसाधनं रथः पलायनसाधन जात इति **रथेने**त्युक्तम्। पलायने हेतुः-**प्राणपरीप्सुरिति**। येषां रक्षणार्थं नीचसेवा, पितृवधः, अन्याय्यकरणं चाऽङ्गीकृतं तेषां रक्षार्थं पलायनं किमाश्चर्यमिति। उर्व्यां यावद्गन्तुं शक्यते। यावन्नद्यादिकं न व्यवधायि। योग-मन्त्रादिना लोकान्तरगमनेऽपि निस्तारो न भविष्यतीति दृष्टान्तमाह-**रुद्रभयाद्यथाऽर्क इति**। यथाऽर्को-विद्युन्मालिनिराकरणे कृते स्वभक्तत्वाद्रुद्रस्य क्रोधो जातः। ततः शूलमुद्यम्य अर्कवधार्थं प्रवृत्तः। ततोऽर्कः पलायमानो भूमौ पतितः काश्यां लोलार्कसंज्ञो जातः। तथाऽयमपि लोकान्तरेऽपि परिभ्रमन् पतेत्। अतो भूमावेव यावद्गन्तुं शक्यते तावत्पलायितवानित्यर्थः॥१८॥

व्याख्यार्थ—अश्वत्थामा को देखने पर भी अर्जुन की गति मन्द नहीं हुई। तब अश्वत्थामा ने समझ लिया कि यह मारने के लिए ही आ रहा है। यही बात "आपतन्तम्" से कही है।

अश्वत्थामा अपराधी था इसलिए चौकन्ना होने के कारण उसने दूर से ही अर्जुन को देख लिया। जो क्षत्रियधर्म को स्वीकार करता हैं उसे युद्ध के उपस्थित होने पर प्रोत्साह होना है। परन्तु बालकों को मारने से पाप से उसके मन में उद्वेग हो गया। युद्ध का साधन जो रथ है वह भागने का साधन बन गया अर्थात् जिस रथ का उपयोग युद्ध के लिए किया जाता है उस रथ का उपयोग उसने भाग जाने के लिए किया। इसी बात को "रथेन" से कहा है।

भागने में कारण कहते हैं कि "प्राणपरीप्सुः" वह प्राणों की रक्षा करना चाहता था। जिन प्राणों की रक्षा के लिए उसने नीच दुर्योधन की सेवा, पिता द्रोणाचार्य का वध और अन्याय करना अंगीकार किया था उनके प्राणों की रक्षा के लिए भागना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

पृथ्वी पर जहाँ तक दौड़ा जा सकता था याने जहाँ तक नदी आदि बीच में नहीं पड़ी वहाँ तक वह भागा। "योग और मन्त्रादि के द्वारा दूसरे लोक में (स्वर्गादि में) जाने पर भी उसकी रक्षा नहीं हो सकती थी" इसमें द्रष्टान्त कहते हैं। जैसे रुद्र भक्त विद्युन्माली राक्षस के गिरा देने पर रुद्र महादेव को क्रोध हुआ तब त्रिशूल को उठाकर महादेवजी सूर्य को मारने के लिए प्रवृत्त हुए। सूर्य दौड़ता हुआ पृथ्वी पर गिरा और काशी में लोलार्क नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस प्रसङ्ग की वामन पुराण में इस प्रकार की कथा है कि-"विद्युन्माली नाम का कोई राक्षस महादेवजी का भक्त था। महदेवजी ने उसे सोने का विमान दिया। उसके बाद उसने सूर्य के पीछे दौड़ते हुए अपने विमान की कान्ति से रात्रि को नहीं होने दिया। तब सूर्य ने अपने तेज से उस विमान को पिघलाकर गिरा दिया। यह बात सुनकर महादेवजी क्रुद्ध हुए और त्रिशूल उठाकर सूर्य के पीछे दौड़े। सूर्य दौड़ा और महादेवजी को क्रूर दृष्टि से दग्ध होता हुआ काशी में पड़ा और "लोलार्क" नाम से प्रसिद्ध हुआ।"

इसी तरह अश्वत्थामा भी अर्जुन के भय से यदि दूसरे लोक में जाय तो उसी तरह गिर सकता था। अत. पृथ्वी पर जितना भागा जा सकता था उतना वह भाग गया॥१८॥

श्लोक—**यदाऽशरणमात्मानमैक्षत श्रान्तवाजिनम् ।**
अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने आत्मत्राणं द्विजात्मजः ॥१९॥

अथोपस्पृश्य सलिलं सन्दधे तत्समाहितः ।
अजानन्नुपसंहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते ॥२०॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणपुत्र अश्वत्थामा ने जब अपने आपको रक्षकहीन तथा रथ के घोड़ों के थक जाने से पलायन में असमर्थ पाया तब अपने रक्षण का उपाय ब्रह्मास्त्र को माना ॥१९॥

इसके बाद प्राणों पर कष्ट आने पर आचमन कर एकाग्र मन होता हुआ ब्रह्मास्त्र के उपसंहार को नहीं जानते हुए भी उसने उसे चढ़ाया ॥२०॥

सुबोधिनी—तदा भयाच्छरणान्वेषणे भगवद्वैमुख्येन गच्छतीति कोऽपि महादेवादिर्न शरणमभूत् । पलायनं च कर्तुमशक्तः । अश्वानां श्रान्तत्वात् । तदा ब्रह्मशिरः ब्रह्मास्त्रं आत्मनः शरणं भविष्यतीति ज्ञातवान् । न विद्यते शरणं यस्य सः अशरणः । श्रान्ता वाजिनो यस्य । **आध्यात्मिकं चाऽधिदैवं ब्रह्मास्त्रं द्विविधं मतम् । निवर्त्यमनिवर्त्यं च मन्त्रयोः सुप्रतिष्ठितम्** । द्रोणाचार्येणाऽस्मै ब्रह्मास्त्रद्वयं दत्तम् । उपसंहारस्तु न शिक्षितः । शरीरे विद्यमान एव मृत्योः पालयिष्यतीति । इदानीमस्य उपसंहारज्ञानाभावेऽपि प्रयोगेच्छा द्विजात्मजत्वेनाऽदीर्घदर्शनाज्जाता । ततः पलायनं त्यक्त्वा भिन्नप्रक्रमेण आचमनं विधाय, समाहितः सन् देवतासन्निध्यार्थम् । उपसंहाराज्ञाने सन्धाने लोकक्षयात्स्वस्य महत्पापं भविष्यतीति ज्ञात्वाऽपि प्राणकृच्छ्र उपस्थिते अयुक्तमप्यापदि कर्त्तव्यमिति बुद्धचा तत्सन्दधे ॥१९।२०॥

व्याख्यार्थ—तब भय से वह अपना रक्षक ढूंढ रहा था किन्तु भगवद्विमुख होकर वह जा रहा था इसलिए महादेव आदि उसके आश्रय अथवा रक्षक नहीं हुए । वह अश्वत्थामा भागने में इसलिए असमर्थ हुआ कि उसके रथ के घोड़े थक गये थे । तब ब्रह्मास्त्र मेरा आश्रय अथवा रक्षक होगा ऐसा उसने जाना ।

"अशरणम्" का अर्थ है कि जिसका कोई रक्षक नहीं ।

"श्रान्तवाजिनम्" का अर्थ है कि जिसके घोड़े थक गये ।

ब्रह्मास्त्र "आध्यात्मिक" और "आधिदैविक" इस तरह दो प्रकार का है । आध्यात्मिक निवर्त्य (हटाया जा सकने वाला) है और आधिदैविक अनिवर्त्य (नहीं हटाया जा सकने वाला) है और वह दोनों ब्रह्मास्त्र मन्त्रों में सुप्रतिष्ठित हैं । मन्त्रों के द्वारा चलाये जाते हैं । द्रोणाचार्य ने इसे अश्वत्थामा को दोनों आध्यात्मिक व आधिदैविक ब्रह्मास्त्र दिये किन्तु इन दोनों का उपसंहार नहीं सिखाया । अश्वत्थामा ने समझा कि शरीर के रहते हुए ही यह ब्रह्मास्त्र मृत्यु से बचा देगा ।

इस समय इसे उपसंहार का ज्ञान नहीं था तो भी चलाने की इच्छा इसलिए हुई कि वह ब्राह्मण का पुत्र था। ब्राह्मण का पुत्र दूरदर्शी नहीं होता अर्थात् इसका क्या परिणाम होगा उसने यह नहीं सोचा। तब उसने भागना बन्द कर आचमन किया और देवता की सन्निधि हो इसके लिए सावधान हुआ। उपसंहार का ज्ञान न होने पर ब्रह्मास्त्र के चलाने से लोकों का क्षय हागा और उससे अपने को बड़ा भारी पाप लगेगा। इस बात को जानकर भी प्राणों पर कष्ट आने पर आपत्ति में अयुक्त भी करना चाहिये–इस बुद्धि से उस अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र को चढ़ाया ॥२०॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह—

आभासार्थ - तब जो हुआ वह कहते हैं—

श्लोक—**ततः प्रादुरभूत्तेजः प्रचण्डं सर्वतोदिशम् ।**
प्राणापहमभिप्रेक्ष्य विष्णुं जिष्णुरुवाच ह ॥२१॥

श्लोकार्थ—उसके बाद अर्जुन के सब ओर प्रचण्ड तेज प्रादुर्भूत हुआ। अर्जुन ने उसे प्राणों को नष्ट करने वाला देख भगवान् कृष्ण से बोला ॥२१॥

सुबोधिनी- तत प्रादुर्भूत्तेज इति। प्रचण्डमप्रतिक्रियम्। प्रचण्डमित्यादि भिन्नं वाक्यम्। सर्वतो दिशमर्जुनस्य। अत एव प्राणापहम्। द्रौणेरिदमस्त्रमित्यज्ञात्वा किञ्चिदन्यदेव दैवयोगान्नाशकमुपस्थितमिति तदपनोदनार्थं तत्स्वरूपज्ञानार्थं च भगवन्तं प्रष्टुं प्रथमं स्तौति। रक्षको हि विष्णुः। ज्ञाते प्रतीकरणसमर्थो जिष्णुर्जुनः। हेत्याश्चर्यम्। तस्मिन्दृष्टे मूर्च्छया भाव्यम्। तत्राऽसम्भ्रान्तो भगवन्तं स्तौतीति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—यहां श्लोकस्थ 'प्रचण्डं' का अर्थ जिसका प्रतीकार न हो सके ऐसा है। श्लोक में 'ततः प्रचण्डं तेजः सर्वतोदिशम् प्रादुरभूत' यह भिन्न वाक्य है अतः उसका वाक्यार्थ नीचे के श्लोक से भिन्न है। 'सर्वतोदिशम्' का अर्थ यह है कि वह तेज अर्जुन के सब ओर प्रकट हुआ अतएव उसे प्राणों का नष्ट करने वाला अस्त्र अश्वत्थामा का यह है ऐसा न जानकर दैवयोग से कुछ और ही नाश करने वाला उपस्थित हो गया है। इसलिए उसको हटाने के लिए तथा उसके स्वरूप ज्ञान के लिए भगवान् से प्रश्न करने के पूर्व अर्जुन उनकी स्तुति करता है। भगवान् श्रीकृष्ण को विष्णु इसलिए कहा है कि वह सर्व व्यापक है अतएव सर्वतः रक्षक हो सकता है अथवा यहां श्रीकृष्ण में पालकत्व बताने के लिए विष्णु पद दिया है क्योंकि विष्णु पालक होता है। अर्जुन को जिष्णु इसलिए कहा है कि वह जयशील होने से तेज का स्वरूप ज्ञान होने पर प्रतीकार करने में समर्थ है। 'श्लोकस्थ 'ह' पद आश्चर्यबोधक है अर्थात् उस तेज के दीखने पर अर्जुन को मूर्च्छा होनी चाहिये सो न होकर बिना घबराये अर्जुन भगवान् की स्तुति कर रहा है यही आश्चर्य की बात है ॥२१॥

आभास—चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं चतुर्भिः श्लोकैः स्तौति **कृष्णकृष्णेत्यादिभिः**—

आभासार्थ—अर्जुन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-इन चार पुरुषार्थों को सिद्धि के लिए 'कृष्णकृष्ण' इत्यादि चार श्लोकों से भगवान् की स्तुति करता है यहां एक एक श्लोक एक एक पुरुषार्थ को देने वाला है यह सूचित होता है ।[1]

अर्जुन उवाच—श्लोक—कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयङ्कर ।
त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः ।।२२।।

श्लोकार्थ—अर्जुन बोला—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाबाहो ! भक्तों को अभय करने वाले तुम संसार से जलते हुए प्राणियों के लिए मोक्षरूप हो ।।२२।।

सुबोधिनी—आदरे वीप्सा । भयाद्वा द्विरुक्तिः । महान्तो बाहवो यस्य । इन्द्रादयो वा बाहवो यस्य । अनेन क्रियाशक्तेराधिवयमुक्तम् । पालकत्वं वा । सामान्यतः सर्वेषां पालकत्वमुक्तम् । भक्तान् प्रति विशेषेण पालकत्वमाह—**भक्तानामभयङ्करेति** । अन्येषामुपस्थिते भये परिपालनं करोति । भक्तानां तु अभयमेवोपस्थापयति न भयम् । किञ्च । त्वत्तो दूरे स्थिता दह्यमाना भवन्ति । दाहेष्वपि महान् संसारदाहो जन्ममरणरूपः । तस्य त्वमपवर्गः । संसृतेर्हेतोर्दह्यमानानामेकस्त्वमेवाऽपवर्गः । **"आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्याऽथ कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यत"** इति ।।२२।।

व्याख्यार्थ—आदर बताने के लिए श्लोक में कृष्ण कृष्ण दो बार कहा है । अथवा भय से दो बार कहा है । बड़े अर्थात् घुटनों पर्यन्त जिनकी भुजायें हैं अथवा बड़े जो इन्द्रादि देवता हैं वे भुजा हैं जिनकी यहां महाबाहा पद कहने से क्रिया शक्ति की अधिकता कहो । बाहु से क्रिया होती है और वेदबाहु होने से वही क्रिया करने का सामर्थ्य है यह कहा गया । अर्थात् भगवान् बहुत बड़ी क्रिया करने वाले हैं । अथवा महाबाहु होने से रक्षक हैं । इस प्रकार सामान्य रूप से सबके पालक हैं यह महाबाहु पद से कहा गया । भक्तों का विशेष रूप से पालन करते हैं इस बात को भक्तानामभयङ्कर इससे कहते हैं । औरों का परितः पालन भय आने पर करते हैं और भक्तों के लिए तो अभय ही सदा रखते हैं । अर्थात् भय आने पर उसे दूर करते हैं यह बात नहीं है किन्तु भय आने ही नहीं देते और एक बात यह भी है कि आपसे (भगवान् से) दूर रहने वाले संसार में जलते हैं । सब दाहों में जन्म मरण रूप संसार दाह बड़ा है उसके लिए आप मुक्तिरूप हैं । अर्थात् संसार के कारण से जलने वाले प्राणियों के संताप को आप ही दूर करने वाले हैं । जैसा कि गीता में कहा है—"आ ब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्त्तिनोर्जुनः । मामुपेत्याथ कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त करने वाले जोव पीछे आते हैं और मुझे प्राप्त करने वाले पोछे नहीं आते । तात्पर्य यह है कि जन्म मरणादि की निवृत्ति भगवत्प्राप्ति से हो होती है ।।२२।।

श्लोक—त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः ।
मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि ।।२३।।

---

[1] यहां तात्पर्य यह है कि इन चार श्लोकों के बोलने से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ मिल जाते हैं ।

श्लोकार्थ—आप सबके आदि साक्षात् ईश्वर एवं प्रकृति से पर पुरुष हैं। आप चैतन्य शक्ति के द्वारा माया को दूर हटाकर केवल अपने स्वरूप में ही स्थित हैं।२३।

सुबोधिनी – अत्रोपपत्तिं श्लोकद्वयेनाऽऽह । **स वै पतिः स्यादिति** न्यायेन प्रथमतः स्वस्य सर्वदोषाभावस्तदनु परस्य दोषदूरीकरणमिति । तत्र दोषाः पञ्चविधाः । कर्मजाः कालजाः स्वभावजा मायोद्भवा देशोद्भवाश्चेति । ते क्रमेण निवार्यन्ते । कर्मापेक्षयाऽप्याद्यत्वात्स्वतन्त्रत्वेन तदधीनत्वाभावाच्च न तस्मिन्कर्मजाः । किञ्च । सर्वेषामयं नियामकः । कालश्च । तत्र कालस्तु स्वोद्भवशरीरादिद्वारा तदध्यासे जाते नियामकः । भगवांस्तु साक्षादात्मनामपि । अतः कालस्याऽपि नियामक इत्युक्तं भवति । तेन न कालजाः । प्रकृतिनियामकत्वाच्च न प्राकृताः । भगवतस्तु बह्वयः शक्तयः सन्त्यन्योन्यविरुद्धास्तत्तत्कार्यार्थं निर्मिताः । तत्र यस्यामेवाऽऽसक्त्या क्रीडायां क्रियमाणायां तद्दोषप्रादुर्भावः सम्भाव्यते तदैव तद्विरुद्धशक्तिप्रादुर्भावनेन पूर्वान् (?) दूरीकरोति । तथा चिच्छक्त्या मायां व्युदस्य तिष्ठतीति न मायिकदोषसम्बन्धः । देशदोषस्तु न सम्भाव्य एव । सर्वधर्मास्पृष्टे केवल एवाऽऽत्मनि विद्यमानत्वात् । अतः स्वतः पञ्चविधदोषरहितः ।।२३।।

व्याख्यार्थ— आप जन्ममरणरूप संसार से छुड़ाने वाले हैं । इसमें दो श्लोकों से उपपत्ति कहती है । "स वै पतिः स्यात्" अर्थात् वही पति होने योग्य है जो स्वयं सब भयों से मुक्त हो । इस न्याय से पहले अपने आप में (स्वामी में) दोषाभाव होना चाहिये । तदनन्तर दूसरे के दोष दूर करना युक्त होगा अर्थात् भगवान् जब निर्दोष होगे तभी ब्रह्म सम्बन्ध लेने पर जीवों को निर्दोष बना सकते हैं । भगवान् निर्दोष हैं इस बात का प्रतिपादन करते हैं । दोष पांच प्रकार के हैं । कर्मजन्य कालजन्य स्वभावजन्य, मायाजन्य तथा देशजन्य । ये दोष भगवान् में नहीं हैं । इस बात को 'आद्यः ईश्वरः प्रकृतेः परः मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि' से क्रमशः कहा है । कर्मों की अपेक्षा भगवान् आद्य है इसलिए स्वतन्त्र होने से कर्माधीन नहीं है अतः उसमें कर्मजन्य दोष नहीं है । कर्मजन्य दोष उन्हीं में होते हैं जो कर्मों के बाद पैदा होते हैं और कर्मों के अधीन होते हैं । भगवान् ईश्वर होने से सबके नियामक हैं और काल रूप भी हैं । काल अपने मे पैदा हुए शरीरादि में अध्यास होने पर ही नियामक होता है । भगवान् में शरीरादि का अध्यास नहीं है इसलिए कालजन्य दोष नहीं है। भगवान् तो आत्मा के भी नियामक है इसलिए काल के भी नियामक है यह स्वतः सिद्ध है । प्रकृति से परे होने से वह स्वभाव का नियामक है अतः उसमें स्वभावजन्य दोष भी नहीं है यहां प्रकृति से स्वभाव लिया गया है। भगवान् की परस्पर विरुद्ध शक्तियां उस उस कार्य के लिए निर्मित हुई हैं । जिस किसी एक शक्ति में आसक्ति से भगवान् की क्रीडा होगी तो उस शक्ति का दोष भगवान् में जभी सम्भावित होने लगता है तभी भगवान् उससे विरुद्ध शक्ति को प्रादुर्भूत करके पूर्व दोषों को दूर कर देते हैं । इसी प्रकार चिच्छक्ति से माया को दूर हटाकर वह स्थित हैं इसलिए मायिक दोष की सम्भावना नहीं है । देशजन्य दोषों की तो उसमें सम्भावना ही नहीं है क्योंकि सब धर्मों से अस्पृष्ट केवल अपने आप ही में वह विद्यमान है किसी देश विशेष में नहीं । यदि अपने से भिन्न में रहते तो देशजन्य दोष की सम्भावना हो सकती थी अतः आप (भगवान्) स्वतः उक्त पञ्चविध दोषों से रहित हैं ।।२३।।

आभास—अन्येषां दोषदूरीकरणं कैमुतिकन्यायेनाऽऽह—

आभासार्थ जो स्वयं निर्दोष है वह दूसरे के दोषों को दूर करे इसमें कोई बात नहीं इस बात को कहते हैं कि –

श्लोक—**स एव जीवलोकस्य मायामोहितचेतसः ।**
विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ।।२४।।

श्लोकार्थ—वह ईश्वर ही आप अविद्या से मोहित चित्त वाले प्राणी समुदाय को अपने प्रभाव से उस-उस कर्म के अनुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ को देते हैं ।।२४।।

सुबोधिनी—**स एवेति** । पूर्वोक्तगुणयुक्त एव । मायामोहितचेतसो जीवस्य भ्रान्तस्य । भ्रान्त्या यदेव प्रार्थयते तदेव प्रयच्छसि किमुत भ्रान्तिदोषं दूरीकरोषीति । अनेन वस्तुत उत्तममनुत्तमं वा यदेव यः प्रार्थयते तदेव तस्मै प्रयच्छसीति सर्वाभीष्टदातृत्वमुक्तम् । अन्यथा सर्वेषामभजनीयः स्यात् ।।२४।।

व्याख्यार्थ—वह पूर्वोक्त गुणयुक्त भगवान् हो माया से मोहित चित्त वाले भ्रान्त जीव को भ्रान्ति से जो भी वह चाहता है उसे भी दे देते हैं । अथवा भ्रान्ति दोष को मिटाते हैं । इससे यह कहा गया कि वास्तव मे उत्तम अनुत्तम जो भी कुछ जीव चाहता है भगवान् उसे वही देते हैं। इसलिए वह सर्वाभीष्ट देने वाला है । यदि जो भी चाहे उसे न दे तो उसका सब लोग भजन नहीं करेंगे ।।२४ ।

आभास—किञ्च । सामान्यत एतत्तव स्वरूपमुक्तम् । विशेषतस्तव स्वरूपविचारे अस्मदादीनां न किञ्चित्कर्तव्यमित्यभिप्रायेणाऽऽह—

आभासार्थ—यह आपका सामान्यतः स्वरूप कहा । विशेष रूप से आपके स्वरूप के विचार करने पर हम लोगों का कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता । अर्थात् आप ही सब कुछ कर देते हो इस अभिप्राय से कहते हैं –

श्लोक—**तथाऽयञ्चाऽवतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया ।**
स्वानाञ्चाऽनन्यभावानामनुध्यानाय चाऽसकृत् ।।२५।।

श्लोकार्थ—इसी प्रकार यह आपका अवतार पृथ्वी के भार को मिटाने के लिए है और अनन्य भाव वाले भक्तों के निरन्तर ध्यान के लिए भी है ।।२५।।

सुबोधिनी – **तथाऽयमिति । तथाऽयञ्चाऽवतारस्ते** । यथा भवान् सर्वदोषरहितः सर्वाभीष्टदस्तथाऽवतारोऽप्ययम् । येषां मते भगवानेव साकार आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः मायाजवनिकादूरीकरणेन प्रादुर्भूत इति तेषां न किञ्चिद्वक्तव्यम् । येषामपि मते स्वेच्छामये शरीरविशेषे भगवतो-

तस्याऽवतारस्य तन्मतेनैवं कथनम् । ऽनन्तसूर्यप्रकाशस्य अयोगोलके वन्हेरिवाऽऽगमनमवतार इति तन्मतेनैवं कथनम् । तस्याऽवतारस्य प्रयोजनद्वयं सर्वजनीनम् । भुवो भारदूरीकरणं, वैष्णवशास्त्रे तु स्वानामनन्यभावानां निरन्तरानुध्यानार्थम् । उभयमर्जुनस्याऽभिप्रेतमित्युभयथाऽप्यस्माकं हितकरणम् । भूभारहरणसहायाद्भक्तत्वाच्च ।।२५।।

व्याख्यार्थ—जैसे आप सब दोषों से रहित सम्पूर्ण अभीष्टों को देने वाले हैं उसी रूप में यह अवतार भी है जो यह मानते हैं कि साकार अर्थात् आनन्द मात्र करपादमुखोदरादियुक्त भगवान् ही मायारूपी परदे को दूर कर प्रादुर्भूत होते हैं । उनके लिए तो अवतार के विषय में कुछ कहना नहीं है परन्तु जो यह मानते हैं कि स्वेच्छामय शरीर विशेष में अनन्तसूर्य सदृश प्रकाश वाले भगवान् का लोह के गोले में अग्नि की तरह जो आना है वह अवतार कहलाता है । उस मत से यह कहा गया कि जैसे भगवान् सर्वदोष रहित सर्वाभीष्ट देने वाले है उसी प्रकार यह अवतार भी है । उस अवतार के दो प्रयोजन सर्वजन प्रसिद्ध हैं । प्रथम पृथ्वी के भार को दूर करना और द्वितीय वैष्णव शास्त्र के अनुसार अनन्य भाव वाले भक्तों के निरन्तर ध्यान करने के लिए पधारना । स्तुति करने वाले अर्जुन को दोनों प्रयोजन अभिप्रेत है । क्योंकि भगवान् ने दोनों प्रकार से अर्जुन का हित किया है । पृथ्वी का भार हटाने में सहायता की है तथा भक्त होने के नाते निरन्तर ध्यान भी हुआ है ।।२५।।

श्लोक—**किमिदं स्वित्कुतो वेति देव देव न वेद्म्यहम् ।**
सर्वतोमुखमायाति तेजः परमदारुणम् ।।२६।।

श्लोकार्थ—हे देवाधिदेव ! जो परमदारुण तेज सर्वतोमुख आ रहा है, यह वास्तव में क्या है और कहाँ से आ रहा है ? यह मैं नहीं जानता । इसे आप बताइये ।।२६।।

सुबोधिनी—एवं स्थिते किमिदम् कस्मादाविर्भूतमिति तत्कथयेत्याह । सर्वदिशत्वात्- **कुतो वेति** । न ज्ञायते कुत्र वा मूलमिति । अवतारेऽपि तव न किञ्चिदज्ञातम् । देवकार्यसाधकत्वात् । तदाह— **देवदेवेति** । तथा त्वमपीत्याशङ्क्य अब्रह्मत्वान्नाऽहं वेद । लौकिकी तूपपत्तिरत्र न सम्भवति । यतः सर्वतोमुखमायाति । सूर्यादितेजोव्यावृत्त्यर्थम्—**परमदारुण मति** ।।२६।।

व्याख्यार्थ—यह तेज सब दिशाओं से आ रहा है इसलिए नहीं मालूम होता है कि इसका मूल उद्भव स्थान कहाँ है ? आप अवतार रूप में पधारे हैं तब भी आपसे कोई बात बिना जानी नहीं है । क्योंकि आप देवाधिदेव हैं अर्थात् देवताओं के भी कार्य को सिद्ध करने वाले हैं । अतः देवताओं से भी पूज्य हैं । इसी बात को 'देव देव' से कहा है । यदि आप कहें कि तू भी ऐसा ही है यह बात नहीं है । आप ब्रह्म हैं मैं ब्रह्म नहीं हूं । इसलिए मैं इसे नहीं जानता । लौकिकी युक्ति के द्वारा समझ लिया जाय यह बात यहां नहीं है । क्योंकि यह तेज सर्वतः (सब ओर से) आ रहा है । और यह सूर्य आदि का तेज नहीं हो सकता क्योंकि यह परमदारुण है । सूर्य आदि का तेज परमदारुण नहीं होता ।।२६।।

आभास—तत्रैतद्विषयकमज्ञानं द्विविधम् । स्वरूपतो धर्मतश्चेति । तत्र स्वरूपतस्तु त्वं वेदेति भगवानाह—

आभासार्थ—तेज विषयक अज्ञान दो प्रकार का है एक स्वरूपत: दूसरा धर्मत: अर्थात् इसका क्या स्वरूप है? यह अज्ञान और दूसरा इसका क्या धर्म (कार्य) है यह अज्ञान इनमें से भगवान् कहते हैं कि इसके स्वरूप का तुझे ज्ञान है इसी बात को कहते हैं कि—

श्री भगवानुवाच—श्लोक—**वेत्थ त्वं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं प्रदर्शितम् ।**
नैवाऽसौ वेद संहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते ॥२७॥

श्लोकार्थं—भगवान् आज्ञा करते हैं कि यह द्रोणाचार्य के पुत्र (अश्वत्थामा) का ब्रह्मास्त्र है इसे तू जानता है । यह अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्र का उपसंहार नहीं जानता । इसने इसे प्राणों पर आपत्ति आने पर बिना विचारे छोड़ दिया है ॥२७॥

सुबोधिनी—वेत्थ त्वमिति । गुरुपुत्रत्वाद्गुरुणा ब्रह्मास्त्रमस्मै दत्तं त्वत्समक्षम् । अतस्त्वं वेद । तदेवेदमिति तु जानीहि । ननु ब्रह्मास्त्राण्यपि बहूनि दृष्टानि प्रयुक्तानि च । कदाचिदपि नैवं दृष्टमिति चेत्? तत्राऽऽह—**नैवाऽसौ वेद संहारमिति** । अतोऽनभिज्ञेन प्रयुक्तत्वात्सर्वतोमुखमायाति । तर्हि कथं प्रयुक्तवान्? तत्राऽऽह—**प्राणकृच्छ्र उपस्थित** इति । पादद्वयमपि भिन्नं भिन्नं वाक्यम् । २७।

व्याख्यार्थ—गुरुपुत्र होने से इसे गुरु द्रोणाचार्य ने तेरे ही सामने ब्रह्मास्त्र की शिक्षा दी थी । इसलिए इसको तू जानता है अर्थात् वही यह ब्रह्मास्त्र है ऐसा तू जान । अर्जुन शङ्का करता है कि बहुत से ब्रह्मास्त्र मैंने देखे और उनका प्रयोग भी किया परन्तु ऐसा कोई भी ब्रह्मास्त्र कभी नही देखा जैसा कि यह ब्रह्मास्त्र है इस पर कहते हैं कि "नैवासौ वेद संहारम्" यह अश्वत्थामा इसका उपसंहार नहीं जानता । अत: इसके प्रयोग को भली भाँति नहीं कर पाया है । यदि यह प्रयोग करना अच्छे रूप में जानता तो तेरे ही ऊपर यह तेज आता परन्तु इसके सम्यक् प्रयोग को नहीं जानने से सब ओर इसका तेज आ रहा है जिससे सबके नाश की सम्भावना हो गई है । इसमें यह शङ्का होती है कि जब इसे ब्रह्मास्त्र का चलाना नहीं आता तो इसने क्यों चलाया? इसका उत्तर देते हैं कि 'प्राणकृच्छ्र उपस्थिते' प्राणों पर आपत्ति आने पर 'निषिद्धमप्याचरणीयमापदि' आपत्तिकाल में निषिद्ध कार्य भी करना चाहिये । इस न्याय के अनुसार इसका प्रयोग किया है । श्लोक के दोनों पादों का वाक्यार्थ भिन्न भिन्न है अर्थात् श्लोक के ऊपर के पाद का अर्थ नीचे के पाद के अर्थ से सम्बन्ध नहीं रखता ॥२७॥

आभास—तर्हि किं कर्तव्यम्? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—अर्जुन कहता है कि-तब क्या करना चाहिये इस पर कहते हैं कि—

श्लोक- **न ह्यस्याऽन्यतमं किञ्चिदस्त्रं प्रत्यवकर्षणम् ।**
जह्यस्त्रतेज उन्नद्धमस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा ॥२८॥

श्लोकार्थ—क्योंकि इस ब्रह्मास्त्र को हटाने वाला कोई दूसरा अस्त्र नहीं है इसलिए इस ब्रह्मास्त्र के बढ़े हुए तेज को अपने से प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र के तेज के द्वारा उपसंहार कर क्योंकि तू ब्रह्मास्त्र के प्रयोग और उपसंहार को जानने वाला है ॥२८॥

सुबोधिनी—न ह्यस्येति । ब्रह्मास्त्रे ब्रह्मास्त्रमेव प्रयोक्तव्यम् । नाऽन्यत्तत्प्रतीकारमर्हति । अतोऽस्त्रज्ञो भवानुन्नद्ध ब्रह्मास्त्रतेजो ब्रह्मास्त्रतेजसैव जहि । त्वयाऽपि प्रयुक्तमेतादृशमेव तेजो भविष्यति । तेनाऽस्य प्रतीकार इति ॥२८॥

व्याख्यार्थ- ब्रह्मास्त्र के प्रयोग के विरुद्ध ब्रह्मास्त्र का ही प्रयोग करना चाहिये । दूसरा उसका प्रतीकार नहीं है । अतः ब्रह्मास्त्र के **प्रयोग** एवं उपसंहार को जानने वाला तू बढ़े हुए ब्रह्मास्त्र तेज को अपने से चलाये गये ब्रह्मास्त्र तेज के द्वारा ही दूर कर । तू जिस ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करेगा वह भी इसी प्रकार के तेज वाला होगा जिससे इसका प्रतीकार हो सकेगा ॥२८॥

आभास—एवं भगवतोक्ते यदासीत्तदाह—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के कहने पर जो हुआ उसे कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—**श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं फाल्गुनः परवीरहा ।**
स्पृष्ट्वाऽपस्तं परिक्रम्य ब्राह्मं ब्राह्मायं सन्दधे ।२९।

श्लोकार्थ—सूतजी बोले कि—शत्रुओं के वीरों को मारने वाले अर्जुन ने भगवान् से कही हुई बात को सुनकर आचमन तथा भगवान् की परिक्रमा करके ब्रह्मास्त्र की निवृत्ति के लिए ब्रह्मास्त्र का संधान किया ॥२९॥

सुबोधिनी—श्रुत्वेति । **परवीरहेति** सामर्थ्यम् । **तं परिक्रम्येति** कार्यसिद्धिः । अस्य ब्रह्मास्त्रस्य पूर्वब्रह्मास्त्रनिवर्त्तकत्वमेव । न तु प्रयोक्तृघातकत्वम् । तदुक्तम्- **ब्राह्मं ब्राह्मायेति** ॥२९॥

व्याख्यार्थ—परवीरहा पद से अर्जुन का सामर्थ्य बताया । सामर्थ्य वाला ही शत्रुओं के वीरों को मारता है अथवा शत्रुरूप वीरों को मारता है । तं परिक्रम्य ऐसा कहने से अर्जुन की कार्यसिद्धि अवश्य होगी यह बताया । भगवान् की परिक्रमा कर जो कार्य को आरम्भ करता है उसका कार्य अवश्य सिद्ध होता है । अर्जुन का चलाया हुआ ब्रह्मास्त्र पहले चलाये हुए अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र का निवर्त्तक ही है । प्रयोक्ता जो अश्वत्थामा है उसको मारने वाला नहीं है इसलिए श्लोक में कहा है कि [१] 'ब्राह्मं ब्राह्मायं' ब्राह्मायं में जो चतुर्थी है निवृत्ति अर्थ मे है अर्थात् अश्वत्थामा के द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र की निवृत्ति के लिए अर्जुन ने ब्रह्मास्त्र छोड़ा ॥२९॥

---

[१] 'ब्राह्माऽजातौ' पाणिनीय सूत्र के अनुसार 'ब्राह्मं ब्राह्माय' ऐसा पाठ युक्त मालूम होता है ।

आभास—ततो यज्जातं तदाह—

आभासार्थ अर्जुन के ब्रह्मास्त्र चलाने पर जो कुछ हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक—**संहत्याऽन्योन्यमुभयोस्तेजसी शरसंवृते ।**
आवृत्य रोदसी खं च ववृधातेऽर्कवह्निवत् ।।३०।।

श्लोकार्थ—बाणों से वेष्टित दोनों ब्रह्मास्त्रों का तेज एक दूसरे से मिलकर स्वर्ग, पृथ्वी एवं आकाश को घेरकर प्रलयकालीन सूर्य एवं संकर्षण मुख की अग्नि की भाँति बढ़ा ।।३०।।

सुबोधिनी—संहत्येति । उभयोस्तेजसी अन्योन्यं संहत्य मूलदार्ढ्याय शरयोः संवेष्टिते भूत्वा द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं चाऽऽवेष्ट्य संवर्तकसूर्यसङ्कर्षणमुखानलवत् सर्वनाशार्थं ववृधाते ।।३० ।

व्याख्यार्थ—दोनों ब्रह्मास्त्रों के तेज आपस में मिलकर मूल को दृढ़ करने के लिए बाणों से संवेष्टित होकर स्वर्ग, पृथ्वी एवं अन्तरिक्ष को व्याप्त कर प्रलयकालीन सूर्य एवं संकर्षण के मुख से निकली हुई अग्नि की तरह सबका नाश करने के लिए बढ़े ।।३०।।

आभास—एतयोर्निवृत्तौ हेतुमाह—

आभासार्थ—दोनों ब्रह्मास्त्रों की निवृत्ति में कारण बताते हैं—

श्लोक—**दृष्ट्वाऽस्त्रतेजस्तु तयोस्त्रींल्लोकान् प्रदहन्महत् ।**
दह्यमानाः प्रजाः सर्वाः सांवर्त्तकममंसत ।।३१।।
प्रजोपप्लवमालक्ष्य लोकव्यतिकरं च तम् ।
मतं च वासुदेवस्य सञ्जहाराऽर्जुनो द्वयम् ।।३२।।

श्लोकार्थ—उसके बाद तीनों लोकों को जलाते हुए उस महान् अश्वत्थामा एवं अर्जुन के अस्त्र के तेज को देखकर उससे जलती हुई सभी प्रजा ने प्रलयाग्नि को उपस्थित जाना । लोक आदि के विनाशक प्रजा के विनाशक उस तेज को देखकर और भगवान् कृष्ण के अभिप्राय को जानकर अर्जुन ने दोनों ब्रह्मास्त्रों का उपसंहार किया ।।३१-३२।।

सुबोधिनी—दृष्ट्वाऽस्त्रतेज इति । मिलितत्वादेकवचनम् । प्रजा दक्षादयः । अन्येऽपि । भगवत्सान्निध्यात् । अतः परमनुपसंहारे प्रलयो भविष्यतीति भगवदभिप्रायं ज्ञात्वा । लोकानां नाशं भूरादीनां च । सर्वोपकारार्थमेकगुरुत्वाद्द्वयमात्मन्येवोपसंहृतमित्याह—**सञ्जहारेति** । **तमिति** पूर्वोक्तदाहलक्षणम् । चकारात्स्वस्याऽपि । तेजोलाभाद्भगवतः सम्बन्धादप्येतन्मतमित्याह—**वासुदेवस्येति** ।।३१।।३२।।

व्याख्यार्थ—दोनों अस्त्रों के तेज थे इसलिए द्विवचन होना चाहिये था सो श्लोक में एकवचन क्यों दिया इसका कारण यह है कि दोनों तेज मिलकर एक हो गये थे इसलिए श्लोक में 'अस्त्रतेजः' यह एकवचन दिया है। श्लोक में आये प्रजा पद से दक्ष आदि तथा अन्य भी लिये गये हैं। यदि इसका उपसंहार न किया जायगा तो प्रलय हो जायगा ऐसे भगवान् के अभिप्राय को भगवत्सान्निध्य से जानकर तथा भूवादिलोकों का नाश हो जायगा ऐसा जानकर सबके उपकार के लिए अर्जुन ने एक ही गुरु (द्रोणाचार्य) से प्राप्त होने वाले उन दोनों ब्रह्मास्त्रों का अपने में ही उपसंहार कर लिया। इसी बात को कहते हैं कि 'संजहारार्जुनोद्वयम्' श्लोक में जो 'तं' पद है उससे प्रजा आदि को लोक तथा स्वयं (अर्जुन) को जलाने वाला दाह लिया गया है। दोनों अस्त्रों के उपसंहार से अधिक तेज मिलेगा एवं भगवान् कृष्ण को भी यह अभिमत है इस बात को भगवान् के सम्बन्ध से जानकर अर्जुन ने दोनों अस्त्रों के तेज का उपसंहार किया इसी बात को 'मतं च वासुदेवस्य' पद से कहा है ॥३१॥३२।

श्लोक—**तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम्।**
बबन्धाऽमर्षताम्राक्षः पशुं रशनया यथा ॥३३॥

श्लोकार्थ—अस्त्र के उपसंहार के अनन्तर क्रोध से रक्त नेत्र वाले अर्जुन ने याज्ञिक पुरुष जैसे रस्सी से पशु को बाँधते हैं इस प्रकार उस क्रूर अश्वत्थामा को प्राप्तकर वेग से बाँध दिया ॥३३॥

सुबोधिनी—ततः स्वस्मिंस्तेजोद्वयसंक्रमणानन्तरम्। आसाद्य निकटे गत्वा। दूराद्वारुणपाशादिभिर्बन्धने महान्क्लेशो भवतीति। तरसा शीघ्रम्। प्रतिक्रियानवसराय। **दारुणमिति** बन्धने हेतुः। मरणं शापं मारणं वा ईश्वरभजनादि वा कुर्यादिति। ननु गुरुपुत्रं कथं बबन्ध? तत्राऽऽह—**गौतमीसुतमिति**। **नाऽयं गुरोः** सम्मतः पुत्रः। गौतमी तस्य माता। गौतमवंशोत्पन्नत्वात्। अनेन पुत्रस्नेहसम्बद्धभार्याप्रार्थनया राजसम्बन्धो मरणं च सूचितम्। **अमर्षताम्राक्ष इति**। अनेन ब्राह्मण्यादयो न स्फुरिताः। अवश्यं बन्धनीय इति दृष्टान्तमाह—**पशुमिति**। न हि पराजितः शत्रुरबध्वा त्युक्तं शक्यते। अश्लक्ष्णया बन्धनं ध्वजस्तम्भे चेति। नीत्वा च परोक्षं मारणं तदभिप्रेतम् ॥३३॥

व्याख्यार्थ—अपने में दोनों तेजों का संक्रमण होने के अनन्तर अश्वत्थामा के पास जाकर दूर से वारुण पाश आदि से बांधता तो अर्जुन को महान् क्लेश होता इसलिए पास में जाकर उसे किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का अवसर न मिले इस प्रकार शीघ्र ही दारुण कर्मकारी उस अश्वत्थामा को बांधा। दारुण कर्म ही उसके बन्धन में कारण हुआ। यदि उसे नहीं बांधा जाता तो कदाचित् वह स्वयं ही मर जाता शाप दे देता अथवा स्वयं अर्जुन को मारता अथवा ईश्वर भजन आदि कर लेता तो आगे के दण्ड से वह मुक्त हो जाता इसलिए उसे शीघ्र ही बांधा। कदाचित् यह शंका हो कि गुरुपुत्र को कैसे बांधा इस पर कहते हैं कि 'गौतमीसुतम्' यह अश्वत्थामा गुरु का सम्मत पुत्र नहीं था। इसलिए 'द्रोण' के पुत्र का उल्लेख न कर गौतमी के पुत्र को बांधा ऐसा कहा अर्थात् वह अश्वत्थामा गौतमी सम्मत पुत्र था इसलिए उसे बांधने में अर्जुन को हिचकिचाहट नहीं हुई। गौतम वंश में उत्पन्न होने से उसकी माता गौतमी थी। इससे यह भी

सूचित हुआ कि पुत्र अश्वत्थामा के स्नेह से बंधी गौतमी की प्रार्थना से द्रोणाचार्य का दुर्योधन से सम्बन्ध हुआ और उसी कारण से उनका मरण भी हुआ । अर्जुन क्रोध से लाल नेत्र वाला हो गया था अर्थात् अत्यन्त क्रोधयुक्त हो गया था इसलिए उसे 'क्रुद्धोहन्याद्गुरुनपि' इस न्याय से अर्जुन का अश्वत्थामा ब्राह्मण एवं गुरुपुत्र है ऐसी स्पूर्ति नहीं हुई । इसे अवश्य ही बांधना चाहिये इसमें दृष्टान्त कहते हैं कि 'पशुम्' जैसे पशु को बांधा जाता है । पराजित शत्रु को बिना बांधे नहीं छोड़ना चाहिये । ध्वज के दण्ड में अथवा अशोभन प्रकार से उसे बांधा । अर्जुन को यह अभिप्रेत था कि इसे एकान्त में ले जाकर मारा जाय ॥३३॥

आभास—तस्य शिबिरे नयनमनुचितमिति भगवान्निषेधति—

आभासार्थ-अश्वत्थामा को शिविर में ले जाना उचित नहीं है इसलिए भगवान् मना करते है—

श्लोक—**शिबिराय निनीषन्तं रज्ज्वा बद्धं रिपुं बलात् ।**
प्राहाऽर्जुनं प्रकुपितो भगवानम्बुजेक्षणः ॥३४॥

श्लोकार्थ—रस्सो से शत्रु अश्वत्थामा को बलपूर्वक बांधकर सेना निवेश स्थान में ले जाने की इच्छा वाले अर्जुन को प्रकुपित से होकर कमल नयन भगवान् ने कहा ।३४।

सुबोधिनी—शिबिरायेति। सर्प इवाऽयं न स्प्रष्टव्यः । स्पृष्टश्चेन्मारणीय एव । अपकृतस्तु सर्वथा मारणीयः । तत्र गते च न मारणं भविष्यति । अतोऽत्रैव मारणीय इत्यभिप्रायेणाऽऽह । नीतिकार्यविचारे मारणीयः । धर्मविचारे बन्धनीयोऽपि न । रिपुश्च गृहे न नेयः । बलाच्च न नेयः। तत्र असावधाने किञ्चिदपकुर्यादिति । शिबिरं कटकोत्तरणस्थानम् । **भगवानिति** सर्वमारकत्वं सूचितम् । **अम्बुजेक्षण इति** भक्तरक्षकत्वं सूचितम् । तस्मादेतद्वधे सर्वं सुस्थमिति नो चेद्वहु कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥३४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने कहा कि सर्प की तरह यह अश्वत्थामा स्पर्श करने योग्य नहीं है । यदि तुमने इसे पकड़ लिया है तो इसे मारना ही चाहिये । सर्प की तरह जिस शत्रु को छेड़ दिया हो उस शत्रु को बिना मारे नहीं छोड़ना चाहिये । शिविर में ले जाने पर इसका वध कठिन है । क्योंकि द्रोपदी दयालु है इसलिए इसे छुड़ा देगी । अतः इसे यहीं मार देना चाहिये इस अभिप्राय से भगवान् ने यह कहा है । भगवान् का अभिप्राय है कि नीति के अनुसार कार्य करना चाहिये इस विचार से तो इसे मार देना चाहिये । धर्म के विचार से तो ब्राह्मण एवं गुरुपुत्र होने से इसका बन्धन भी अनुचित है । नीति यह कहती है कि शत्रु को घर पर नहीं ले जाना चाहिये और बलपूर्वक तो कदापि नहीं ले जाना चाहिये क्योंकि घर पर असावधान होने पर वह शत्रु कुछ बुरा कर सकता है । श्लोकस्थ शिबिर का अर्थ है सेना निवेश स्थान । श्लोक में भगवान् शब्द से यह सूचित किया गया है कि भगवान् कालरूप है इसलिए सबके संहारक हैं । 'अम्बुजेक्षण' पद से यह सूचित होता है कि भगवान् कमलनयन तभी बनते हैं जब भक्तों की रक्षा करनी होती है । इन

बातों से इसके मारने पर सब अच्छा होगा । यदि इसे इस समय न मारेंगे तो भविष्य में इससे बचने के लिए बहुत कार्य करना पड़ेगा यह भगवान् का अभिप्राय है ।।३४।।

आभास—तदेवाऽऽह—

आभासार्थ—भगवान् ने क्या कहा उसी बात को कहते हैं कि—

श्री भगवानुवाच—श्लोक—नैनं पार्थाऽर्हसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुमिमं जहि ।
योऽसावनागसः सुप्तानवधीन्निशि बालकान् ।३५।

श्लोकार्थ—भगवान् बोले कि–हे पार्थ ! इस ब्रह्मबन्धु को मत छोड़ो मार डालो । क्योंकि इसने रात में निरपराध सोये हुए बच्चों को मार डाला है ।।३५।।

सुबोधिनी—**नैनमिति** । पृथा सम्बन्धिनी भक्ता चेति तथा वचनम् । मारणेऽपि दोषाभावे हेतुद्वयमाह—**ब्रह्मबन्धुमिति । अवधीदिति** । पित्रादिभिरपकृते अनपराधिनः पुत्रस्य बध्वा नयनमुचितम् । न मारणम् । सुप्तस्य कस्याऽपि मारणमनुचितम् । निशि चोर एव मारयति न साधुः । बालकास्तु सर्वेषामेव अवध्याः ।।३५।।

व्याख्यार्थ– श्लोक में पार्थ यह सम्बोधन पद तू मेरा सम्बन्धी और भक्त है इसको सूचित करता है क्योंकि कुन्ती भगवान् की भुवा एवं भक्त थी इसलिए अर्जुन को पार्थ शब्द से सम्बोधित किया । अश्वत्थामा को मारने में भी दोष नहीं है इसमें 'ब्रह्मबन्धुम्' और निशि सुप्तान् अनागस बालकान् अवधीत्' ये दो हेतु हैं । पिता आदि ने यदि कोई अपराध किया हो तो उनके निरपराध बालकों को बाँधकर ले जाना उचित है किन्तु उनको मारना उचित नहीं । सोते हुए किसी को भी मारना ठीक नहीं है । रात्रि में मारना भी अपराध है । रात्रि में चोर ही मारता है । भला आदमी नहीं मारता । बालक तो सभी के लिए अवध्य है ।।३५।।

आभास—विचारेणाऽस्य वध्यतां वक्तुं वध्यावध्यनिर्णयमाह—

आभासार्थ—विचार से यह वध्य है यह कहने के लिए वध्य और अवध्य का निर्णय कहते है कि—

श्लोक—**मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं जडं स्त्रियम् ।**
प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित् ।।३६।।

श्लोकार्थ—धर्मवेत्ता मानव मदिरा आदि से मत्त असावधान, पिशाच आदि से ग्रस्त सोते हुए बालक, स्वभावतः विवेकशून्य, स्त्री, शरणागत, रथहीन तथा डरे हुए शत्रु को नहीं मारता है ।।३६।।

सुबोधिनी—**मत्तमिति** । शत्रवोऽपि दशविधा अवध्याः । मत्तो मदिरादिना । प्रमत्तः असावधानः । उन्मत्तः पिशाचादिभिः । जडः स्वभावतः । अयं तु दशानां नाऽन्यतरः (?) । तस्माद्वध्यः । किञ्च । सुप्तबालयोर्वधादधर्मयोद्धा ।।३६।।

व्याख्यार्थ—शत्रु भी दश प्रकार के मारने योग्य नहीं होते । मदिरा आदि के पीने से मत्त हुए, असावधान पिशाच आदि से आविष्ट, स्वभावतः विवेकशून्य आदि को नहीं मारना चाहिये । यह अश्वत्थामा तो इन दश में से एक भी नहीं है । इसलिए यह मारने योग्य है । मारने में कारण और भी है कि सोते हुए तथा बालक को मारने से यह अश्वत्थामा अधर्म योद्धा है ।।३६।।

आभास—नन्वस्य भवत्वधर्मः । अयं तु कथं वध्यः । ब्राह्मणशरीरस्य पुरुषार्थसाधकत्वात् । तस्मादस्य सर्वपुरुषार्थवधे स्वस्याऽधर्म इति तत्राऽऽह—

आभासार्थ—भले ही यह अधर्मी रहे परन्तु यह मारने के योग्य तो नहीं है । क्योंकि ब्राह्मण शरीर सब पुरुषार्थों का साधक है इसलिए इसे मारने से इसके सब पुरुषार्थ नष्ट होते हैं जिससे मुझे अधम होगा । इस प्रकार की अर्जुन की आशङ्का पर भगवान् आज्ञा करते हैं कि—

श्लोक—**स्वप्राणान्यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः ।**
तद्वधस्तस्य हि श्रेयो यद्दोषाद्यात्यधः पुमान् ।।३७।।

श्लोकार्थ—जो दया रहित दुर्जन दूसरों के प्राणों के नाश से अपने प्राणों की रक्षा करता है उसे मारना उसी के लिए श्रेयस्कर है जिस दोष से वह पापी नरक में जाता है दण्ड दे देने पर उसे नरक नहीं मिलता ।।३७।।

सुबोधिनी **स्वप्राणानिति** । यदयं न वध्यते तत्र को हेतुः ? प्रमाणनिषेधस्तु नास्ति । **"जिघांसन्तं जिघांसीयादि"** ति । ब्राह्मणे धर्मः प्रतिष्ठित इति यद्यवध्यः ? तदाऽस्मिन्धर्मो नास्ति । दयया चेदवध्यः ? तदैतद्वधे बहूनां प्राणिनां जीवनं भवति । अवधे त्वस्यैव । कश्चन देहादिनोपकारो भविष्यतीति तदपि नास्ति । तदाह—**तद्वधस्तस्य हि श्रेय इति । प्राणाप्राणैः(?)** जीवनं यस्य । तत्र प्राणैः प्राणजीवनमयुक्तम् । धर्मं तु युक्तम् । उभयतारकत्वात् । अवश्यमेकस्य प्राणस्य संक्षये स्वस्यैव युक्तः (?) । धर्म्यात् । तत्रापि प्रकर्षेण पोषणमयुक्तम् । बालानपि यो हन्ति सः अघृणः । घृणा कृपा तद्रहितः । खलः सूचकः । पिशुन इति यावत् । तस्माद्दुष्टवधः स्वस्य धर्मः । तस्याऽपि दुष्टशरीरे गते शरीरान्तरेण धर्मो भवतीति । पूर्वजीवनस्याऽधर्मैकसाधनत्वात् ।।३७।।

व्याख्यार्थ—इसे नहीं मारना चाहिये इसमें क्या कारण है । प्रमाण का निषेध तो नहीं है क्योंकि **शास्त्र में** कहा है कि 'जिघांसन्तं जिघांसीयात्' मारने की इच्छा रखने वाले को मार देना चाहिये । अत. प्रमाणानुसार यह मारने योग्य है । यदि कहें कि ब्राह्मण में धर्म की स्थिति है । इसलिए इसे नहीं मारना चाहिये सो भी बात नहीं है क्योंकि इसमें धर्म नहीं है । यदि कहो कि दया से इसे नहीं मारना चाहिये तो इसके मारने पर बहुत से प्राणियों का जीवन रहता है इसलिए दया का ठीक रूप रहता है । यदि इसे नहीं मारते हैं तो यही सुरक्षित रहता है और बहुत से प्राणी

इसके द्वारा मारे जाते हैं। इसके देह आदि के रहने पर इसका भी कोई उपकार नहीं है इसी बात को कहते हैं कि 'तद्वधस्तस्य हि श्रेय:' उसका मारना उसके लिए पापों से मुक्ति दिलाने के कारण श्रेयस्कर है। जो मनुष्य जीवन के रखने में कारण प्राण अपान हैं उनमें दूसरे के प्राणों से अपने प्राण की रक्षा करता है वह युक्त नहीं है। शङ्का करते हैं कि यज्ञादि में एक पशु प्राणी का वध कर अपनी रक्षा की जाती है तो यह बात युक्त क्यों नहीं तो कहते हैं कि यज्ञादि धर्म में तो यह युक्त है क्योंकि 'स गृह: स पशु: सुवर्गं लोकमेति' इस तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार यज्ञ में होने वाली हिंसा यज्ञकर्त्ता एवं वध्य पशु इन दोनों को तराने वाली है। दोनों में एक के प्राण नहीं रहने पर हो जहाँ प्राण की रक्षा हो वहाँ अपने ही प्राण का नाश करना धर्म है। ऐसी स्थिति में दूसरे के प्राणों से अपने प्राणों का विशेष रूप से पोषण करना युक्त नहीं हैं। श्लोक में अघृण: यह पद है। बालकों को भी जो मारता है वह अघृण है। यहाँ घृणा पद से कृपा ली गई है। कृपा से रहित अघृण कहलाता है। श्लोक में खल का अर्थ है सूचक इसलिए इस प्रकार के दुष्ट का मारना अपना धर्म है और उसका भी उपकार होता है क्योंकि उसके दुष्ट शरीर के नष्ट होने पर दूसरे शरीर से उससे धर्म होगा और यह वर्तमान शरीर अधर्म का ही एक मात्र साधन है। ३७।।

आभास—किञ्च। महतां प्रतिज्ञापालनं महान् धर्म:। त्वया च प्रतिज्ञातमित्याह—

आभासार्थ—अश्वत्थामा का मारना इसलिए भी ठीक है कि महान् पुरुषों के लिए अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना महान् धर्म है और तुमने तो इसके मारने की प्रतिज्ञा की है इसी बात को कहते हैं कि—

श्लोक—**प्रतिश्रुतं च भवता पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम।**
आहरिष्ये शिरस्तस्य यस्ते मानिनि पुत्रहा ।।३८।।

श्लोकार्थ—हे मानिनि! जिसने तेरे पुत्रों को मारा है उसके सिर को तुझे लाकर दूंगा। इस प्रकार मेरे सुनते हुए तुमने द्रौपदी के सम्मुख प्रतिज्ञा की थी।३८।

सुबोधिनी—**प्रतिश्रुतमिति**। अर्थतोऽयमनुवाद:—**आहरिष्य इति** ।।३८।।

व्याख्यार्थ—श्लोक में अर्जुन ने जिन शब्दों में प्रतिज्ञा की थी वे शब्द यहाँ नहीं दिये गये हैं। किन्तु उनका आहरिष्ये इत्यादि से अर्थत: अनुवाद है ।।३८।।

आभास—तस्मात्सर्वथा अयं वध्य इत्युपसंहरति—

आभासार्थ—इसलिए यह सब प्रकार से मारने योग्य है इस प्रकार उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**तदसौ वध्यतां पाप आततायात्मबन्धुहा।**
भर्तुश्च विप्रियं वीर कृतवान् कुलपांसन: ।।३९।।

श्लोकार्थ—हे वीर यह आततायी पुत्र और बान्धवों को मारने वाला है और इस कुल कलङ्क अश्वत्थामा ने स्वामी दुर्योधन का भी अप्रिय किया है इसलिए इसे मारा ॥३९॥

सुबोधिनी—तदसाविति । आत्मनः पुत्रान् बन्धूंश्च हन्तीति । स्वामिहिताचरणमपि न जातमित्याह—**भर्तुश्चेति** । वंशे विद्यमाने तस्याऽप्युपकारो भवेत् । कुलद्वयकलङ्क**जननाच्च** । तस्मादस्य वधे कस्याऽपि नाऽपकारः ॥३९॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में जो आत्म शब्द है उसका अर्थ यहाँ पुत्र है । यह अश्वत्थामा पुत्र और बान्धवों को मारने वाला है इसके इस कार्य से स्वामी दुर्योधन का भी हित नहीं हुआ । इस बात को 'भर्तुश्च विप्रियं' से कहा है । वंश यदि वर्तमान रहता तो पिण्डदान आदि से दुर्योधन का भी उपकार था । इसने इस घृणित कार्य से द्रोण एवं दुर्योधन के कुल को कलंक लगाया । इसलिए इसके मारने में किसी का बुरा नहीं है ॥३९॥

आभास—तत्रैतानि वचनानि धर्मपरीक्षकाणीति सूतज्ञानात्सूत आह—

आभासार्थ—ये भगवान् के वचन अर्जुन के धर्म परीक्षा के लिए कहे गये थे इसका सूतजी को ज्ञान हुआ इसलिए सूतजी कहते हैं कि—

सूत उवाच—श्लोक—**एवं परीक्षता धर्मं पार्थः कृष्णेन चोदितः ।**
नैच्छद्गुरुसुतं हन्तुं यद्यप्यात्महनं महान् ॥४०॥

श्लोकार्थ—सूतजी बोले–इस प्रकार धर्म के परीक्षण करते हुए कृष्ण ने यद्यपि मारने के लिए प्रेरित किया तो भी महान् धर्मज्ञ उस अर्जुन ने अपने पुत्रों को मारने वाले अश्वत्थामा को भी मारना नहीं चाहा ॥४०॥

सुबोधिनी—एवमिति । वस्तुतस्तु बन्धनमेवाऽयुक्तम् । धर्म परित ईक्षिता वा । ईश्वरवचनोल्लङ्घनाभावाय वा । अर्जुनेन तथा ज्ञातमिति तदुक्तम् । "कामतो **ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते**" इति तु धर्मः । त्रयो ह्यत्र सन्ति । भगवानर्जुनोऽश्वत्थामा चेति । त्रिष्वप्येकैकोऽवध्यहेतुरस्ति । परीक्षा भगवति महत्त्वमर्जुने, शिष्टे गुरुपुत्रत्वमिति ॥४०॥

व्याख्यार्थ– वास्तव में गुरुपुत्र एवं ब्राह्मण होने से इसका बन्धन ही युक्त नहीं है परन्तु यह अर्जुन कितने धर्म का पालनकर्त्ता है इस परीक्षा के लिए यहां परीक्षिता इस पद से यह भी बताया गया है कि सभी ओर से धर्म का विचार करने वाले भगवान् ने अर्जुन को प्रेरणा की है सचमुच यदि मारने की ही आज्ञा करते और अर्जुन उसका पालन न करता तो ईश्वराज्ञा का उल्लङ्घन होता । परन्तु अर्जुन ने भी यही जाना कि भगवान् मेरी परीक्षा कर रहे हैं इसलिए भगवान् के कहने के अनुसार न करने पर भी ईश्वराज्ञा का उल्लङ्घन नहीं हुआ । धर्म यह कहता है कि कामतः इच्छापूर्वक ब्राह्मण को मारने पर प्रायश्चित्त से शुद्धि नहीं होती । इसलिए भी उसे मारना ठीक

नहीं। यहाँ भगवान्, अर्जुन एवं अश्वत्थामा ये तीनों हैं इन तीनों में एक-एक में नहीं मारने का कारण विद्यमान है। भगवान् तो परीक्षण कर रहे हैं, हृदय से मारने के लिए नहीं कह रहे हैं। अर्जुन में महत्ता है इसलिए महान् कभी ऐसा जघन्य कार्य नहीं करता। अश्वत्थामा गुरुपुत्र है। गुरुपुत्र कभी वध्य नहीं होता ।।४०।।

आभास—प्रकारान्तरेण शनैर्गृहे समागमनमाह—

आभासार्थ- प्रकारान्तर से धीरे-धीरे घर में अर्जुन का आगमन कहते हैं—

श्लोक—**अथोपेत्य स्वशिबिरं गोविन्दप्रियसारथिः ।**
न्यवेदयत्तं प्रियायै शोचन्त्या आत्मजान् हतान् ।।४१।।

श्लोकार्थ—इसके बाद गोविन्द जिसके प्यारे एवं सारथी हैं उस अर्जुन ने अपने सेना निवेश स्थान में आकर मरे हुए पुत्रों का शोक करने वाली द्रौपदी के अर्थ उस अश्वत्थामा को अर्पित किया ।।४१।।

सुबोधिनी- **अथेति**। कार्यसिद्धौ हेतुपदं **गोविन्दे**त्युपसहारेऽप्युक्तम्। अयं तु शत्रुहस्ते पतितो मृत एव। देहस्तु बाणस्थानीयः। प्रतिज्ञातं तु शिरः समानीतमिति न्यवेदयत्। शोकमध्य एव तस्या धर्मज्ञानमिति शोचन्त्या इत्युक्तम्। भार्याहितार्थं तु मारणम्। तत्तयाऽनुक्तत्वात्सन्देहादत्रैव समानीतः। आज्ञायां मारणीय इति निवेदनाभिप्रायः ।।४१।।

व्याख्यार्थ- कार्यसिद्धि में गोविन्द कारण है इसलिए श्लोक में गोविन्द यह हेतुभूत पद उपसंहार में भी कहा। शंका करते हैं कि इस प्रकार लाने से बाणों से अश्वत्थामा के सिर को मैं लाऊंगा। अर्जुन की इस प्रकार की प्रतिज्ञा की पूर्ति कैसे हुई। उत्तर देते हैं कि यह शत्रु के हाथ आ गया है इसलिए मृत ही है। ऐसी स्थिति में देह जो इसका विद्यमान है वह बाण की तरह इसको दुःख देने वाला है। सिर लाने की प्रतिज्ञा की थी इसलिए उस अश्वत्थामा का अर्पित कर दिया। तब द्रौपदी को शोक में ही धर्म का ज्ञान हो गया। इस बात को शोचनया से सूचित किया है। स्त्री के हित करने के लिए ही उसे मारना था परन्तु द्रौपदी ने मारने के लिए नहीं कहा था इसलिए द्रौपदी अश्वत्थामा के मारण को चाहती है या नहीं इस सन्देह से अर्जुन उसे पकड़कर वहां ले आया है। अश्वत्थामा को द्रौपदी के सम्मुख उपस्थित करने का अभिप्राय यह है कि द्रौपदी यदि आज्ञा दे तो इसे मार डालूँ ।।४१।।

आभास—तस्यास्तु तथाऽऽहरणमेवाऽनभिप्रेतम्। दूरे मारणमित्याह—

आभासार्थ- द्रौपदी को तो उसका उस रूप में लाना ही अभिप्रेत नहीं था। मारना तो दूर रहा इसी बात को कहते हैं कि—

श्लोक— **तथाऽऽहृतं पशुवत्पाशबद्धमवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन ।**
निरीक्ष्य कृष्णाऽपकृतं गुरोः सुतं वामस्वभावा कृपया ननाम ह ।।४२।।

श्लोकार्थ—अपमान से लाये गये पशु की तरह पाश से बन्धे बालकों के वध रूप निन्द्य कर्म से नीचा मुख किये हुए अपकार करने वाले गुरुपुत्र अश्वत्थामा को देखकर मनोहर स्वभाव वाली द्रौपदी ने कृपा से प्रणाम किया ।।४२।।

सुबोधिनी—**तथाऽऽहृतमिति** । कर्मणि जुगुप्सितं युद्धे बालकमारणम् । तेन मुखाप्रदर्शनादवाङ्मुखत्वम् । कृष्णा द्रौपदा । वामो मनोहरः स्वभावो यस्याः । सर्वहितभावनात् । महत्त्वबुद्धया नमनाभावेऽपि अहो कष्टं ब्राह्मण्यमेतादृशे स्थाने पतितमिति कृपया ननाम । तस्याऽपि तद्दुःखदूरीकरणेच्छा कृपा । आश्वासेनहतुत्वान्नमनस्य तथात्वम् ।४२।।

व्याख्यार्थ—युद्ध में बालकों को मारना निन्दित कर्म है । इसी निन्दित कर्म के कारण वह अश्वत्थामा अपना मुख नहीं दिखाना चाहता था इसलिए वह नीचा मुंह किये हुए था । श्लोक में कृष्णा का अर्थ द्रौपदी है । वह सब के हित की भावना करती थी इसलिए उसका स्वभाव मनोहर था । महत्त्व बुद्धि से अश्वत्थामा को नमन न करने पर भी उसे यह विचार हुआ कि बड़ा ही कष्ट है जो ब्राह्मणत्व ऐसे बुरे स्थान में आ गया है । इस प्रकार की कृपा से द्रौपदी ने प्रणाम किया । अश्वत्थामा के दुःख को दूर करने की इच्छा ही कृपा है । वह नमन आश्वासन का कारण है इसलिए वह कृपारूप है ।।४२।।

श्लोक—**उवाच चाऽसहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती ।**
मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः ।।४३।।

श्लोकार्थ—इस गुरुपुत्र अश्वत्थामा को बांधकर लाया जाना नहीं सहती हुई वह सती द्रौपदी अर्जुन से बोली—छोड़ दो, छोड़ दो, क्योंकि यह ब्राह्मण सब प्रकार से गुरु है ।।४३।।

सुबोधिनी—बहिर्दुःखदूरीकरणार्थमुवाच च । **असहन्ती** परदुःखं दृष्ट्वा स्वयमपि दुःखिता । देहधर्माद्धर्मो महानिति तस्याः कृपाधिक्यमुक्तम् । **सतीति** धर्मस्वभावत्वम् । भर्तारमपि धर्मप्रमादे बोधयेदिति । षडङ्गसहितं धर्मवाक्यमाह—**मुच्यतामिति** । द्विरुक्तिः सन्देहाभावाय अविलम्बाय च । तत्र हेतुः—**एष ब्राह्मण इति** । एकस्मिन्धर्मिणि बहूनां धर्माणां स्थितावपि यो महान् धर्मः स आदरणीयः । धर्माङ्गं च देहो गौणः । धर्मश्च मुख्यः । देहविचारेण च शत्रुत्वम् धर्ममूलं च ब्राह्मणः तस्मात्तद्बलिष्ठमिति । किञ्च । धर्मे हि गुरुर्मूलम् । स च भगवान् । तन्मुखत्वाद्ब्राह्मणो गुरुः । लौकिकोपदेशकगुर्वपेक्षया भगवन्मुखस्याऽत्यन्तगुरुत्वान्नितरां गुरुः । ४३।।

व्याख्यार्थ—नमन से अश्वत्थामा के हृदय में विश्वास हो गया कि द्रौपदी मुझे नहीं मरवायेगी । बाहर के दुःख दूर करने के लिए बोली वह दूसरों के दुःख को देखकर स्वयं भी दुःखित हो गई । इसलिए अश्वत्थामा को बांधकर लाना उसे सहन नहीं हुआ । देह के धर्म से धर्म बड़ा है इसलिए द्रौपदी में कृपा का आधिक्य कहा । द्रौपदी सती होने से धर्मस्व भाव वाली है । सती स्त्री धर्म से प्रमाद करने पर अपने पति को भी समझावे । द्रौपदी धर्म न्याय एवं छः अङ्गों से युक्त धर्म-

वाक्य बोली कि 'मुच्यताम्'। श्लोक में मुच्यताम् को दो बार इसलिए कहा है कि अर्जुन को छोड़ने में संदेह न हो और विलम्ब भी न करे। छोड़ने में कारण यह है कि 'एष ब्राह्मण.' यह ब्राह्मण है। एक धर्मी में बहु तेरे धर्मों के रहने पर भी जो महान् धर्म होता है वह आदरणीय होता है। देह धर्म का अङ्ग होने से गौण है। धर्म मुख्य है। देह के विचार से तो यह अश्वत्थामा शत्रु है और इसमें जो ब्राह्मण्य है वह धर्म का मूल है इसलिए देह विचार की अपेक्षा धर्म विचार मुख्य है। अतः धर्म के विचार से इसे छोड़ देना चाहिये और एक बात यह भी है कि धर्म का मूल गुरु है और वह भगवान् का रूप है। भगवान् का मुख होने से ब्राह्मण गुरु है। लौकिक बातों के उपदेश देने वाले गुरु से धर्म का उपदेश देने वाले गुरु भगवन्मुखरूप होने से सर्वश्रेष्ठ हैं ।।४३।।

आभास—न्यायविरोधी धर्मो दुर्बल इति तदविरोधं वदन्ती लौकिकन्यायेनाऽपि गुरुत्वमाह—

आभासार्थ न्याय (नीति) विरुद्ध धर्म दुर्बल होता है इसलिए उसका अविरोध दिखाती हुई द्रौपदी लौकिक न्याय से भी अश्वत्थामा में गुरुत्व बताती है—

श्लोक—**सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः।**
अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात् ।।४४।।

श्लोकार्थ—गोपनीय मंत्रों के सहित धनुर्वेद का एवं अस्त्रों के प्रयोग और उपसंहार सहित अस्त्र समुदाय का ज्ञान आपने द्रोणाचार्य की कृपा से सीखा है ।४४।

सुबोधिनी - सरहस्य इति। रहसि भवो रहस्यो मन्त्रः। विसर्गः अस्त्राणां मोचनप्रकारः। उपसंयम उपसंहारः। पुत्रादिष्वपि तथा अवचनात्। अस्त्रग्रामश्च ब्रह्मास्त्रादयः। न ह्येतत्पाठमात्रेण स्फुरति किन्तु कृपयेति तदाह-**यदनुग्रहादिति** ।।४४।।

व्याख्यार्थ एकान्त में प्राप्त होने वाले मन्त्र के सहित अस्त्रों के छोड़ने का प्रकार तथा अस्त्रों का उपसंहार जो कि पुत्रादिकों को भी नहीं बताया गया वह तु हमें बताया और ब्रह्मास्त्र आदि भी कृपा करके सिखाये। केवल सिखाने मात्र से ये नहीं आते किन्तु कृपा से हो आते हैं इसी बात को 'मदनुग्रहात्' से कहा है। अर्थात् अस्त्रों को छोड़ना और उनका उपसंहार करना कृपापूर्वक उन्होंने तुमको सिखाया ।४४।।

आभास—स द्रोणो नाऽयमित्यत आह—

आभासार्थ- शंका करते हैं कि जिससे मैंने अस्त्रविद्या सीखी है वह द्रोणाचार्य यह नहीं है तो कहते हैं कि—

श्लोक—**स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते।**
तस्याऽऽत्मनोऽर्द्धं पत्न्यास्ते नाऽन्वगाद्वीरसूः कृपी ।।४५।।

श्लोकार्थ – वे भगवान् द्रोणाचार्य ही सन्तान के रूप में वर्तमान हैं । इसलिए पुत्रवती उस द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी ने जो कि द्रोणाचार्य की अर्द्धाङ्गिनी है। वह अपने पति द्रोणाचार्य के साथ सती न हुई ।।४५।।

सुबोधिनी – **स एष इति** । तस्यैतद्रूपत्वे हेत्वन्तरमाह—**भगवानिति** । ब्रह्मविदो हि स्वेच्छया देहत्यागः । तत्र भवतामुपकाराय देहत्यागदशायां हतं पुत्रं श्रुत्वा तन्माभूदिति तद्रूपेणैवाऽहं जीविष्यामीति पितृशरीरं त्यक्तवान् । अतः स एवाऽयं द्रोणः । **"आत्मा वै पुत्रनामासी"**ति श्रुतेः । प्रजारूपेण च । निवृत्तिधर्मविरोधी च धर्मो न युक्त इति करुणामाह—**तस्याऽऽत्मनोऽर्द्धमिति** । मूलरूपेऽप्यात्मनोऽर्द्धं पत्न्यास्ते । पुत्ररूपेण भर्ता जीवतीति पुत्रवतीनां न सहगमनम् । ततः स्वपुत्रवधे तस्या वैधव्याद्वंशाऽभावाच्च महद्दुःखत्वात्तद्दर्शनेन करुणा । तदाह—**नाऽन्वगादिति** । कृपायाश्चाऽधिष्ठात्री देवता सा । अतस्तस्याः **कृपीति** नाम ।।४५।।

व्याख्यार्थ—द्रोणाचार्य अश्वत्थामा के रूप में है इसमें दूसरा हेतु कहते हैं **'भगवान् इति'** द्रोणाचार्य ब्रह्मज्ञानी होने से भगवद्रूप थे । ब्रह्मज्ञानी अपनी इच्छा से देह त्याग करता है । द्रोणाचार्य ने तुम्हारा उपकार करने के लिए देह छोड़ने की दशा में अपने पुत्र को मरा हुआ सुनकर पुत्र मरण न हो और मैं अश्वत्थामा के रूप में ही जीवित रहूंगा इस विचार से पितृ शरीर छोड़ दिया अतः यह अश्वत्थामा वही द्रोणाचार्य है । श्रुति में कहा है कि 'आत्मा वै पुत्रनामासि' पिता ही पुत्र नाम से है और प्रजारूप से प्रसिद्ध होता है । निवृत्ति धर्म के विरुद्ध धर्म करना युक्त नहीं है इसलिए 'तस्यात्मनोर्द्धम् इस पद से दया बताते हैं । मूल रूप जो द्रोणाचार्य है उसके अर्द्धाङ्ग रूप में पत्नी है । तो उस कृपो ने अपने पति का अनुगमन इसलिए नहीं किया कि अपना पति पुत्र के रूप में जीवित है इसलिए पुत्रवती सती स्त्रियां अपने पति का अनुगमन नहीं करतीं । उस कृपी का यदि द्रोणाचार्य रूप अश्वत्थामा मर जाता है तो वह विधवा हो जाती है और वंश नहीं रहता है इसलिए अत्यन्त दुःखी होने से द्रौपदी को दया हुई । इसी तात्पर्य को 'नान्वगात्' पद से कहा है । कृपा की अधिष्ठा भी देवता है इसलिए उसका नाम कृपी है ।।४५ ।

आभास—व्यलीकं कापट्यम् । तदपि धर्मे बाधकम् । तस्मादस्य मोचनं निर्व्यलीकमिति तदाह—

आभासार्थ—व्यलीक कहते हैं कापट्य को वह कापट्य धर्म में बाधक होता है । अर्थात् धर्म में कापट्य नहीं होना चाहिये । इसलिए इस अश्वत्थामा को निष्कपट रूप में छोड़ें इसी बात को कहते हैं कि—

श्लोक—**तद्धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम् ।**
वृजिनं नाऽर्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्ष्णशः ।।४६।।

श्लोकार्थ—हे धर्मज्ञ ! हे महाभाग ! इसलिए अनुचित होने से गुरु सम्बन्धी कुल आपके द्वारा दुःख पाने योग्य नहीं है किन्तु सर्वदा पूजनीय एवं वन्दनीय है ।४६।

सुबोधिनी—तद्धर्मज्ञेति । यदि केनाऽपि प्रकारेण गुरुकुले दुःखप्रापणं तदा कृतो गुरुसेवालक्षणो धर्मः सकपटो भवति । तस्माद्धर्मे कापट्यं जानन्नपि यस्तथा करोति स न धर्मज्ञः । त्वं तु तद्विपरीतत्वाद्धर्मज्ञः । अतो—हे धर्मज्ञ ! किञ्च । महाभाग्येन गुरूणां सेवाकरणसामर्थ्यं भवति । तज्जातेऽपि सामर्थ्ये यदि सेवां न कुर्यात्तदा महदभाग्यम् । त्वं तु तद्विपरीतः । हे महाभाग ! किञ्च । अन्यैर्गुरुकुले वृजिने प्राप्ते भवद्भिस्तद्दूरीकर्तव्यम् । तत्र तद्विपरीतं दृश्यते । भवद्भिरेव गौरवं कुलं वृजिनं प्राप्नोति । तन्न युक्तम् । तत्तथा नाऽर्हति । तत्र हेतुः—**पूज्यं वन्द्यमिति** । सर्वथा महद्भिर्गौरवं कुलं पूजामेवाऽर्हति । तत्प्रसादादेव महत्त्वस्य जातत्वात् । किञ्च । अनम्रतया पूजामपि नाऽर्हति । किन्तु सर्वदा नमनमप्यर्हतीत्यर्थः ।।४६।।

व्याख्यार्थ—यदि किसी भी प्रकार से गुरुकुल को दुःख दिया जाय तो किया हुवा जो गुरु सेवा रूप धर्म है वह सकपट होता है इसलिए धर्म में कापट्य समझता हुआ भी जो ऐसा करता हैं वह धर्मज्ञ नहीं है । तुम तो कापट्य रहित हो इसलिए धर्मज्ञ हो । इसलिए द्रौपदी ने 'धर्मज्ञ' पद से सम्बोधित किया है और भी एक बात है कि बड़े ही भाग्य से गुरु सेवा करने का सामर्थ्य होता है । सामर्थ्य होने पर भी यदि गुरु सेवा नहीं करता तो उसका महान् अभाग्य समझना चाहिये । आपने सेवा की है इसलिए महाभाग है । यदि दूसरों के द्वारा गुरुकुल दुःखित किया जाय तो आपको गुरुकुल का दुःख दूर करना चाहिये परन्तु इस समय मैं विपरीत देख रही हूं । अर्थात् स्वयं तुम ही गुरुकुल को दुःख दे रहे हो । यह ठीक नहीं क्योंकि गुरुकुल इस प्रकार के दुःख प्राप्ति के योग्य नहीं है । इसमें हेतु देती है कि 'पूज्यं वन्द्यम्' महान् पुरुषों को चाहिये कि वह गुरुकुल को सब प्रकार से पूजा ही करे । क्योंकि गुरु कृपा से ही उसमें महत्व आया है बिना नम्रता के पूजन नहीं करना चाहिये इसलिए सर्वदा गुरुकुल नमनीय है ।।४६।।

आभास—किञ्च । धर्मे ज्ञानाभावोऽपि बाधकः । **"यदेव विद्यया करोती"**ति श्रुतेः । ततः स्वस्मिन्निवाऽन्यस्मिन्नपि यः सुखदुःखे समे पश्यति तत्कृतो धर्मः । अन्यस्तु **"विषमधिया रचितो य"**इति वाक्यादधर्मप्रायः । तत एकपुत्रमरणेन रुदतां प्राणिनां यथाऽन्यो विनश्येत्तद्वदिदमित्याह—

आभासार्थ—धर्म में ज्ञान का न रहना भी बाधक है । श्रुति में कहा है कि 'यदेव विद्यया करोति' जो भी कुछ ज्ञानपूर्वक किया जाता है वह श्रेष्ठ होता है । ज्ञान होने से दूसरों में भी अपने समान सुख दुःख जो देखता है उसीसे किया हुआ ही धर्म है । विषय बुद्धि से होने वाला धर्म अधर्म प्राय है । जैसा कि वेद स्तुति में 'विषमधिया रचितो य'' इस वाक्य से कहा है । अश्वत्थामा को मार देने से गौतमी भी मर जायगी जैसे एक ही जिसके पुत्र हो और वह मर जाय तो उसके पीछे रोने वाले प्राणियों में जैसे कोई दूसरा भी मर जाय उसी प्रकार यह बात होगी इसी बात को कहते हैं कि —

श्लोक—**मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता ।**
यथाऽहं मृतवत्साऽऽर्त्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः ।।४७।।

श्लोकार्थ—मरे हुए पुत्र वाली आर्त्त जिसके आँसू आ रहे हैं ऐसी मैं जैसे बार-बार रो रही हूं उसी प्रकार अश्वत्थामा की माता कृपी जो पति को देवता रूप में मानती है वह रुदन न करे ।।४७।।

सुबोधिनी—मा रोदीदिति । तद्दु:खेनाऽहमतिदु:खिता । अत एव मा रोदीदिति प्रार्थना । **गौतमीति** ऋषिवंशोद्भवत्वात्तद्रोदने महानर्थ इति सूचितम् । स्वरूपतोऽपि सा महती । तदाह—**पतिदेवतेति** । पतिव्रताया नयनजलं भूमौ पतेच्चेत्तदा निर्वीर्या भूमिर्भवतीति प्रथा । ननु पतिव्रता सर्वतत्त्वज्ञा । **अतो न रोदनं करिष्यतीति तत्राऽऽह—यथाऽहमिति** । विषय एव तादृशो न तत्त्वज्ञानेन निवर्त्तत इत्यर्थः यथा वह्नेर्दाहकत्वे ज्ञातेऽपि दाहे वेदना भवत्येवेति भावः ।।४७।।

व्याख्यार्थ—कृपी के दु:ख से मैं अत्यन्त दु:खी होऊंगी । इसलिए मैं प्रार्थना करती हूं कि वह न रोवे । क्योंकि वह गौतमी है । गौतम ऋषि के वंश में उत्पन्न हुई है इसलिए उसके रोने पर बड़ा अनर्थ हो सकता है । कृपी स्वरूपत: भी महान् है । क्योंकि वह पति को देवता मानती है । पतिव्रता के आँसू यदि पृथ्वी पर गिरे तो पृथ्वी निर्वीर्या (ऊसर) हो जाती है । ऐसी प्रथा है । शंका करते हैं कि पतिव्रता सब तत्त्वों को जानती है । इसलिए वह नहीं रोयेगी । इस पर कहते है कि जैसे मैं रो रही हूं वैसे ही वह रोयेगी क्योंकि पुत्र-मरण का दु:ख ही ऐसा विषय है जो तत्त्वज्ञान से निवृत्त नहीं होता । जैसे अग्नि जलाती है यह ज्ञान है । तब भी दाह होने पर वेदना होती ही है । इसी प्रकार तत्त्वज्ञान होने पर भी पुत्र-मरण में दु:ख होता ही है ।।४७।।

श्लोक—**यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः ।**
तत्कुलं प्रदहत्याशु साऽनुबन्धं शुचाऽर्पितम् ।।४८।।

श्लोकार्थ—काम क्रोधादि के अधीन है अन्त:करण जिनका ऐसे राजाओं से ब्रह्मकुल कुपित किया जाय तो शोकयुक्त वह ब्रह्मकुल उन राजाओं के मृत्यु अमात्य परिवार सहित कुल को शीघ्र ही जला देता है ।।४८।।

सुबोधिनी—धर्मस्त्वीश्वराऽविरोधी भवति । तत्र धर्मप्रवर्तकत्वाद्ब्राह्मणा ईश्वरा एव । तच्चेदन्यैः क्षत्रियादिभिः कोपयुक्तं क्रियेत तदाऽन्येषां कुलं साऽनुबन्धं विनाशयतीति महतामुपदेशादिदं वाक्यं महत् । महद्वाक्याविरोधेन च धर्मः कर्तव्य इति । तस्माच्छीघ्रं मुच्यतामिति सिद्धम् ।।४८।।

व्याख्यार्थ- ईश्वर का अविरोधी ही धर्म होता है । जैसे भगवान् धर्मप्रवर्त्तक हैं उसी प्रकार ब्राह्मण भी धर्म प्रवर्त्तक होने से ईश्वर ही है । उस ब्राह्मण कुल को क्षत्रिय आदि अन्य कोपयुक्त कर दें तो उनके मृत्य अमात्यादि सहित कुल को वह ब्रह्मकुल विनष्ट कर देता है । यह उपदेश महत् पुरुषों का है । इसलिए उनके वाक्य होने से इन वाक्यों में भी महानता है । इस प्रकार के श्रेष्ठ वाक्यों के अनुसार ही धर्म करना चाहिये इसलिए इस अश्वत्थामा को शीघ्र ही छोड़ दे यह बात उपर्युक्त कथन से सिद्ध होती है ।।४८।।

आभास—सूतस्तु द्रौपदीवाक्यमनूद्य सर्वसम्मतया तत्तथेति स्थापयति **धर्म्यमिति** द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—सूतजी द्रौपदी के वाक्य का अनुवाद कर द्रौपदी के वाक्य ही सर्वसम्मत हुए इस बात को धर्म्यं न्याय्यं आदि दो श्लोकों से कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—**धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत् ।**
राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद्वचो द्विजाः ॥४९॥
नकुलः सहदेवश्च युयुधानो धनञ्जयः ।
भगवान् देवकीपुत्रो ये चाऽन्ये याश्च योषितः ॥५०॥

श्लोकार्थ—सूतजी ने कहा–हे ब्राह्मणों ! द्रौपदी के धर्म, न्याय, दयायुक्त, कपटरहित समबुद्धि (पक्षपात रहित) कहे गये श्रेष्ठ वचनों की राजा युधिष्ठिर नकुल, सहदेव, सात्यकि, अर्जुन, भगवान् कृष्ण और सर्वसाधारण स्त्री पुरुषों ने तथा अतिमूढ स्त्रियों ने भी प्रशंसा की ॥४९॥५०॥

सुबोधिनी—धर्मादनपेतं धर्म्यम् । एवं न्याय्यम् । निर्व्यलीकं निष्कपटम् । समं समबुद्ध्यो-क्तम् । महद्राजवदुक्तम् । एवं वाक्ये षड्गुणास्तत्र तत्रैव निरूपिताः। प्रथमतो राज्ञोऽभिनन्दने हेतु — **धर्मपुत्र इति** । इयमपि तद्भार्येति तथाऽऽह । अत्र सम्मत्यर्थम्—**द्विजा** इति सम्बोधनम् । **नकुलः सहदेवश्चे ति** चकारात्तथा । युयुधानः सात्यकिरर्जुनशिष्यः । अर्जुनश्च । गुरुशिष्ययोरेकत्र सम्मति-कथनं तथैव धर्मनिर्णय इति ख्यापनार्थम् । भगवतोऽत्राऽभिनन्दनं भक्तकृपया । तदाह-- **देवकीनन्दन इति** । सर्वत्र देवकीनन्दनपदं भक्तवश्यताज्ञापनार्थम् । सर्वजनीनोऽयं धर्म इति ख्यापयितुं सर्वसम्मतमित्याह - **ये चाऽन्य इति** । योषित्पदमतिमूढत्वख्यापनार्थम् । अतो न पुरुषाणां पुनरुक्तिः ॥४९ ।५०॥

व्याख्यार्थ— द्रौपदी ने 'मुच्यतां मुच्यतामेष' इस प्रकार के धर्मयुक्त, 'स रहस्यो धनुर्वेद.' से नीति सम्मत, 'तस्यात्मनोऽर्द्धं पत्न्यास्ते' से दयायुक्त, 'तद्धर्म महाभागज्ञ' से कापट्य शून्य 'मारोदोद-स्थजननी' से समबुद्धि से कहे गये तथा उस द्रौपदी से राजा की तरह कहे गये महान् वचनों का सभी ने समर्थन किया अभिनन्दन किया । इस प्रकार धर्म्यं न्याय्यं इस वाक्य में जो छः गुण निरूपित हुए हैं वे पूर्व के श्लोकों में कहे गये हैं । धर्मराज युधिष्ठिर ने द्रौपदी के धर्मयुक्त वाक्यों का सर्वतः प्रथम अभिनन्दन इसलिए किया कि युधिष्ठिर धर्मपुत्र था । द्रौपदी ने भी धर्मयुक्त वाक्य इसलिए कहे कि वह धर्मपुत्र युधिष्ठिर की पत्नी थी । 'द्विजाः' इस सम्बोधन से यह सूचित किया कि जैसे आप लोग धार्मिक हैं इसलिए धर्म का ही समर्थन करते हैं वैसे ही युधिष्ठिर ने भी किया । द्विज पद से ऐसा अर्थ इसलिए निकला कि यज्ञोपवीत संस्कार होने के अनन्तर यज्ञादि धर्मों में अधिकार होता है । नकुल, सहदेव ने भी इन वाक्यों का अभिनन्दन किया । अर्जुन के शिष्य सात्यकि तथा अर्जुन ने प्रशंसा की थी । श्लोक में युयुधान

और धनञ्जय इन दोनों पदों को साथ कहना यह बताता है कि जिस विषय में गुरु शिष्य दोनों की सम्मति हो जाती है वहीं धर्म का ठीक निर्णय होता है। द्रौपदी भक्त थी इसलिए उस पर भगवान् की कृपा थी। अतः भगवान् ने उसके वाक्य का अभिनन्दन किया। भगवान् भक्तवश्य हैं इस बात को देवकीनन्दन पद कहता है। अर्थात् देवकी के पुत्र भक्ति के कारण ही बने। यह धर्म सबका हितकारी है इस बात को बताने के लिये 'ये चान्ये' कहा अर्थात् सभी स्त्री पुरुषों की इस वाक्य में सम्मति हुई। श्लोक में आये अन्य शब्द से सर्व साधारण स्त्री पुरुष लिये गये हैं। जब इस अन्य पद से स्त्रियां भी ले ली गई तब 'योषितः' यह पद पुनः क्यों कहा इसका उत्तर देते हैं कि यहां 'योषित' पद से अति मूर्ख स्त्रियां ली गई हैं वे अन्य शब्द से संगृहीत नहीं हुई अतएव योषित शब्द की पुनरुक्ति नहीं हुई। तात्पर्य यह है कि द्रौपदी के वाक्यों का मूर्ख स्त्रियों ने भी समर्थन किया ॥४९॥५०॥

आभास—धर्मो द्विविधः। तत्त्वसहितः प्रमाणसहितश्चेति। तत्र प्रामाणिका व्यवहारे तत्त्वसहितं धर्मं न मन्यन्ते। तत्र प्रमाणे मूलमासन्यः। सूत्रात्मकत्वात्। अतः सूत्रभूतवाय्ववतारो भीमो द्रौपद्युक्तं तत्त्वसहितं धर्ममनङ्गीकृत्य स्वयं स्वतन्त्रधर्मनिरूपणेन तद्वधार्थं प्रवृत्त इत्याह—

आभासार्थ—धर्म दो प्रकार का है। एक तत्त्वसहित और दूसरा प्रमाणसहित।[1] जो प्रमाण को प्रधान मानने वाले हैं वे व्यवहार में तत्त्वसहित अर्थात् जो धर्म का वास्तविक रूप है उस रूप में धर्म को नहीं मानते। प्रमाण में मूल है आसन्यप्राण (मुख्य प्राण) क्योंकि वह सूत्रात्मक है।[2] अतः सूत्रभूत वायु के अवतार भीमसेन ने द्रौपदी से कहे गये तत्त्वसहित धर्म को स्वीकार न कर स्वयं स्वतन्त्र धर्म का निरूपण करता हुआ अश्वत्थामा के वध के लिए प्रवृत्त हुआ।[3]

---

१ तत्त्वसहित धर्म वह है जो व्यवहार में मुख्य रूप में प्रचलित है जैसे व्यवहार इस प्रकार का है कि गुरुपुत्र का अनादर नहीं होना चाहिये। द्रौपदी ने इसी को कहा है और इसका दूसरों ने नकुल, सहदेव आदि में भी अनुमोदन किया है। अतः वह तत्त्वसहित धर्म है।

प्रमाणसहित धर्म वह है कि जो प्रमाण वाक्यों के अनुसार ही माना जाय जैसे प्रमाण यह है कि "आततायिनमायान्तं हत्यादेवाऽविचारन् जिघांसन्तं जिघांसीयात्"

२ सूत्रात्मक धर्म का अर्थ है मूल कारणभूत कर्म। अर्थात् वायु (मुख्यप्राण) ही शब्द का मूल कारण है क्योंकि शब्द वायु के धक्के से ही शब्द निकलते हैं अतः मुख्य प्राण जिससे शब्दों का उच्चारण होता है, वही सूत्ररूप है।

३ तात्पर्य यह है कि व्यवहारिक धर्म की बात द्रौपदी ने कही इसलिए द्रौपदी ने जो धर्म बताया वह तत्त्वसहित है।

भीम वायु का अवतार है इसलिए वह प्रमाणों के अनुसार ही धर्म मानता है।

इसलिए द्रौपदी से कहे गये तत्त्वसहित धर्म को न मानकर स्वयं स्वतन्त्र रूप से जो व्यवहारानुसार नहीं है प्रमाणानुसार है ऐसे धर्म का निरूपण करता हुआ भीम अश्वत्थामा को मारने के लिए प्रवृत्त हुआ इसी बात को कहते है कि—

श्लोक—**तत्राऽऽहाऽमर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः ।**
न भर्तुर्नाऽऽत्मनश्चाऽर्थे योऽहन् सुप्तान् शिशून् वृथा ।।५१।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार द्रौपदी के वचनों का सबके द्वारा अभिनन्दन होने पर उसे सहन नहीं करता हुआ भीमसेन बोला कि स्वामी दुर्योधन का अथवा अपना कुछ भी प्रयोजन न रहते हुए भी वृथा हो जिसने सोते हुए बच्चों को मार दिया है इसलिए इसको मारना ही अच्छा है ।।५१।।

सुबोधिनी—तत्रेति । अधर्मप्रतिपक्षत्वात्क्रोधः । दर्शनेनैव दैत्यभयं जनयतीति भीमः । तस्य रक्षणापेक्षया वध एव श्रेयान् । यतोऽयं निशि वृथैव सुप्तान् शिशूनहन् । एवमन्यदप्यविचारितं करिष्यतीति वधः श्रेयानित्यर्थः ।।५१।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि भीमसेन सूत्ररूप है इसलिए उसे क्रोध करना युक्त नहीं है परन्तु यह सूत्रात्मक भीमसेन अधर्म का शत्रु है इसलिए उसने क्रोध किया । भीम शब्द का तात्पर्य यह है कि जो दर्शन मात्र से ही जो दैत्यों को भय पैदा करे अथवा जिसके देखने मात्र से दैत्य जैसा भय लगे । भय पैदा कर दे । भीमसेन ने कहा कि इस अश्वत्थामा की रक्षा न कर मार देना ही ठीक है क्योंकि इसने रात्रि में सोते हुए बच्चों को व्यर्थ ही मार डाला । यदि यह जीवित रहेगा तो अन्य भो ऐसे अविचारित कार्य करेगा इसलिए इसको मारना ही ठीक है ।।५१।।

आभास—भगवांस्तूभयरूपं धर्ममुक्तवानिति द्रौपदीभीमयोः परस्परविरोधे उभयसमाधानार्थं क्रियाशक्तिद्वयाविर्भावाय भुजचतुष्टयाविर्भाव कृतवानित्याह—

आभासार्थ—भगवान् ने तत्त्वसहित धर्म का अभिनन्दन करके उसमें अपनी सम्मति प्रकट की और इसके पूर्व इसके मारने के लिए भी आज्ञा दी इस समय द्रौपदी और भीमसेन के वाक्यों में परस्पर विरोध है अतः दोनों को समझाने के लिए अधिक क्रियाशक्ति आवश्यक है इसलिए भगवान् ने चार भुजाएं प्रकट की । मतलब यह है कि हाथों से क्रिया होती है इसलिए वे क्रियाशक्ति प्रधान है । यहां द्रौपदी और भीम दोनों के विरोध को दूर करने के लिए दो क्रियाशक्तियां अपेक्षित थी इसलिए भगवान् ने चार भुजाएं प्रकट की । पूर्व की दो भुजाएं एक क्रियाशक्ति वाली और दूसरी प्रकट की गई दो भुजाएं दूसरी क्रियाशक्ति वाली । इसी बात को कहते हैं—

श्लोक—**निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः ।**
आलोक्य वदनं सख्युरिदमाह हसन्निव ।।५२।।

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्यो ह्याततायी वधार्हणः ।
मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम् ।।५३।।

श्लोकार्थ—भीम एवं द्रौपदी के वचनों को सुनकर भगवान् चतुर्भुज बने और अपने सखा अर्जुन के मुख की ओर देखकर हँसते हुए भगवान् ने इस प्रकार कहा। यद्यपि यह अश्वत्थामा आततायी वध के योग्य है तथापि किसी रूप में ब्राह्मण होने से मारने योग्य नहीं है। मैंने इसके मारने तथा न मारने के लिए जो दो बातें कही हैं उनका तू पालन कर ॥५२॥५३॥

सुबोधिनी—**निशम्येति** । चतुर्भुजो जात इति भिन्नं वाक्यम् । **"परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः । नैकताऽपि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधत"** इति परस्परकार्यजननाय स्वयं तावेव स्तम्भितवान् । अर्जुनस्तु सख्यपर्यन्तमागत इति तं ज्ञापयितुं तन्मुखं **विलोक्य** स्वाभिप्रायमाह । अर्जुनोऽपि मोहिव इव जात इति हसन्निवो(?)क्तम् । अन्यथा द्रौपदीवाक्यस्याऽभिनन्दितत्वात्सन्मानं कृत्वैव तं विसृजेत् । तथाचाऽग्रिमानर्थो न भवेत् । भीमवाक्यं वा श्रुत्वा मारयेत् । तथापि नाऽनर्थो भवेत् । अत उभयाकरणाद्भगवान्मोहयन्निवाऽऽह । एकं चेन्न करोषि तर्हि उभयात्मकं कुरु । ननु विरुद्धं कथमुभयं कर्तुं शक्यमिति चेत् ? तत्राऽऽह—**मयैवोभयमाम्नातमिति** । भगवता ह्युभयात्मकं वस्तु दृष्ट्वोभयमाम्नातम् । अन्यथा अनाप्तत्वप्रसङ्गात् । तज्ज्ञात्वा मया समाम्नातम् । तज्ज्ञात्वा मत्सखित्वात्त्वयाऽपि कर्तव्यम् । अन्यथा सखित्वं न स्यादित्यभिप्रायेणाऽऽह-**परिपाह्यनुशासनमिति** । परिपालय मदाज्ञाम् ॥५२॥५३॥

व्याख्यार्थ—चतुर्भुज हुए यह 'आलोक्य वदनं' से भिन्न वाक्य है। अर्थात् 'भीमगदितं द्रौपद्याश्च गदित निशम्य चतुर्भुजो जातः' ऐसा वाक्य है। परस्पर विरोध होने पर एक बात का निर्णय नहीं हो सकता। वचनों में ही विरोध है इसके लिए विरुद्ध वाक्यों की एक वाक्यता नहीं हो सकती। इसलिए दोनों बातों के समन्वय के साथ दोनों कार्य भी हो जाय इसके लिए भगवान् ने दोनों वचनों के पालन के लिए कहा। अर्जुन सख्य भक्ति पर्यन्त पहुँच गया था इसके लिए उसे जताने के लिए उसके मुख को देखकर हँसते हुए भगवान् ने अपने अभिप्राय को कहा। भगवान् ने हँसते हुए की तरह अर्जुन से कहा इसलिए अर्जुन भी मोहित जैसा हुआ। अर्थात् पूरा मोहित नहीं हुआ। यदि पूरा मोहित होता तो द्रौपदी के वाक्य का अभिनन्दन कर दिया था तो उसका सम्मान करके ही उसे छोड़ देना था जिससे कि वह अश्वत्थामा परीक्षित को ब्रह्मास्त्र से मारने का प्रयत्न न करता। भीमसेन के वाक्य को सुनकर यदि मार देता तो भी भविष्य में होने वाला अनर्थ नहीं होता। भगवान् ने उसे मोहित जैसा बना दिया इसलिए दोनों में एक की भी बात नहीं मानी। तब भगवान् ने आज्ञा की कि इनमें से यदि एक की बात नहीं करता है तो दोनों की बात रह जाय ऐसा कार्य कर। कहते हैं कि विरुद्ध दोनों बातें कैसे की जाय तो भगवान् आज्ञा करते हैं कि मैंने ही दोनों बातें कही हैं। भगवान् ने दोनों बातें इसलिए कही कि दोनों ही प्रकार की बातें शास्त्र विहित हैं। ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये और आततायी को मार देना चाहिये ये दोनों बातें कही हैं। यदि भगवान् की एक बात भी प्रमाण विरुद्ध रहती है तो भगवान् में अनाप्तत्व हो जाता है। तो फिर भगवान् ने ऐसी दो परस्पर विरुद्ध बातें क्यों कही यदि ऐसी शंका हो तो उत्तर देते हैं कि भीमसेन और द्रौपदी दोनों के हृदय को बात को जानकर ही भगवान् ने ऐसी दो बातें कही। जब मैंने दो बातें कही हैं तो तू मेरा मित्र है इसलिए तुझे भी मेरे कथन के अनुसार ही करना

चाहिये । यदि तू मेरे कथनानुसार कार्य नहीं करता है तो तू मेरा मित्र नहीं हो सकता । अतः मेरी आज्ञा का पालन कर इसी बात को परिपाह्यनुशासनम् से कहा है ।।५२ ।५३।।

आभास—एतावता सर्वेषां सम्मतं भविष्यतीत्याह—

आभासार्थ—इतना होने पर वह सबको सम्मत होगा यह कहते हैं—

श्लोक—**कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत्सान्त्वयता प्रियाम् ।**
प्रियं च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च ।।५४।।

श्लोकार्थ—प्यारी द्रौपदी को सान्त्वना देते हुए जो तुमने प्रतिज्ञा की थी उसे सत्य करो । भीमसेन का, द्रौपदी का और मेरा भी प्रिय हो उसे करो ।।५४।।

सुबोधिनी—कुरु प्रतिश्रुतमिति । स्वप्रतिज्ञा शिरसः समाहरणे । तच्छिरोमणिहरणेन पालितं भविष्यति । भीमसेनस्य प्रियं वधेन । तद्वपनादिना पालितं भवति । द्रौपद्याश्च प्रियं मोचनेन । तदपि तेनैव पालितं भविष्यति । मह्यं च प्रियमुभयात्मककरणेन ।।५४।।

व्याख्यार्थ—सिर को लाने की अपनी (अर्जुन की) जो प्रतिज्ञा है वह उसके सिर की मणि के ले लेने से पूरी होगी । अश्वत्थामा को मारने से भीमसेन का प्रिय होता है वह इसके मुण्डन से पूरा हो जाता है और द्रौपदी को छुड़ाना प्रिय है वह इसको छोड़ देने से हो जायगा । दोनों बातों के पालन से मेरा (कृष्ण का) प्रिय होगा ।।५४।।

आभास—भगवत्कृपया अर्जुनः सर्वरूपमेकं ज्ञात्वा तथा कृतवानित्याह द्वाभ्याम् —

आभासार्थ—अर्जुन ने भगवान् की कृपा से सब बात जिसमें समाविष्ट हो जाय ऐसे एक उपाय को जानकर वैसा किया इसे दो श्लोकों से कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—**अर्जुनः सहसाऽऽज्ञाय हरेर्हार्दमथाऽसिना ।**
मणिं जहार मूर्द्धन्यं द्विजस्य सह मूर्द्धजैः ।।५५।।
विमुच्य रशनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम् ।
तेजसा मणिना हीनं शिबिरान्निरयापयत् ।।५६।।

श्लोकार्थ—सूतजी बोले—अर्जुन ने भगवान् के हृदय के अभिप्राय को सहसा जानकर तलवार से मस्तक पर रही मणि को शिखा सहित ले ली और रस्सी से बंधे हुए बालकों की हत्या से हतप्रभ तेज और मणि से हीन अश्वत्थामा को शिबिर से निकाल दिया ।।५५।।५६।।

सुबोधिनी – **अर्जुन इति** । कृपाहेतुत्वात्—**सहसेति** । अथ तदनन्तरमेव । विमोचनात्पूर्वमसिना खङ्गेन शिरसश्चूडामणिं शिखासहितं द्विजस्य हृतवान् । इदं ह्युभयात्मकम् । तदग्रे वक्ष्यते । त्र्यङ्गत्वादुभयात्मकस्य तृतीयमाह—**विमुच्येति** । पूर्वं रशनाबद्धम् । तस्य तूष्णीम्भावे हेतुः—**बालहत्याहतप्रभमिति** । **तेजसा मणिना हीनमिति** । तृतीयसमीपे द्वयोरनुवादः । शिबिरात् स्वकटकात् । **निरयापयदिति** सतां स्थानान्निर्यापणेन सर्वत्रैव सत्सु तस्य प्रवेशो न भविष्यतीति ज्ञापितम् ॥५६॥५६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् की कृपा के कारण ही अर्जुन ने सहसा भगवान् के अभिप्राय को समझ लिया । उसके अनन्तर हो छोड़ने के पहले तलवार से सिर की चूड़ामणि को शिखा सहित ले लिया । ऐसा करना पहले कही हुई दोनों बातों का पालन करना है । यह बात आगे कहेंगे । इस उभयात्मक उपाय के तीन अंग हैं । उनमें से तीसरे अङ्ग को विमुच्य' इस पद से कहते हैं । पहले वह रस्सी से बधा था । उसे छोड़ दिया । अपमान होने पर भी अश्वत्थामा कुछ न बोला इसका कारण बताते हैं 'बालहत्याहतप्रभम्' बालकों की हत्या से हतप्रभ होने के कारण वह कुछ न कर पाया । पूर्व में 'तेजसा मणिना हीनं' के अर्थ को बता दिया है तो फिर 'तेजसा मणिना हीनम्' ऐसा क्यों कहा तो कहते हैं कि शिबिर से निकाल देने की जा तीसरी बात है उसके साथ पुनः इनका अनुवाद मात्र है । कुछ अपूर्व बात नहीं कहनी है । शिबिर से अर्थात् अपने सेना निवेश स्थान से निकाल दिया । सत्पुरुषों के स्थान से निकाल देने पर सर्वत्र सत्पुरुषों के यहां इसका प्रवेश न हो सकेगा यह शिबिरान्निरयापयत् से बताया ॥५५॥५६॥

आभास—कृतस्य सर्वरूपस्य तथात्वं विवृणोति—

आभासार्थ—अश्वत्थामा के साथ जो कुछ किया गया वह ठीक था इसका विवेचन करते हैं—

श्लोक—**वपनं द्रविणाऽऽदानं स्थानान्निर्यापणं तथा ।**
एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नाऽन्योऽस्ति दैहिकः ॥५७॥

श्लोकार्थ—मुण्डन, धन का अपहरण तथा निवास स्थान से निकालना ही आसुरी प्रकृति वाले ब्राह्मणों का वध है । अन्य दैहिक सिरश्छेद आदि रूप वध नहीं हैं ॥५७॥

सुबोधिनी– **वपनमिति** हीति पूर्वोक्तप्रमाणादयोऽनुसन्धेयाः । ब्रह्मबन्धूनां दैत्यांशब्राह्मणानाम् । दैहिको देहच्छेदनात्मकः ॥५७॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'हि' पद निश्चय अर्थ को बताता है अर्थात् 'मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः' आदि से तथा 'आततायी वधार्हणः' 'जिघांसन्तं जिघांसीयात्' इन प्रमाण आदि के अनुसार यही निश्चय है कि ब्राह्मण का वपनादि ही वध रूप है । श्लोकस्थ ब्रह्मबन्धु का अर्थ है दैत्यांश ब्राह्मण । दैहिकः का अथ देहच्छेदनरूप वध । दैत्यांश ब्राह्मणों का वध यहो है । मारना विहित नहीं है ॥५७॥

आभास—प्रासङ्गिके गते प्रस्तुतमुपसंहरति—

आभासार्थ—इस प्रकार प्रसङ्ग प्राप्त बात कहकर प्रस्तुत बात का उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**पुत्रशोकार्दिताः सर्वे पाण्डवाः सह कृष्णया ।**
स्वानां मृतानां यत्कृत्यं चक्रुर्निर्हरणादिकम् ॥५८॥

श्लोकार्थ—पुत्र-शोक से पीड़ित द्रौपदी सहित पाण्डवों ने मरे हुए अपने कुटुम्बियों का जलाने के लिए ले जाना आदि कृत्य किये ॥५८॥

सुबोधिनी—पुत्रेति ॥५८॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित-
विरचितायां प्रथमस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

व्याख्यार्थ - इसका अर्थ स्पष्ट है ॥५८॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण प्रथम स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का
सप्तम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

● श्रीमद् भागवत संहिता ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका

हिन्दी अनुवादात्मक व्याख्या सहित

प्रथम स्कन्ध—अधिकार लीला

तृतीय प्रकरण—उत्तमाधिकार

अध्याय—८

ब्रह्मास्त्र से रक्षा और भगवान् की स्तुति

कारिका—एवं हि सर्वभक्तानां भगवद्वाक्यनिष्ठता ।
सर्वहेतुकथा यैव सप्तमे विनिरूपिता ।।१।।

अष्टमे यस्य वाक्यस्य करणाद्यद्धि जायते ।
दोषश्चेत्तत्समाधानं गुणश्चेदाह पोषणम् ।।२।।

कारिकार्थ—अब अष्टमाध्याय का विवरण करते हुए सप्तम एवं अष्टम अध्याय की सङ्गति बताने के लिए दोनों अध्यायों का "एव" इत्यादि कारिकाओं से अर्थ कहते हैं । इस प्रकार सबके मनोरथ पूर्ण करने में जो कारण भक्ति है उसके निरूपण करने के लिए सप्तम अध्याय में सब भक्तों ने भगवान् के वाक्य का पालन किया ऐसा बताया । कारिका में "सर्वहेतुकथायैच" ऐसा पाठ प्रकाशकार बताते हैं, ऐसी स्थिति में सूतजी के कहने में हेतु निरूपण करने से और श्री भागवत की स्थिति का कारणभूत जो परीक्षित का भगवदीयत्व, उसमें हेतु उसके पूर्वज पाण्डवों का वैष्णवत्व होगा इस बात को कहने के लिए भगवद्वाक्य का पालन करना सप्तम अध्याय में

निरूपित किया गया । पाण्डव पूरे वैष्णव थे इसलिए उनने भगवान् के वाक्यों का पालन किया । पालन से जो फल हुआ उसका निरूपण करते हैं । प्रकाशकार यहां यह कहते हैं कि चौथे अध्याय में शौनकादिकों ने श्री भागवत और उसके निर्माता, वक्ता तथा श्रोता इन चार विषयों को लेकर चार प्रश्न किये । उनमें श्री भागवत विषयक प्रश्न का उत्तर आगे के स्कन्धों से दिया जायगा । कर्तृ विषयक प्रश्न का उत्तर "द्वापरे समनु प्राप्ते" से लेकर "शुकमध्यापयामास निवृत्ति निरतं मुनि" से निरूपण किया और उसमें अवान्तर प्रश्न तथा उत्तर भी कहे । वक्तृ विषयक प्रश्न का उत्तर सप्तमाध्याय में कथन और अध्ययन का निरूपण करते हुए दिया । बाकी रहा जो श्रोतृ विषयक चतुर्थ प्रश्न वह चार प्रकार से कहा गया है । जैसे राजा परीक्षित का जन्म, कर्म, आमरण अनशन करने का कारण तथा प्राण त्याग । उसका जन्म महाश्चर्यरूप है । इसमें हेतु कहना चाहिये । महाश्चर्य में कारण भगवदीयत्व है । राजा परीक्षित के भगवदीय होने में उसके पूर्वजों का वैष्णव होना कारण है, इसी बात को सप्तम अध्याय में भगवद्वाक्य में निष्ठा से निरूपण किया गया है उसीका कारिका में अनुवाद किया है ।

"अष्टमे यस्य वाक्यस्य" इस कारिका का अर्थ यह है कि अष्टम अध्याय में भगवान् के वाक्य के पालन करने से जो कुछ दोष हुआ उसका समाधान कहा है । इस अध्याय में १६ श्लोकों से दोषों का निरूपण किया गया है और कुन्ती कृत स्तुति पर्यन्त गुणों का वर्णन किया है । भगवान् के वाक्य के पालन करने से जो गुण हुआ उसका पोषण कहते हैं ।

आभास— पूर्वाध्यायान्ते अश्वत्थाम्नोऽपमाननं निरूपितमनिवर्त्यब्रह्मास्त्रप्रक्षेपहेतुत्वेन । अष्टमे तु पदार्थचतुष्टयं निरूप्यते भगवतोऽद्भुतकर्मनिरूपणाय । ब्रह्मास्त्रदाहः । तस्य रक्षा । ततोऽद्भुतकर्मनिर्णयस्तोत्रम् । ततोऽद्भुतकर्म । तत्र प्रथमं ब्रह्मास्त्रप्रसङ्गमाह—

आभासार्थ—आगे कहे जाने वाला परीक्षित पर अनिवर्तनीय ब्रह्मास्त्र के चलाने का कारण अश्वत्थामा का अपमान है इसका निरूपण सप्तमाध्याय के अन्त में किया गया है । अष्टम अध्याय में भगवान् को अद्भुतकर्मा बताने के लिए चार पदार्थों का निरूपण किया जाता है जो इस प्रकार है पहला ब्रह्मास्त्र से परीक्षित का दग्ध होना । दूसरा उसकी रक्षा करना । तीसरा भगवान् अद्भुतकर्मा है इसके निर्णय के लिए स्तुति करना । चतुर्थ जो भगवान् ने अद्भुत कर्म किये उनका निरूपण करना है । उनमें पहले ब्रह्मास्त्र के प्रसङ्ग को कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—**अथ ते सम्परेतानां स्वानामुदकमिच्छताम् ।**
दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः ।।१।।
ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः ।
आप्लुता हरिपादाब्जरजःपूतसरिज्जले ।।२।।

श्लोकार्थ—सूतजी कहते हैं कि—इसके बाद पाण्डव मरे हुए एवं जल चाहने वाले पुरुषों को जल देने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण सहित स्त्रियों को आगे करके गङ्गाजी के तट पर गये। उन सभी ने जलाञ्जलि देकर तथा बहुत विलाप कर भगवान् की चरणारविन्द की रज से पवित्र गङ्गा के जल में पुनः स्नान किया।१।२।

सुबोधिनी अथेति । शुद्ध्यनन्तरं हि संस्कारः कर्तव्यः । सा च शुद्धिर्बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विधेति प्रथमं बाह्यं शौचमाह द्वयेन । मृतानां प्रेतत्वविमोके हि जीवतां शौचम् । ततस्तेषां प्रथमं तद्विमाहव हेतुक्रियामाह दाहं कुरुक्षेत्र एव कृत्वा हस्तिनापुरे जलदानार्थं सर्वे गताः । ब्रह्मदण्डहता अपि यज्जलस्पर्शमात्रेण विमुच्यन्ते तत्र धर्मयुद्धे हता मुच्यन्त इति किं वक्तव्यम् । "**प्रत्तं जलं त्र्यञ्जलमात्मजेन प्रेतस्य तापं प्रशमं करोति**"ति तापापनोदार्थं जलमपेक्ष्यते । तथाच मूलभूततापत्रय-निराकरणार्थमपि एवं हेलया जलं देयमिति निश्चित्य गङ्गायां गता इति निरूप्यते । **अथेत्यवैर**-भावेन । **सम्परेतानामिति** सामान्यतः सर्वेषाम् । तत्राऽपि स्वानां बहुपुरुषसम्बद्धानामपि । तत्राऽप्युदकदायिनां सप्तमपुरुषसम्बद्धानाम् । तेषां मुक्तिदानार्थं भगवता सहेति **सकृष्णा** इत्युक्तम् । स्त्रियः पुरस्कृत्येति लोकाचारः । उदकं निनीय प्रेतेभ्यो जलं दत्वा । "**रोदनप्रियाः पितर**" इति विलप्य । येषां न खेदस्तेऽपि विहितत्वात्सर्वेऽपि विलापनं (?) कृतवन्तः । **भृशमिति** पुनर्विलापा-भावाय । चकारादन्यदपि कर्तव्यं कृत्वा । पूर्वं जलदानार्थं कृतस्नाना अपि पुनः सर्वशुद्ध्यर्थं भक्त्यर्थं ज्ञानाधिकारार्थं च गङ्गायां स्नातवन्त इत्याह—**आप्लुता इति** । यद्यपि पूर्वमेव—"**तच्चरणपङ्कजाऽवनेजनाऽरुणकिञ्जल्कोपरंजिते**"ति वचनात्—"**धातुः कमण्डलुजलमि**"ति वचनाच्च सर्वमेव गङ्गाजलं तादृशं भवति तथापि नदीत्वेन जलान्तरस्पर्शसम्भावनया पूर्वस्नातजलं तादृशं भवति न वेति सन्दिह्योपरिभागे भगवन्तं स्थापयित्वा तच्चरणोदकेन स्नातवन्त इत्यर्थ. अनेन ते तदीया इति सर्वथा ज्ञापितम् ।।१।।२।।

व्याख्यार्थ—शुद्धि के बाद ही मृतक का संस्कार किया जाता है, वह शुद्धि दो प्रकार की है, बाह्य एवं आन्तर । इनमें पहले दो श्लोकों से बाह्य शुद्धि का निरूपण करते हैं । मरे हुओं का जब प्रेतत्व छूट जाता है तब उसके सम्बन्धी शुद्ध होते हैं । इसलिए पहले प्रेतत्व छुड़ाने के लिए मरणोत्तर होने वाली क्रिया का निरूपण करते हैं । मरे हुओं का कुरुक्षेत्र में ही दाह करके हस्तिनापुर में जल देने के लिए सब (पाण्डव) गये । पहले कपिलदेवजी के क्रोध से दग्ध हुए सगर के पुत्र भी जिस गङ्गा के जल के स्पर्श से मुक्त हो गये तो धर्मयुद्ध में मरने वालों की मुक्ति हो इसमें क्या संदेह हो सकता है । "प्रत्तं जलं त्र्यञ्जलमात्मजेन प्रेतस्य ताप प्रशमं करोति" पुत्र से दिया गया जो तीन अञ्जलि जल वह प्रेत के ताप को मिटाता है । इसलिए प्रेत के ताप को दूर करने के लिए जल की अपेक्षा है । मूलभूत जो आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक ताप है उनके दूर करने के लिए

एक ही साथ तीन अञ्जलि जल देना चाहिये ऐसा निश्चय कर गङ्गाजी में गये इस बात का निरूपण किया जाता है । श्लोक में 'अथ' का अभिप्राय यह है कि मरणोत्तर वैर भावना नहीं रखनी चाहिये इसलिए वैर भाव को छोड़कर पाण्डव उत्तर क्रिया करने गये । श्लोक में 'स्वानाम्' का अभिप्राय यह है कि जो बहुत पीढ़ियों में हैं तथा सपिण्ड जो पुरुष मरे हैं उनको मुक्ति देने के लिए भगवान् के सहित गङ्गाजी पर गये । स्त्रियों को उस समय आगे किया क्योंकि ऐसा ही लोकाचार है । प्रेतों को जल देकर 'रोदनप्रिया: पितर:' पितरों को रोना अच्छा लगता है इसलिए वे रोये जिनको दु:ख नहीं था वे भी शास्त्रीय विधि होने से रोये । सभी अत्यधिक रोये जिससे फिर न रोना पड़े । श्लोकस्थ चकार का अभिप्राय यह है कि इसके अतिरिक्त जो भी कर्तव्य था उसे भी किया । पहले जल देने के लिए स्नान किया था तो भी पुन: सब प्रकार की शुद्धि, भक्ति त्रं ज्ञानाधिकार को प्राप्त करने के लिए गङ्गा में स्नान किया । इसी बात को आप्लुता:' से कहा है । यद्यपि गङ्गाजल भगवच्चरणारविन्द के धोने से अरुण पराग से युक्त है । जैसा कि 'तच्चरण-पङ्कजावनेजनारुण किञ्जल्कोपरञ्जिता' से कहा है 'धातु: कमण्डलजलम्' ब्रह्माजी ने भगवान् के चरणारविन्द को धोया । इस वचन से सभी गङ्गाजल अति पवित्र करने वाला है तथापि नदी रूप होने से जलान्तर के सम्बन्ध की सम्भावना है इसलिए पहले जिस जल में स्नान किया था वह शुद्ध गङ्गाजल (भगवच्चरणारविन्द का जल) था या नहीं, इस सन्देह से दूसरी बार जहाँ वे (पाण्डव) नहीं रहे थे उसके ऊपर के प्रदेश में भगवान् को खड़े किये और उनके चरणारविन्द के जल से स्नान किया । इस बात के कहने से यह मालूम हुआ कि भगवत्सम्बन्धी वस्तु का ही विनियोग करने का उनका आग्रह था इसलिए वे भगवदीय थे ।।१।।२।।

आभास— एवं सर्वकर्त्तव्ये कृते तादृशेषु भगवता यत्कर्त्तव्यं तदाह **तत्राऽऽसीन-मिति द्वाभ्याम्**—

आभासार्थ— इस प्रकार सब कार्य के करने पर वैसे भक्तों के लिए जो भगवान् ने किया उसे 'तत्रासीनम्' इत्यादि दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**तत्राऽऽसीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहाऽनुजम् ।**
गान्धारीं पुत्रशोकार्त्तां पृथां कृष्णां च माधव: ।।३।।
सान्त्वयामास मुनिभिर्हतबन्धून् शुचार्ऽपितान् ।
भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्नप्रतिक्रियाम् ।।४।।

श्लोकार्थ—गङ्गातट पर बैठे अपने छोटे भाई भीमसेन आदि के सहित युधिष्ठिर को अथवा अपने छोटे भाई विदुरजी सहित धृतराष्ट्र को और पुत्र-शोक से व्याकुल गान्धारी, कुन्ती तथा द्रौपदी को जो बालकों के मर जाने से शोकाकुल थे उनको मुनियों के साथ जाकर लक्ष्मीपति भगवान् ने काल में पैदा हुए प्राणियों में काल की प्रवृत्ति अनिवार्य है इसलिए तत्वज्ञान देकर सान्त्वना दी ।।३।।४।।

सुबोधिनी—आसीनमित्यव्यग्रत्वाय । कुरुपतिं युधिष्ठिरम् । सहाऽनुजं विदुरसहितं भीमादिसहितं वा । तीर्थाटनकथा कल्पान्तरीया । स्त्रियः सर्वा एव पुत्रशोकार्त्ताः । अतः **पुत्रशोकार्त्तामिति** विशेषणं सर्वत्र । कृष्णा द्रौपदी । चकारात्सुभद्रादयः । स्त्रीणां सान्त्वने हेतुः—**माधव इति** । माया धवः । सर्वासामेव लक्ष्म्यंशत्वात् । सान्त्वनं वस्तुयाथात्म्यज्ञापनेन । **मुनिभिरिति** संवादार्थम् । हता बान्धवा येषाम् । शोकापनोदनं तत्त्वज्ञानाद्भवति । नन्वीश्वरेण सान्त्वनमनुचितम् । सर्वकर्तृत्वादित्याशङ्क्य— स्थापितकालरूपाधिकारिणस्तद्गृह जातेषु दण्डादिकमीश्वरस्याऽप्यप्रतीकार्यम् । न हि स्त्रीपुत्रादिताडने राजदण्डो भवति । कालस्याऽपि भक्तत्वात्कदाचिद्भक्तानप्युपेक्षते इति सिद्धान्तमाह— **भूतेष्विति** । काले जातेषु । कलयतीति कालः । गतिं प्रवृत्तिम् । न विद्यते प्रतिक्रिया यस्याः ॥३॥४॥

व्याख्यार्थ—श्लोकस्थ 'आसीनम्' का अर्थ है बैठे हुए, जो व्यक्ति बैठ जाता है वह व्यग्र नहीं होता। युधिष्ठिर एवं धृतराष्ट्र के लिये बैठे हुए कहने से वे व्यग्र नहीं थे। यह कहा गया। श्लोकस्थ 'कुरुपतिम्' का अर्थ है युधिष्ठिर 'सहानुजम्' का अर्थ है भीम आदि सहित । जब 'सहानुजम्' को धृतराष्ट्र का विशेषण रखते है तो विदुर सहित धृतराष्ट्र यह अर्थ होता है। विदुरजी तीर्थ यात्रा के लिये चले गये थे तो यहां इस समय उनका निर्देश करना कैसे युक्त है तो कहते है कि तीर्थाटन की कथा दूसरे कल्प की है। इस कल्प की नहीं। इसलिये विदुर के सहित धृतराष्ट्र की स्थिति बताना असंगत नहीं है। वहां उपस्थित सभी स्त्रियां अपने अपने पुत्रों के शोक से पीड़ित थी। इसलिये 'पुत्रशोकार्त्ताम्' यह कहा। यह विशेषण गान्धारी, कुन्ती तथा द्रौपदी सुभद्रा आदि सबका है। स्त्रियों को तो स्त्रियां समझाती है तो फिर भगवान् ने उन्हें क्यों समझाया इसलिये श्लोक में 'माधवः' पद दिया गया है भगवान् लक्ष्मी के पति है। और स्त्रियां सब लक्ष्मी की अंश भूता है पति का स्त्रियों को समझाना कर्त्तव्य हो जाता है इसलिये भगवान् का उनको समझाना ठीक था। देह नश्वर है। आत्मा नश्वर नहीं है। आदि आदि बातों से वस्तु का याथार्थ्य बताते हुए उन्हें समझाया। समझाने के समय मुनियों को भी साथ रखा क्योंकि वे भी अपनी (भगवान् की) बात का अनुमोदन करें। 'हतबन्धूनाम्' का अर्थ यह है कि जिनके बान्धव मर गये हैं। उनका तत्वज्ञान से शोक मिटाया जाता है। शंका करते हैं कि ईश्वर सर्वकर्त्ता होने से सब तरह से सब कुछ कर सकते हैं तो इस प्रकार सान्त्वना देना उचित नहीं। क्योंकि भगवान् सब कुछ करने मे समर्थ हैं तो वे काल का भी प्रतीकार कर सकते हैं। इस आशंका का उत्तर देते हैं—कि काल को भगवान् ने अधिकार दे दिया है इसलिये काल के घर में पैदा हुओं को काल दण्ड दे सकता है। उसका प्रतिकार भगवान् भी नहीं करते क्योंकि भगवान् उसे अधिकार दे चुके हैं। अधिकार दे देने के अनन्तर उसमें हस्तक्षेप करना उचित नहीं। जैसे घर में रहे स्त्री पुत्र आदि के ताड़न करने पर राजा दण्ड नहीं देता क्योंकि यह उनके घर की बात होने से घर के स्वामी को ताड़न का अधिकार है इसी प्रकार काल के घर में पैदा हुओं का अर्थात् जिन पर काल का अधिकार है—उनको काल दण्ड दे सकता है। काल भी भक्त है इसलिये उसके सम्मान के लिये कदाचित् भगवान् काल से पैदा की गई भक्तों की आपत्ति की उपेक्षा करते हैं इसी सिद्धान्त को कहते है कि 'भूतेषु' अर्थात् काल में पैदा होने वाले प्राणियों में काल जो परिवर्तन आदि करता है उसकी प्रवृत्ति को प्रतिक्रिया रहित दिखाकर समझाया। श्लोकस्थ 'गति' का अर्थ प्रवृत्ति है अर्थात् काल की प्रवृत्ति को। "अप्रतिक्रियाम्" का अर्थ है कि जिस काल की प्रवृत्ति का उपाय नहीं हो सकता। ३-४॥

आभा —एवमपि तदानीमक्रियमाणमपि भक्तानां हितमेव करोतीति ज्ञापयितुं लौकिकप्रतीत ऽपि यद्धितं तत्करिष्यमाणमपि भगवदिच्छायां जातायां कृतमेव लोके नाऽभिव्यक्ता ति सिद्धान्तज्ञापनार्थं तन्निरूपयति साधयित्वेति द्वाभ्याम्—

आभास थं— इस प्रकार उस समय नहीं किया गया भो भक्तों का हित भगवान् करते हैं इस बात को बताने के लिये लौकिक प्रतोति से भी जो हित है वह यद्यपि भविष्य में किया जायगा किन्तु भगवदिच्छा ह े के क रण भगवान् की इच्छा के साथ ही कार्य हो जाता है भगवान् ने पाण्डवों के हित के लि विचार किया तो एक प्रकार से वह कार्य हो हो चुका किन्तु लोक में वह प्रकट रूप में नहीं आ या इसी सिद्धांत को बताने के लिये उसका निरूपण साधयित्वा इत्यादि दो श्लोकों से करते हैं।

श्लोक —**साधयित्वाऽजातशत्रोः स्वं राज्यं कितवैर्हृतम् ।**
घातयित्वाऽसतो राज्ञः कचस्पर्शक्षताऽऽयुषः ।।५।।
याजयित्वाऽश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः ।
तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवाऽतनोत् ।।६।।

श्लोक र्थ—भगवान् श्री कृष्ण ने कपटियों से छल के द्वारा हरे गये युधिष्ठर के राज्य व पुनः उन्हें दिलाकर द्रोपदी के केशों के स्पर्श से जिनकी आयु नष्ट हो गई है ऐसे ष्ट राजाओं को मरवाकर उत्तम साधनों से तीन अश्वमेघों के द्वारा यजन करा कर इन्द्र की तरह उस युधिष्ठर का पवित्र यश दिशाओं में फैलाया ।५-६।।

सुबोधि —न जाताः शत्रवो यस्येति भक्तावुत्तमाधिकारो द्योतितः। दाने हेतु—**स्वं राज्यमिति**। तत्राऽपि हेतु —**कितवैर्हृतमिति**। कपटद्यूते दुर्योधनादिभिर्हृतम्। हस्तिनापुरराज्यमपि तथा। पाण्डोरेव र नत्वात्। अत एव **कितवैरिति** बहुवचनम्। ननु कालस्याऽप्रतिक्रियत्वे तेषाम सुषो विद्यमानत्वा कथं तद्घातनम्? तत्राऽऽह—घातयित्वेति। सर्वे ह्यासन्तो राजानः। दुःशासनेन सहै- क्यभावात् ऽचस्पर्शो द्रौपद्याः। तेनैव क्षतमायुः सर्वेषाम्। निरपराधाया भक्तायाः प्राणानामुत्त- मत्वादायुषः शरसि विद्यमानत्वाब्दलिष्ठप्राणेन दुर्बलानां क्षतकरण युक्तमेव। "**तरति मृत्युं तरति पाप्मानं** ति **ब्रह्महत्यामि**" ति श्रुतेराहारपृथक्त्वपक्षेणाऽश्वमेधत्रयकरणम्। उत्तमकल्पकैः उत्कृष्टसा सहितैः उत्तमं वा कल्पयन्तोति प्रायश्चित्तरूपः। स्वसान्निध्यात्त्रिभिरेव (?) शताश्व- मेधसमानय ोजनकत्वम्। त्रैलोक्येऽपि तस्य यशः। अनेनैकोपक्रमेण अश्वमेधत्रयं कृतमिति ज्ञात- व्यम् ।।५।। ।।

व्या ार्थ—श्लोकस्थ अजातशत्रु शब्द का अर्थ यह है कि बाह्य एवं आन्तर काम क्रोधादि शत्रु जिसके उत्पन्न ही नहीं हुए है वही भक्ति का उत्तमाधिकारी है। अर्थात् जो काम क्रोध से रहित होत है वही भक्ति का उत्तमाधिकारो होता है भगवान् ने युधिष्ठर को राज्य इसलिये दिलाया कि वह उसी का था। राज्य दिलाने का कारण यह है कि दुर्योधन आदि ने धर्म युद्ध के

द्वारा उसे प्राप्त नहीं किया किन्तु कपट युक्त द्यूत (जूआ) में उसके राज्य को ले लिया था। इसलिये भगवान् ने उन्हें मरवाकर पीछा युधिष्ठिर को दिलाया। हस्तिनापुर का राज्य भी इसी प्रकार दिलाया। क्योंकि हस्तिनापुर का राजा भी पाण्डु ही था। राज्य के हरण करने में अनेक कपटी इकट्ठे थे इसलिये 'कितवैः' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग किया। शंका होती है कि काल का प्रतीकार नहीं हो सकता। यदि उन दुर्योधनादि की आयु शेष थी तो भगवान् ने उन्हें कैसे मरवा दिया। इस पर कहते हैं कि 'घातयित्वाऽसतोराज्ञः' सब राजा दुष्ट थे क्योंकि दुष्ट दुःशासन के साथ वे मिल गये थे। उनने द्रौपदी के बालों को स्पर्श किया उसीसे उन सब की आयु नष्ट हो गई। वह द्रौपदी निरपराध एवं भक्त थी इसलिये उसके प्राण उत्तम थे। उनका तथा आयु का स्थान सिर है परन्तु प्राणों के बलिष्ठ होने से आयु प्राणाधीन थी इसलिये उनके प्राणों को द्रौपदी के प्राणों ने नहीं रहने दिया। अश्वमेघ यज्ञ का फल बताते हुए कहा है कि तरति मृत्यु तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्याम्' एक अश्व मेघ से मृत्यु को पार करता है दूसरे से पाप मुक्त होता है और तीसरे से ब्रह्म हत्या से मुक्त होता है। शंका करते है कि 'सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात्' इस अधिकरण में दर्श, पौर्णमास एवं ज्योतिष्टोम आदि को सम्पूर्ण कामना देने वाले बताये है। काम नैमित्तिक हैं और ज्योतिष्टोम आदि उनके निमित्त है। इसलिये एक बार ज्योतिष्टोम आदि का अनुष्ठान करने पर युगपत् सत्व फल की सिद्धि हो ही जायगी तो फिर अलग-अलग कामना के लिये पृथक्-पृथक् अश्वमेघ यज्ञ करने की क्या आवश्यकता है। इस पर कहते है कि यहां काम विधेय नहीं है किन्तु स्वतः प्राप्त हुए कामों का उद्देश्य करके ज्योतिष्टोम आदि का विधान है इन यागों से परस्पर निरपेक्ष स्वर्ग एवं पशु आदि पृथक्-पृथक् फल बताया गया है इसलिये तदर्थ पृथक पृथक् कामना के लिये ज्योतिष्टोम आदि का भी पृथक्-पृथक् प्रयोग होता है। इसी न्याय से मृत्यु, पाप और ब्रह्महत्या से मुक्त होने के लिये राजा युधिष्ठिर ने पृथक्-पृथक् तीन अश्वमेघ यज्ञ किये। इसी बात को 'अश्वमेघैः' यह बहुवचनान्त पाठ देकर कहा है। वे अश्वमेघ उत्तम साधन सहित थे। अथवा 'उत्तम कल्पकैः' का अर्थ है उत्तम बनाने वाले। अर्थात् इन अश्व मेघ यज्ञों को प्रायश्चित रूप में कराके राजा को उत्तम बनाना है। क्योंकि युधिष्ठिर ने गुरु हनन आदि पाप किये है उनकी शुद्धि के लिये ये यज्ञ प्रायश्चित रूप में कराये। यज्ञ करते समय भगवान् का सान्निध्य था इसलिये तीन अश्वमेघ यज्ञों के करने मात्र से ही सौ अश्वमेघ यज्ञ के समान राजा का यश हो गया। तात्पर्य यह है कि भगवान् की सन्निधि में किया हुआ थोड़ा भी यागादि कर्म अत्यधिक फल देने वाला होता है। जिससे राजा का तीन लोक में यश हो गया। इस एक के उपक्रम से राजा ने लगातार तीन अश्व मेघ यज्ञ किये ॥५॥६॥

आभास—एवं भगवतोऽत्रत्यलौकिकसर्वधर्मसमाप्तिसूचनाऽभ्यनुज्ञामाह सार्द्धेन—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने यहां लौकिक सब धर्मों की समाप्ति बताने के लिये जाने की आज्ञा ली, अर्थात् भगवान् जाने के लिये पूछ रहे है, इससे मालूम पड़ता है कि यहां के उनके द्वारा होने वाले पाण्डवों के लौकिक सभी कार्य समाप्त हो गये इसी को डेढ श्लोक से कहते है कि -

श्लोक—**आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः ।**
द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः ।

गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन् द्वारकां रथमास्थितः ॥७॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! महर्षि व्यास आदि ब्राह्मणों की आज्ञा ली तथा उनका पूजन किया और उनसे पूजित हुए भगवान् पांचों पाण्डवों से पूछकर सात्यकि एवं उद्धव के साथ द्वारका जाने के विचार से रथ में विराजे । ॥७॥

सुबोधिनी—आमन्त्र्येति । बान्धवा ऋषयश्चाऽभ्यनुज्ञाकर्त्तार: पृथगुक्ता: । चकारादन्ये सर्वे । शैनेय. सात्यकि: । द्वैपायनादीनां स्वस्थत्वादभ्यनुज्ञातुल्ये(?)ऽपि पूजनमधिकम् । **ब्रह्मन्निति** ब्राह्मणस्य महाक्रोध इति सूचितम् । रथारोहणपर्यन्त स्वक्रिया । अग्रे यन्तुरश्वानां च ॥७॥

व्याख्यार्थ - बान्धव और ऋषि जाने की आज्ञा देने वाले है इसलिये बान्धव और ऋषियों को पृथक् रूप से कहा । श्लोकस्थ चकार से और सभी जो उपस्थित थे वे लिये गये । अर्थात् जो इनके अतिरिक्त दूसरे उपस्थित थे उनसे भी आज्ञा ली । श्लोकस्थ शैनेय का अर्थ है सात्यकि । वेद व्यास आदि से दूसरों की तरह आज्ञा भी ली और उनका पूजन भी किया । अर्थात् और से तो केवल आज्ञा ही ली । और वेद व्यास आदि से आज्ञा भी ली और उनका पूजन भी किया । सूतजी शौनक के लिये 'ब्रह्मन्' ऐसा सम्बोधन देकर यह सूचित किया है कि आप ब्राह्मण है आपकी अनुभूति है कि ब्राह्मण को क्रोध अधिक आता है इसीलिये ब्राह्मण वेद व्यास आदि से आज्ञा ली और पूजन भी किया अन्यथा उनके क्रोध करने की संभावना थी जैसे अपमान होने से अश्वत्थामा को महा क्रोध हुआ । भगवान् द्वारका जाने के लिये रथ में विराजे । आगे की क्रिया सारथि एव घोड़ों के अधीन है । ७॥

आभास—भक्तस्य कार्ये उपस्थिते प्रारब्धमपि स्वकार्यं त्यजतीति ज्ञापयितुं तस्मिन्समये उत्तरा दृष्टवानित्याह—

आभासार्थ—जब भक्त का कोई कार्य उपस्थित हो जाता है तो भगवान् उसके कार्य के लिये अपने आरम्भ किये हुए कार्य को भी छोड़ देते हैं । अर्थात् भगवान् जाने को उद्यत हो गये थे किन्तु भक्त के कार्य के लिये अपने गमन रूप कार्य को छोड़ दिया इस बात को बताने के लिये कहते हैं कि जाने के समय उत्तरा को देखा ।

श्लोक—**उपलेभेऽभिधावन्तीमुत्तरां भयविह्वलाम् ।**
पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते ।
नाऽन्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ॥८॥

श्लोकार्थ—जब भगवान् रथ में विराजे इतने ही में देखा कि भय से विह्वल उत्तरा दौड़ी चली आ रही है । उत्तरा ने कहा कि—हे महायोगिन् ! हे देवताओं

के देवता ! हे जगत् के स्वामिन् ! रक्षा करो रक्षा करो आपके अतिरिक्त कोई मुझे अभय देने वाला नहीं है क्योंकि सभी एक दूसरे को मारने वाले है । ८॥

सुबोधिनी—उपलेभ इति । सा हि भक्तोत्तरा । अत एव ब्रह्मास्त्रदर्शनं तस्याः प्रथमम् । मुख्यमेवाऽऽयसशरेण सम्बद्धमुत्तरां प्रति गच्छति । तदनु तस्मादुद्गताः पञ्च शराः पाण्डवान् प्रतिगच्छन्ति । मूलोच्छेदेऽधिकव्यापारात् । अकौरववदपाण्डवमपि करिष्यामीति तस्याऽभीष्टत्वात् । आभिमुख्येन धावन्तीम् । भयविह्वलां वस्त्रादिष्वसावधानाम् । प्रारम्भाद्यभावादागच्छन्नेव(?)पाहीति वचनाद हेत्याद्यनुक्ति । तस्या भयोद्विग्नाया वाक्यमाह **पाहि पाहीति** । कायवाग्भ्यामेकार्थप्रतिपादनाय न कर्मनिरूपणं शब्दत । किन्त्वात्मानं प्रदर्शयन्(?)पाहीति वचनादात्मानं पाहीत्युक्तं भवति । **महायोगिन्निति** सामर्थ्यं प्रकारं च बोधयन्निव(?)सम्बोधयति । सर्वात्मकत्वेन शरपक्षपातेऽपि साम्प्रत देवहितकर्तृत्वेन तन्निराकरणं युक्तमित्याह— **देवदेवेति** । रक्षकाभावाच्चाऽराजकराज्ये सर्वरक्षार्थं च गर्भो रक्षणीय इति सम्बोधयति—**जगत्पत इति** । कथं श्वशुरादिषु विद्यमानेषु मामेव प्रार्थयसे ? इत्यत आह—**नाऽन्यमिति** । जगति त्वत्तोऽन्यमभयं भयरहितमेव न पश्ये । मृत्युग्रस्तत्वात् । अभीतो हि शरणयोग्यः । किञ्च । समानशीलव्यसनानां सख्यमपेक्ष्यते । तत्र परस्परघातकत्वमत्याश्चर्यम् । तता ज्ञायते कश्चित्सर्वत्राऽऽविश्य मारयतीति न तेषां शरणगमनं प्रयोजनायेत्याह— **यत्र मृत्युरिति** । अतस्त्वमेव शरणार्ह इति भावः ।८॥

व्याख्यार्थ—वह उत्तरा भक्त थी । भक्त को भली बुरी पहले ही मालूम हो जाती है इसलिये उत्तरा को ही पहले ब्रह्मास्त्र दीखा । वह लोह के बाण से युक्त मुख्य ब्रह्मास्त्र उत्तरा को ओर आ रहा है उसके बाद उस मुख्य ब्रह्मास्त्र से निकले हुए पांच बाण पाण्डवों की ओर जा रहे हैं । उत्तरा की ओर मुख्य अस्त्र को अश्वत्थामा ने इसलिये चलाया कि परीक्षित् पाण्डवों का मूलरूप है इसलिये जैसे वृक्ष के मूल के काटने में अधिक व्यापार अपेक्षित है उसी प्रकार यहां भी उच्छेद (नाश) के लिये मुख्य ब्रह्मास्त्र चलाया । अश्वत्थामा को यह अभीष्ट था कि कौरव जैसे निर्वंश हो गये उसी प्रकार पाण्डवों को भी मैं निर्वंश बना दूंगा । उस समय उत्तरा भगवान् के सम्मुख दौड़ रही थी और भय से विह्वल थी । इसलिये वस्त्र इत्यादि का भी उसे भान न था । उत्तरा को जिस प्रकार कहना आरम्भ करना चाहिये उस प्रकार से उसने कहना आरम्भ नहीं किया इसलिये श्लोक में आह ऐसा नहीं कहा । आती हुई उस उत्तरा ने 'पाहि' रक्षा करो ऐसा ही कहा । भय से घबराई हुई उस उत्तरा के 'पाहि पाहि' रक्षा करो रक्षा करो ऐसे वाक्य थे । यहां 'पाहि' का कर्मरूप 'आत्मानम्' कहना आवश्यक था किन्तु काया और वाणी से एक ही बात उसे कहनी है इसलिये उसने अपने को दिखाते हुए 'पाहि' ऐसा ही कहा । उत्तरा ने भगवान् को 'महायोगिन्' पद से सम्बोधित कर यह बताया कि आपमें सब सामर्थ्य है और सब प्रकार को भी आप जानते हैं । क्योंकि आप महायोगी है । एक साधारण योगी में भी ये सब बातें होती है तो महायोगी में ये सब बाते हो इसमें क्या आश्चर्य है । उत्तरा कहती है कि आप सब रूप है इसलिये बाण रूप भी आप है अतः उसका भी पक्ष पात आपको होना चाहिये अर्थात् बाण भी निष्फल न जाय ऐसा कार्य करना चाहिये किन्तु इस समय देवताओं के हित के लिये पधारे हैं अतः उनके हित के लिये इस बाण का निराकरण करना ठीक है । पाण्डव देव जीव थे अथवा देवताओं के अंश रूप थे और आप देवताओं के भी देव है अर्थात् रक्षक है इसलिये पाण्डवों का कार्य करना ठीक है । इस समय

किसी रक्षक के न होने से अराजक राज्य हो गया है अतः सबकी रक्षा के लिये मेरे गर्भ को रक्षा करे। क्योंकि आप सम्पूर्ण जगत् के पति हैं। पति रक्षक होता है। यदि आप यह आशङ्का करें कि तेरे श्वसुर आदि के विद्यमान रहते मुझे ही रक्षा के लिए क्यों कहती है तो कहती है कि 'नान्यम्' जगत् में आपके अतिरिक्त किसी को भय रहित नहीं देखती हूँ। क्योंकि सभी मृत्यु के भय से ग्रस्त हैं। जो भय रहित होता है वही शरण के योग्य होता है। मेरे श्वसुर आदि मृत्यु वश होने से भय रहित नहीं है। अतः वे शरण योग्य नहीं है। एक बात यह भी है कि समान स्वभाव समान व्यसन वालों का सख्य होता है। ऐसी स्थिति में कौरव एवं पाण्डवों का सख्य होना चाहिये था परन्तु ऐसा न होकर उनका परस्पर घातक बनना अति आश्चर्यजनक है। सख्य की जगह विरोध है इससे ज्ञात होता है कि कोई सर्वत्र आविष्ट होकर के मरवाता है। तो जिसका आवेश है उसके शरण जाना चाहिये। और वे हैं आप। इसलिए आपका ही शरण ग्रहण करना चाहिये। उनके शरण ग्रहण करने से कोई प्रयोजन नहीं है। इसी तात्पर्य से श्लोक में 'यत्र मृत्युः' ऐसा कहा है। प्रकाशकार कहते हैं कि श्री सुबोधिनी में उत्तरा के विशेषण आगच्छन् प्रदर्शयन् बोधयन्निव की जगह आगच्छन्त्या एवं प्रदर्शयन्त्या बोधयन्तीव ऐसा स्त्रीलिङ्ग पाठ रहा है। पुल्लिङ्गों का प्रयोग लेखक की भूल से हो गया है ऐसा स्पष्ट है। ८।

आभास—प्रस्तुतमाह—

आभासार्थ—प्रस्तुत बात कहती है—

श्लोक—**अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो।**
कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥९॥

श्लोकार्थ—हे ईश! हे व्यापक! हे स्वामिन्! यह तपे हुए लोहे का बाण मेरे सम्मुख आ रहा है। मुझे यह यथेष्ट जलावे, किन्तु मेरे गर्भ को नष्ट न करे ॥९॥

सुबोधिनी— **अभिद्रवतीति। ईशेति** प्रतिक्रियायां, मूलज्ञाने च **विभो इति** सम्बोधनद्वयम्। मृत्योरप्रतीकार्यपक्षे स मृत्युर्मां दहतु। **मे गर्भो** मा निपात्यताम्। योगबलाद्गर्भं पालय। अनेन भक्तरक्षा गर्भरक्षैव मुख्या न मद्रक्षेति ज्ञापितम् ॥९॥

व्याख्यार्थ— श्लोक में 'ईश' यह सम्बोधन यह बताता है कि आप ऐश्वर्य युक्त हैं इसलिए प्रतीकार कर सकते हैं। 'विभो' और 'नाथ' इन दो सम्बोधन से उत्तरा ने यह बताया कि आप व्यापक और सबके स्वामी हैं इस बात को मैं जानती हूं। आप सबके मूल हैं। यदि आप यह समझते हो कि मृत्यु का प्रतीकार नहीं हो सकता तो मृत्यु रूप (ब्रह्मास्त्र) मुझे जला दे किन्तु मेरे गर्भ को नष्ट न करे। यदि आप ऐसा विचार करें कि तेरी रक्षा के बिना गभ की रक्षा कैसे हो सकती है तो मैं आपसे प्राथना करती हूं कि योग बल से मेरे गभ की रक्षा करें। अर्थात् योगी में सर्व सामर्थ्य होता है। आप योगेश्वर हैं इसलिए मेरी रक्षा न होने पर भी गर्भ की रक्षा कर सकते

हैं। इस प्रकार उत्तरा ने यह बताया कि भक्त जो गर्भ में है उसकी रक्षा मुख्य है मेरी रक्षा मुख्य नहीं है ॥९॥

सूत उवाच—श्लोक—**उपधार्य वचस्तस्या भगवान् भक्तवत्सलः ।**
अपाण्डवमिदं कर्त्तुं द्रौणेरस्त्रमबुध्यत ॥१०॥

श्लोकार्थ—सूतजी ने कहा–भक्तवत्सल भगवान् ने उस उत्तरा के वचनों का निश्चित अर्थ समझ विश्व को पाण्डव रहित ही कर देने के लिए यह अस्त्र चलाया है यह समझा ॥१०॥

सुबोधिनी—तप्तायसः शरः सत्यमागत इति तस्या वच उपधार्य निश्चित्य । उपधारणे हेतुः—**भगवानिति** । प्रतिक्रियायां हेतुः—**भक्तवत्सल इति** । अपमानितोऽश्वत्थामा तथा कृतवानित्याह—**अपाण्डवमिति** इद जगदपाण्डवं कर्त्तुं द्रोणाज्जातस्य अस्त्रमबुद्धचतेत्यर्थः । अथवा । एतस्य ब्रह्मशिरसो यदस्त्रत्वं क्षेपणधर्मत्वमपाण्डवं कर्त्तुमित्युभयथाऽपि पाण्डवनाशार्थमस्त्रं प्रयुक्तमिति ज्ञातवानित्यर्थः ॥१०॥

व्याख्यार्थ- सूतजी कहते हैं कि भगवान् ने निश्चय किया कि तपे हुए लोहे का बाण इसको ओर आ रहा है। यह सत्य है कि निश्चय करने में 'भगवान्' यह हेतु है । अर्थात् भगवान् षडैश्वर्यादि युक्त हैं इसलिए वे निश्चय कर सकते हैं। प्रतीकार करने में हेतु बताते हैं कि 'भक्तवत्सलः' भगवान् भक्तप्रिय हैं। भगवान् ने समझा कि अपमानित अश्वत्थामा ने यह कार्य किया है इसी को 'अपाण्डवम्' पद से कह रहे हैं अर्थात् जगत् को पाण्डवों से रहित बनाने के लिए अश्वत्थामा ने अस्त्र चलाया है। अथवा यह ब्रह्मास्त्र ब्रह्मा का सिर है यह अस्त्र है। चलाया जाना इसका धर्म है। अर्थात् क्षेपणार्थक 'असु' धातु से अस्त्र बनता है अतः क्षेपण धर्मत्व इसमें है इसलिए इसका अस्त्रत्व रखने के लिए तथा जगत् को पाण्डव रहित करने के लिए अश्वत्थामा ने इसे चलाया है ऐसा भगवान् ने जाना ॥१०॥

आभास– तस्मिन्नेव समये व्यसनान्तरमप्यागतमित्याह—

आभासार्थ—उसी समय दूसरा भी दुःख आया यह कहते हैं—

श्लोक—**तर्ह्येव च मुनिश्रेष्ठ पाण्डवाः पञ्च सायकान् ।**
आत्मनोऽभिमुखान् दीप्तानालक्ष्यास्त्राण्युपाददुः ॥११॥

श्लोकार्थ—हे मनन करने वालों में श्रेष्ठ! बड़ा ही आश्चर्य है कि पाँचों पाण्डवों ने अपने सम्मुख आते हुए प्रज्वलित पाँच बाणों को देख ब्रह्मास्त्र आदि उठाये ॥११॥

सुबोधिनी— **तर्ह्येवेति** । तर्ह्येव चेत्यव्ययसमुदायः परमाश्चर्यबोधकः । **मुनिश्रेष्ठेति** सम्बोधनं विश्वासात्संवादहेतुः । **पञ्चेत्युभयत्र सम्बद्धम् । तथा सत्येकैकः** सायक एकैकस्य स्थाने समागत इत्युक्तं भवति । आलक्ष्य दृष्ट्वा । द्रौणेरिति बुद्ध्वा वा । **अस्त्राण्युपाददुरिति** परलोकशुद्धयर्थं प्रतिक्रियार्थं वा । **अस्त्राणि ब्रह्मास्त्रादीनि** । ११।।

व्याख्यार्थ—'तर्ह्येव च' यह अव्यय समुदाय परम आश्चर्य को बताने वाला है। श्लोक में सूतजी ने शौनक को मुनिश्रेष्ठ इसलिए कहा है कि आप मनन करने वालों में श्रेष्ठ हैं इसलिए आप इस बात का विश्वास कर सकेंगे। श्लोकस्थ 'पञ्च' यह पद सायकान् एवं पाण्डवाः इन दोनों का विशेषण है। क्योंकि पञ्च शब्द की प्रथमा एवं द्वितीया में पञ्च ऐसा ही रूप होता है। पञ्च का दोनों में अन्वय होने से यह अर्थ हुआ कि एक-एक पाण्डव के ऊपर एक एक बाण आया। क्योंकि बाणों की और पाण्डवों की संख्या पाँच है। श्लोकस्थ 'आलक्ष्य' का अर्थ है देखकर अथवा अश्वत्थामा से चलाये गये ये बाण हैं ऐसा समझकर पाण्डवों ने सोचा कि यदि हम अस्त्र के सामने अस्त्र का उपयोग न कर वैसे ही मर जायेंगे तो परलोक बिगड़ेगा इसलिए पाण्डवों ने अस्त्र लिये। अथवा अश्वत्थामा के अस्त्र प्रतीकार के लिए उनने भी अस्त्र लिये। श्लोक में आये 'अस्त्राणि' का अर्थ है ब्रह्मास्त्र आदि। अर्थात् पाण्डवों ने परलोक बुद्धि के लिए अथवा प्रतीकार के लिए ब्रह्मास्त्र आदि लिये ।।११।।

आभास— अत्र भगवतोऽपि प्रतिक्रियाऽसामर्थ्याद्दूरापास्तं पाण्डवानामिति वक्तुं भगवान्स्वभक्तानां रक्षामेव कृतवान्नाऽस्त्रस्य प्रतिक्रियामित्याह—

आभासार्थ— इस ब्रह्मास्त्र को हटाने का भगवान् का भी सामर्थ्य नहीं है तो फिर पाण्डव कैसे हटा सकते हैं ऐसा कहने के लिए भगवान् ने अपने भक्तों की रक्षा ही की। ब्रह्मास्त्र का प्रतीकार नहीं किया यह बात कहते हैं कि—

श्लोक—**व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषामनन्यविषयात्मनाम् ।**
सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः ।।१२।।

श्लोकार्थ—जिनका चित्त अन्य विषयों में नहीं है अर्थात् जिनका चित्त केवल भगवद्विषयक है ऐसे उन अपने भक्तों का दुःख देखकर भगवान् ने अपने सुदर्शन अस्त्र से उनकी रक्षा की ।।१२।।

सुबोधिनी— **व्यसनमिति** । न अन्यो विषय आत्मनि येषाम् । स्वभावेन सर्वे विषया भवन्तु नाम । चित्ते तु भगवल्लक्षण एव विषयस्तेषामस्ति । अतः "**तद्धैतान्भूत्वाऽवती**" ति विषयार्थमेव ते रक्षिताः । तत्र सुदर्शनचक्रमलातचक्रवत् शरपाण्डवानां मध्ये परिभ्रमति । अतस्तेन तेषां रक्षां कृतवान् । **स्वानामिति** तेषां रक्षायां हेतुः । **विभुरिति** सामर्थ्यं । स्वास्त्रपदेन बुद्धिपूर्वकरक्षाकरणत्वं सुदर्शनस्य सूचितम् ।।१२।।

व्याख्यार्थ—जिन पाण्डवों के चित्त में भगवान् के अतिरिक्त कोई विषय ही नहीं आता है। यद्यपि स्वभावत: सब विषय प्राप्त होते हैं किन्तु चित्त में तो उनके भगवद्रूप ही विषय हैं। अर्थात् उनके चित्त का विषय भगवान् है इसलिए 'तद्वैतान् भूत्वावति" वह भगवान् चिन्तन के अनुसार तत्तद् रूप होकर रक्षा करता है। भगवान् को उनने विषय रूप से लिया। इसलिए भगबान् ने भी विषयों के लिए ही उनकी रक्षा की। पाण्डवों की रक्षा के लिए चलाया गया सुदर्शन चक्र जलती हुई घुमाई हुई लकड़ी के समान पाण्डव और ब्रह्मास्त्र के बीच में घूम रहा है अत: उस सुदर्शन चक्र से उनकी रक्षा की। रक्षा करने में कारण यह था कि वे अपने थे। भगवान् विभु है इसलिए उनमें इस प्रकार से रक्षा करने का सामर्थ्य है। श्लोक में 'स्वास्त्र' पद है इससे यह सूचित हुआ कि वह सुदर्शन अस्त्र भगवान् का है यह जो रक्षा करेगा बुद्धिपूर्वक ही करेगा। इसलिए भगवान् ने सुदर्शन से उनकी रक्षा की। १२॥

आभास— प्रधान उत्तरागर्भं प्रकारान्तरेण रक्षामाह—

आभासार्थ - प्रधान जो उत्तरा का गर्भ है उसकी प्रकारान्तर से रक्षा की यह कहते हैं—

श्लोक—**अन्तःस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः।**
स्वमाययाऽऽवृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे ॥१३॥

श्लोकार्थ—सब प्राणियों के भीतर रहने वाले आत्मारूप योगेश्वर हरि ने कुरुवश की रक्षा के लिए अपने अधीन माया से उत्तरा के गर्भ को ढक लिया॥१३॥

सुबोधिनी—**अन्त स्थ इति**। गर्भं प्रविष्टस्याऽर्थस्य गर्भस्य रक्षार्थं **"ओषधे त्रायस्वैनमि"** तिवन्मायया गर्भशरीरमावृतवान्। तत्र बहिः स्थितस्याऽऽवरणं न सम्भवतीति तदर्थं चत्वारि विशेषणानि चतुर्विधमायाव्याप्तिप्रतिपादकानि। तत्र मध्य एव भगवान् स्थितः सुवर्णतेजोवत्तं पालयतीत्याह– **अन्तःस्थ इति**। सर्वभूतानां मध्ये स्थितः। किञ्च। अन्यस्याऽन्यपालनं सर्वथा न सम्भवतीति गर्भरूपो भूत्वा पालितवानित्याह—**सर्वभूतानामात्मेति**। किञ्च। बहिरपि तच्छरीर-रक्षार्थमाह- **योगेश्वर इति**। योगबलेन स्वयं तत्र प्रविश्य शरीरास्त्रयोर्मध्ये स्थित्वा पालयतीत्यर्थः। अन्यथा ब्रह्मास्त्रशरीरसम्बन्धे दोषो वा संक्रमेदिति। ननु किमित्येवंप्रकारैः पालयतीति चेत्? तत्राऽऽह - **हरिरिति**। सर्वेषां दुःखहरणस्वभावत्वात्समुदायरक्षा त्वेतत्साध्या। स्वमायया स्वाधीन-मायया ब्रह्माण्डकोटिभ्रमनिवर्त्तकज्ञानाग्न्यावरकरूपत्वान्मायायास्तयाऽऽवरणं युक्तम्। **वैराट्या इति** सम्बन्धात्तस्या उदरदाहोऽपि यथा न भवति तथा कृतवानिति लक्ष्यते। उभयवंशयोर्भक्तत्वादेषा रक्षितेत्याह—**वैराट्याः कुरुतन्तव इति**। तन्तुः परम्परा पालको वा॥१३॥

व्याख्यार्थ—अर्थ्यते इति अर्थः जो चाहा जाता है वह अर्थ है। भगवान् भक्त को चाहते हैं इसलिए भगवान् का अर्थ भक्त है। गर्भ के भीतर प्रविष्ट अर्थ को रक्षा के लिए अर्थात् गर्भ की रक्षा के लिये गर्भ शरीर को आवृत किया। दीक्षा के अङ्गरूप में केश और श्मश्रु का वपन करते समय क्षुर (उस्तरा) को तिरछा नहीं रक्खा जाता। सीधा रक्खा जाता है जिससे चमड़ी कटने का उस समय डर रहता है इसलिये 'औषधेत्राय स्वैनम्' ऐसा कहा जाता है। तो इस प्रकार

औषधि से प्रार्थना कर उस्तरे से तिरछा रखने के लिये यजमान की रक्षा की जाती है यहां औषधे का अर्थ दाह निदान किया है क्योंकि उस धातु से ओष बनने से इसका अर्थ दाह है और धा का अर्थ निधान। अर्थात् हे औषधि इस यजमान की त्वचा का छेदन न होने दे। अर्थात् उस्तरे से जो दोष पैदा होना चाहिये वह दोष पैदा नहीं होने दिया जाता। उसी प्रकार माया का सम्बन्ध होने पर भी माया इसमें दोष पैदा नहीं कर सकती। इस लिये भगवान् ने माया से उस गर्भ शरीर को उसी तरह आवृत किया जिससे उसमें दोष भी पैदा न हो और आवरण भी रहे। बाहर रहा हुआ भगवान् आवरण रूप नहीं बन सकता। इसलिये चतुर्विध माया के व्याप्ति बताने के लिये चार विशेषण दिये है। भगवान् सब प्राणियों के अन्तः स्थित है इसीलिये गर्भ के मध्य में भी वह स्थित होकर रक्षा कर रहे है। सुवर्ण स्थित तेज जैसे सुवर्ण की रक्षा करता है इसी प्रकार भगवान् ने गर्भ की रक्षा की। इस बात को 'अन्तःस्थ सर्व भूतानाम्' से कहा है। तात्पर्य यह है कि भगवान् जब भीतर प्रविष्ट हुए तो उनके तेज से गर्भ का दाह होना चाहिये था, परन्तु यहां ऐसा नहीं हुआ। इसी बात को सुवर्ण तेज का उदाहरण देकर समझाया है कि सुवर्ण और तैजस् पदार्थ इसलिये तेज (आग) सुवर्ण को नहीं जला सकता। उसी प्रकार भक्त भगवान् का ही रूप है इसलिये भगवान् का तेज उसे नहीं जला सका। और एक बात यह भी है कि दूसरे का पालन नहीं कर सकता, अतः भगवान् ने गर्भ रूप ही बनकर रक्षा की। क्योंकि वह सब प्राणियों की आत्मा है। आत्मा होने से रक्षा करता ही है इस प्रकार भीतर तो रक्षा की ही और बाहर भी उसके शरीर की रक्षा की। इस बात को 'योगेश्वर' पद से सूचित किया है। योग बल से गर्भ और ब्रह्मास्त्र के बीच में भगवान् स्वयं स्थित होकर पालन कर रहे है। यदि ऐसा न करते तो ब्रह्मास्त्र का शरीर से सम्बन्ध होने पर शिवजी में जैसे ब्रह्म शिर का सम्बन्ध होने से पिशाचत्व दोष आ गया। इसी रूप में इसमें भी आ जाता। इसलिये भगवान् ब्रह्मास्त्र और गर्भ के बीच स्थित हो गये और उस अस्त्र के दोष का संक्रमण गर्भ में नहीं होने दिया। शंका होती है कि भगवान् इस प्रकार क्यों पालन करते हैं तो उत्तर देते है कि भगवान् हरि है अर्थात् सब दुःख का मिटाने वाले हैं सबका दुःख मिटाने का स्वभाव होने से समुदाय की रक्षा भगवान् ही कर सकते हैं इसलिये उन्होंने गर्भ की रक्षा की तथा उत्तरा के पेट में दाह नहीं होने दिया। श्लोकस्थ 'स्वमायया' का अर्थ है अपने अधीन रही माया से कोटि ब्रह्माण्ड के भ्रम को निवृत करने वाली जो ज्ञानाग्नि है उसका आवरण रूप माया है इसलिये उस माया से उस गर्भ का आवरण करना युक्त है। श्लोकस्थ 'वैराट्याः' में सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी है अर्थात् उत्तरा भी भगवत्सम्बन्धिनी है अतः भक्त है। इसलिये उसके उदर में दाह न हो ऐसा कार्य भगवान् ने किया। विराट् वंश एवं कुरुवंश दोनों ही भगवान् के भक्त थे इसलिये भगवान् ने उत्तरा और गर्भ दोनों की रक्षा की। 'कुरुतन्तवे' में तन्तु शब्द का अर्थ परम्परा अथवा पालक दोनों हैं। अर्थात् कुरुवंश की परम्परा रखने के लिये अथवा कुरुवंश के पालन के लिये भगवान् ने गर्भ की रक्षा की ॥ १३॥

आभास—ननु ब्रह्मास्त्र गर्भे प्रयुक्तं दाहकैकस्वभावत्वात्तत्राऽसमर्थमन्यत्कुतो न दहति? तत्राऽऽह—

आभासार्थ शंका होती है कि गर्भ के नाश के लिये चलाये गये ब्रह्मास्त्र का दाह करना ही एक स्वभाव है तो फिर गर्भ को दग्ध करने में असमर्थ रहा वह ब्रह्मास्त्र, दूसरे किसी को जलाना चाहिये सो क्यों न जलाया इस पर कहते है कि—

श्लोक—**यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरः अमोघं चाऽप्रतिक्रियम् ।**
वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद्भृगूद्वह ।।१४।।

श्लोकार्थ—हे भृगुनन्दन ! यद्यपि ब्रह्मास्त्र ब्रह्मा का शिर रूप होने से अव्यर्थ तथा प्रतिक्रिया रहित था तथापि सुदर्शन रूप वैष्णव तेज को प्राप्त कर अत्यन्त शान्त हो गया ।।१४।।

सुबोधिनी–यद्यप्यस्त्रमिति । सत्यमुक्तं सर्वदाहकमेतत् । महादेवस्याऽपि पिशाचत्वं यतो जातम् । तत् ब्रह्मशिरः ब्रह्मणः पञ्चमं शिरः । तस्य गुणद्वयं सहजम् । **अमोघम्** । सर्वदा कार्यं करोतीत्यर्थः । **अप्रतिक्रियं च** । न विद्यते प्रतिक्रिया प्रतिकूलक्रिया व्यावर्तकक्रिया वा यस्येति । तथापि किञ्चिदद्भुतं जातमित्याह—**वैष्णवं तेज आसाद्येति** । यथा व्याघ्रो मन्त्रबलेन गौर्भवति तथा परमसात्त्विकं वैष्णवं तेज आसाद्य प्राप्य सम्यगशाम्यत शान्तमभूत् । प्राकृतदेहं प्रज्वाल्य भगवद्भावापन्नं वैष्णवं देहं ज्वालयितुं प्रवृत्तं सन्मध्ये वैष्णवं तेज आसाद्य तद्रूपं सत् तदैक्यं प्राप्तवदित्यर्थः । तत्र विश्वासार्थमाह—हे भृगूद्वहेति । भृगुणा हि पूर्वं वैष्णवनिर्णयः कृतः । अन्यथा राजसास्तामसाश्च भक्त्या भगवत्सम्बन्धं प्राप्य सात्त्विका भूत्वा कथं भगवत्सायुज्यं प्राप्नुयुः । १४।।

व्याख्यार्थ–ब्रह्मास्त्र सबको जलाने वाला है यह सत्य कहा है क्योंकि महादेव को भी इसके सम्बन्ध से पिशाचत्व प्राप्त हुआ । वह ब्रह्मास्त्र ब्रह्माजी का पांचवा शिररूप है । उसमें सहज दो गुण है । एक तो यह है कि वह कभी भी निष्फल नहीं होता अर्थात् सर्वदा कार्य करता है उसका नाश नहीं हो सकता । और उसका स्तम्भन नहीं हो सकता । ऐसा होने पर भी इस समय कुछ अद्भुत बात हो गई । इस बात को ही 'वैष्णवं तेज आसाद्य' से कहा है । जैसे व्याघ्र मन्त्र के बल से गाय की तरह शान्त हो जाता है वैसे ही परम सात्त्विक वैष्णव तेज को प्राप्तकर वह ब्रह्मास्त्र एकदम शान्त हो गया अर्थात् परीक्षित् के प्राकृत देह को जलाकर भगवद् भाव को प्राप्त हुए उसके वैष्णव देह को जलाने के लिये जब वह ब्रह्मास्त्र प्रवृत्त हुआ तो मध्य में रहे हुए वैष्णव तेज को प्राप्तकर तद्रूप होता हुआ उससे एक हो गया । इस आश्चर्य जनक घटना का विश्वास हो इसके लिये सूतजी 'भृगूद्वह' यह सम्बोधन देते है । आप भृगु वंश में पैदा हुए हो और भृगु ने पहले देवताओं की परीक्षा में वैष्णव तेज का निर्णय किया था । भगवत् सम्बन्ध में यदि ऐसा सामर्थ्य न होता तो राजस एवं तामस व्यक्ति भक्ति से भगवत्सम्बन्ध को प्राप्तकर सात्विक होते हुए भगवत् सायुज्य भगवदैक्य को कैसे प्राप्त करते । १४।।

आभास–नन्वस्तु जीवानां मुक्तियोग्यानां शास्त्रसिद्धत्वात्तथात्वम् । ब्रह्मतेजस्त्वचेतनं देवताधिष्ठितं मन्त्राधिकारिरूपं कथमन्यथा भवेत् । तथा सति भगवता युद्धे प्रयुज्यमानानां ब्रह्मास्त्रादीनां तथात्वं न स्यात् । अत्र च परीक्षितः पाण्डवानां च रक्षणान्महदाश्चर्यमिद वृत्तमित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ–शंका करते है कि मुक्ति योग्य जीवों का सात्विकत्व होना शास्त्र सिद्ध है इसलिये वे सात्विक हो सकते हैं । किन्तु ब्रह्म तेज (ब्रह्मास्त्र) अचेतन है और देवता से अधिष्ठित है

और मन्त्र से वह अधिकार रूप हो जाता है तो वह वैष्णव तेजो रूप बनकर कैसे शान्त हो गया। यदि इसी प्रकार वह शान्त होता रहे तो युद्ध में भगवान् से चलाये गये ब्रह्मास्त्र आदि भी अपने कार्य करने में समर्थ नहीं होंगे। अतः ब्रह्मास्त्र वैष्णव तेजो रूप होकर शान्त हो गया यह बताना ठीक नहीं है। ऐसी स्थिति में परीक्षित एवं पाण्डवों की रक्षा होना महान् आश्चर्य का काय है इस आशंका पर कहते हैं कि–

श्लोक—मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते।
य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः ॥१५॥

श्लोकार्थ—जो भगवान् अपनी सामर्थ्य रूप माया से इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार करते हैं उस च्युति रहित अलौकिक सब पदार्थ मय भगवान् में यह आश्चर्य नहीं मानना चाहिये ॥१५॥

सुबोधिनी– मा मंस्था इति। एतदाश्चर्यं मा मंस्थाः। कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्त्तुमर्हत्वात्। न हि दृष्ठान्तव्याप्त्यादिना भगवति पदार्थनिर्णयः कर्त्तुं शक्यये। "**अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेदि**" ति वाक्यात्। किञ्च। **सर्वाश्चर्यमये**। विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रये भगवति अलौकिकसर्वपदार्थमये किमाश्चर्यम्? न ह्येतदन्यस्योच्यते। किञ्च। **च्युतिरहितः**। स्वयमात्मन एवाऽऽत्मानं सर्वच्युतं करोति। तत्र किमेतदाश्चर्यमित्यर्थः। किञ्च। माया नाम काचिच्छक्तिः पूर्वं निरूपिता। सा च देवतामयी स्वरूपभूता। तया किल विश्वं सृजति अवति हन्ति च। एकं वस्त्वसहायमेकस्यैवाऽनेकभावं सम्पादयतीत्यर्थः। किञ्च। अज एव स्वयं जायते। विरुद्धधर्मसम्बन्धे पि न पूर्वधर्मनिवृत्तिः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—यह आश्चर्य नहीं मानना चाहिये। क्योंकि भगवान् कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ है। 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः यथा महानसम्' इत्यादिको तरह भगवान् में दृष्टान्त व्याप्ति आदि से पदार्थ का निर्णय नहीं हो सकता। जैसा कि 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' अलौकिक पदार्थों को तर्क के द्वारा समझने का प्रयास नहीं करना चाहिये। क्योंकि वहां दृष्टान्त व्याप्ति आदि से पदार्थ का निर्णय नहीं हो सकता। भगवान् सर्वाश्चर्यमय है। विरुद्ध सर्व धर्मों के आश्रय रूप तथा अलौकिक सम्पूर्ण पदार्थ रूप भगवान् में क्या आश्चर्य है। यह बात दूसरे के लिये न कहकर भगवान् के लिये ही कही गई है। उन (भगवान्) में सब कुछ संभव है। स्वयं भगवान् च्युति रहित है किन्तु अपने से ही अपने को सर्वच्युत कर लेते हैं अर्थात् सब रूप बन जाते हैं तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है भगवान् की माया नाम की कोई शक्ति है जिसका कि पहले निरूपण किया गया है। वह माया देवतामयी एवं भगवत्स्वरूपभूता है। उसी से भगवान् विश्व को उत्पन्न करते है, रक्षा करते हैं तथा लय करते हैं। एक ही वस्तु बिना सहायता के एक की अनेकता कर देती है। अजन्मा भगवान् ही स्वयं जन्म लेते हैं। जन्म लेना आदि विरुद्ध धर्मों का सम्बन्ध होने पर भी उस (भगवान्) में अजत्व (अजन्मा) आदि पूर्व धर्मों की निवृत्ति नहीं होती ॥१५॥

आभास—एवं भगवता सर्वे रक्षिताः। तत्र कुन्त्यादीनामेवं भ्रम उत्पन्नो वयं सर्वे विषयार्थं रक्षिता इति। तथा सति व्यर्थं रक्षणमिति मत्वा भक्त्युपयोगार्थमेतद्भवत्विति प्रार्थयितुं भगवन्तं स्तोतुमुपक्रमत इत्याह—

आभासार्थ - इस प्रकार भगवान ने सबकी रक्षा की, उस समय कुन्ती आदि को ऐसा भ्रम हुआ कि विषयों का भोग हमको मिला है। हम सब इसके लिये ही बचाये गये है। ऐसी स्थिति में विषयार्थ रक्षा करना व्यर्थ है ऐसा मानकर यह हमारा जीवन भक्ति के उपयोगी बने ऐसी प्रार्थना करने के लिये कुन्ती ने भगवान् की स्तुति आरम्भ की यही कहते हैं—

श्लोक—**ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरात्मजैः सह कृष्णया।**
प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदमाह पृथा सती ॥१६॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मास्त्र से छुटकारा पाये हुए अपने पुत्र युधिष्ठिर आदि के तथा द्रौपदी के साथ विद्यमान सती कुन्ती जाते हुए भगवान् कृष्ण को आगे कहो जाने वाली बात कही ॥१६॥

सुबोधिनी—**ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरिति**। स्वभगिनीं तु स्वयमेव कृतार्थीकरिष्यति। उत्तरां च। अतो द्रौपद्या सह पुत्रैश्च सह प्रयाणाभिमुखमर्द्धं कार्यं कृत्वा गच्छन्तं वक्ष्यमाणमाह। तत्र हेतुः—सतीति। सतामय धर्मो यद्भक्त्यर्थमेव सर्वं जीवनादि ॥१६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् अपनी बहिन सुभद्रा को तथा उत्तरा को तो स्वयमेव कृतार्थ कर देंगे परन्तु कुछ कार्य शेष रहने से अपना पूरा कार्य न कर जाते हुए भगवान् को द्रौपदी एवं अपने पुत्र युधिष्ठिर आदि के साथ रही कुन्ती ने इस प्रकार कहा। कुन्ती सती थी। और सन्तों का यह धर्म है कि सम्पूर्ण जीवन भगवान् की भक्ति करते हुए बितावें। अतः कुन्ती ने आगे की स्तुति की।१६।

आभास—स्वरूपगुणलीलादिदुष्टदुर्ज्ञत्वलक्षणैः। जन्मकारणनिर्द्धारफलदैन्यनिजार्थनैः। हृषीकेशं पृथाऽस्तौषीन्नमस्कारपुरस्सरम्। सम्बन्धात्कृतहेलाऽज्ञा स्वरूपाप्त्यै भवच्छिदम्। तत्र स्वरूपमाह त्रिभिः—

आभासार्थ भगवान् से सम्बन्ध होने के कारण भगवान् की अवहेलना का ज्ञान रखने वाली कुन्ती ने स्वरूप प्राप्ति के लिए संसार बन्धन से मुक्त करने वाले भगवान् को नमस्कार पुरस्सर स्वरूप, गुण, लीलादि, दुष्टदुर्ज्ञेयत्व लक्षण, जन्म के कारण का निर्णय, फल, दैन्य तथा अपनी कामनाओं को व्यक्त कर स्तुति की। इनमें प्रथम 'नमस्ये' से 'पश्येमहि स्त्रियः' तक स्वरूप का वर्णन करते हैं, इससे आगे 'कृष्णाय' से लेकर 'पङ्कजाङ्घ्रये' इन दो श्लोकों से गुण का 'यथा हृषीकेश' से अपुनभवदर्शनम्' तक लीला का 'जन्मैश्वर्य' से लेकर 'विषया मतिर्नृणाम्' तक दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व का 'जन्मकर्म से लेकर 'भीरपियद्विभेति' तक लक्षण का निरूपण है। 'केचिदाहु' से लेकर

'करिष्यन्तीति केचन' तक भगवान् के जन्म के कारण का 'शृण्वन्ति गायन्ति' से फल का 'अप्यद्यनस्त्वम्' से लेकर 'तत्रवीक्षितैः' तक दैन्य का निरूपण है और 'अथ विश्वेश' से लेकर 'भगवन्नमस्ते' तक कामनाओं का व्यक्तिकरण है—

कुन्त्युवाच—श्लोक—**नमस्ये पुरुषं त्वाऽऽद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम् ।**
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम् ॥१७॥
मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाऽधोक्षजमव्ययम् ।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा ॥१८॥
तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥१९॥

श्लोकार्थ—कुन्ती कहती है कि—प्रकृति से परे आद्य पुरुष ईश्वर मायारूपी पर्दे से ढके होने से सब प्राणियों के बाहर भीतर रहते हुए भी अलक्षित इन्द्रियातीत अविनाशी नाट्य करने वाले नट का जैसे अज्ञानी पुरुष असली स्वरूप नहीं समझ पाते उसी तरह नहीं समझ में आने वाले आपको मैं अबोध नमस्कार करती हूं तथा शुद्धान्तःकरण वाले परमहंस मुनियों के हृदय में भक्तियोग स्थापित करने के लिए अवतीर्ण हुए आपको हम स्त्रियाँ कैसे जान सकती हैं ॥१७॥१८॥१९॥

सुबोधिनी—नमस्य इति । त्वा त्वाम् । आत्रेयनमस्कारस्याऽनुचितत्वमाशङ्क्य स्वरूपमाह—**पुरुषमिति** नवभिर्विशेषणैः । एतादृशस्य ममाऽऽत्मत्वाद्भेदबोधकनमस्कारानौचित्यमाशङ्क्याऽऽह—**अज्ञेति** एवमज्ञा त्वामात्मत्वेन ज्ञातुमेव नमामीत्यर्थः । दृश्यमानापेक्षयाऽनुचितत्वे शङ्कते परमार्थकथनानुपपत्तिमाशङ्क्य दृश्यमानं परमानन्दरूपं वदन्ती नमस्यतीति भावः । आद्य मूलभूतम् । बिम्बमिति यावत् । जडव्युदासार्थम्—**पुरुषमिति** । जीवव्युदासार्थम् **आद्यमिति** । एतादृशस्य सर्वकारणत्वात्पितृरूपत्वमुक्तम् । स्वाभीष्टसिद्धयर्थं रूपद्वयमाह—**ईश्वरं प्रकृतेः परमिति** । **ईश्वरमिति** बहिःफलदातृत्वम् । **प्रकृतेः परमि**त्यन्तःफलदातृत्वम् । एतादृशस्य सर्वजनीनत्वे सर्वमुक्तिप्रसङ्गो वेदानां वैयर्थ्यं च स्यादिति तदर्थमाह—**अलक्ष्यं सर्वभूतानामिति** । प्रत्यक्षतो न दृश्यत एव । कार्यद्वाराऽपि लक्षितुं न शक्यते । कार्यकारणयोरेकत्र क्वाऽप्यनुपलम्भात् । अत एव सर्वभूतानां ब्रह्मादीनामपि । अतः कृष्णस्तेन वा लक्ष्यत इति स्वप्रकाशम् । गुरुणा वा लक्ष्यत इति । "**आचार्यवान् पुरुषो वेदे**"ति श्रुतेः । ततश्च न वेदवैयर्थ्यं न वा सर्वमुक्तिरित्यर्थः । वस्तुत एवाऽयं दुर्ज्ञेयो न साधनान्तराभावादिति । "**यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानता**'मिति श्रुतेः । '**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स**' इति च । तस्माद्दुर्ज्ञेय एव भगवान् । किं तज्ज्ञानप्रार्थनयेति । तत्राऽऽह—"**सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितमिति** । भगवान् सर्वत्र वर्तते । ज्ञानं च तस्य सुलभम् । ज्ञापक एव दुर्लभः । सर्वत्रसुनि वस्तुस्वरूपत्वात् । अज्ञत्वकथनं तु विरुद्धधर्मबोधाय । तस्मात्सर्वत्र विद्यमानत्वाद्भगवज्ज्ञानं सुलभमिति । ननु तथा सति कथं न सर्वैः प्रत्यक्षीक्रियते, घटादिवत् ? तत्राऽऽह—

मायाजवनिकाच्छन्नमिति । मायैव जवनिका तिरस्करिणी । अन्तःपट इत्यर्थः । **तया आच्छन्नम्** । सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपत्वेऽपि माययाऽन्यथाभासमानत्वान्न प्रत्यक्षीक्रियत इत्यर्थः । **अत एव ममाऽपि** बहिर्मुखत्वान्न ज्ञानमित्यज्ञा । ननु न सर्वः सर्वत्र भ्रान्तः किन्तु क्वचिदेव कश्चित् । **दोषसंस्कृते**न्द्रियजन्यत्वाद्भ्रमस्य । अतः कदाचिन्निर्दुष्टैरिन्द्रियैर्घटवद्गृह्यतेति चेत् ? तत्राऽऽह—**अधोक्षजमिति** । अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मात् । इन्द्रियजन्यं ज्ञानं भगवन्तं न विषयीकरोति । **"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नाऽन्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्नि"**ति श्रुतेः । अतो वस्तुस्वरूपत्वेऽपि नेन्द्रियप्रत्यक्षत्वं भगवतः । ननु सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपत्वमनुपपन्नम् । सर्ववस्तूनां नाशप्रतियोगित्वात् । कारणत्वेऽपि कारणत्वं गच्छेत् । आधारत्वेऽप्याधारत्वम् । आधेयत्वेऽप्याधेयत्वमिति । अतो धर्मरूपेण धर्मिरूपेण वा व्ययसम्भवात्कथं ब्रह्मत्वम् ? अत आह—**अव्ययमिति** । सर्वरूपत्वेऽपि न विनाशित्वम् । विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेनोक्तत्वात् । तस्मान्निर्दुष्टपूर्णगुणविग्रहं त्वां नमस्य इति । ननु तादृश एव स एवाऽहं चेदवतीर्णस्तदा सर्वप्रत्यक्षं मां कथं न जानीयु ? धर्माणामपि स्वप्रकाशत्वात । तत्राऽऽह—**न लक्ष्यस इति** मूढदृशा न लक्ष्यसे । ननु प्रत्यक्षः कथं न लक्ष्यसे ? तत्राऽऽह—**नटो नाट्यधरो यथेति** । यथा नटः स्त्रीरूपं प्रकटयन्बहिर्मुखैर्न ज्ञायते पुरुष इति तथा नरभावं प्रकटयन्नाविर्भूतो भगवान्भगवत्त्वेन न ज्ञायत इत्यर्थः । नन्वाविर्भावान्यथानुपपत्त्या सर्वेषां ज्ञापनार्थमेवाऽऽविर्भूत इति कथमुच्यते न ज्ञायस इति । न हि भगवान् वञ्चनार्थमाविर्भूतो रसजननाय वेत्याशङ्क्याऽऽह—**तथा परमहंसानामिति** । भगवान् भक्तियोगार्थमाविर्भूतो वेदानृषींश्चाऽवतार्य तैः ससाधने ज्ञाने उत्पन्ने यदग्रिमं कार्यं तदर्थमवतीर्णः । तत्र ज्ञाने संन्यासोऽङ्गम् । अन्तःकरणशोधकत्वात् । **"संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वा"** इति श्रुतेः । अन्नादेर्दोषाजननाच्च । तदनु मननमङ्गम् । श्रवणस्य पूर्वमेव निष्पन्नत्वात् । तदनु निदिध्यासनयुक्तानां च । निदिध्यासनं हि चित्तैकाग्र्यम् । तत्र भगवन्निर्धारो वा । तत्राऽन्तरङ्गमङ्गं शुद्धान्तःकरणम् । तेषां ज्ञानाधिकारिणां जातज्ञानानां वा भक्तियोगव्यतिरेकेण भगवज्ज्ञान सायुज्यं वा न भवतीति तथा अवतीर्णमित्यर्थः । हंसास्तु विविक्तज्ञानवन्तः । केवलमात्मानमेव ये पश्यन्ति ते परमहंसाः । यद्यपि सर्वे नृत्यं पश्यन्ति तथापि रसिकानामेव रसोत्पत्तिः । न हि नपुंसकानां स्त्रीणां वा स्त्रीरूपेण नृत्ये क्रियमाणे शृङ्गाररस उत्पद्यते । प्रत्युत स्वसमानधर्माविष्कारं कृत्वा विडम्बयतीति खेद उत्पद्यते । तथा साधारणस्त्रीपुरुषाणां दैत्यांशानां च न रसो न ज्ञानं न वा भक्तिरिति । तद्वञ्चनार्थं नटवल्लीलां करोतीति स्त्रियो वयं कथं जानीमः । प्रत्युत लज्जाकामाद्यस्मद्दोषहेतुरूपप्राकट्याद्दोषयुक्ताः परं भविष्याम इत्यर्थः ॥१७॥१८॥१९ ।

व्याख्यार्थ – कुन्ती कहती है कि तुमको नमस्कार करती हूँ । यदि आप यह आशङ्का करें कि मैं तेरा भतीजा हूं । भतीजे को नमस्कार करना उचित नहीं है तो वह कुन्ती 'पुरुष आद्यम्' आदि नौ विशेषणों से भगवान् के स्वरूप का निर्देश करती है । आप सब पुर अर्थात् शरीरों में रहने के कारण पुरुष हैं और आद्य (सर्वप्रथम) हैं ईश्वर हैं प्रकृति से परे हैं सब प्राणियों को प्रत्यक्ष नहीं होने वाले हैं । सब प्राणियों के बाहर भीतर वर्तमान हैं । मायारूपी यवनिका (परदे) से ढके हुए हैं । आप इन्द्रियातीत और अव्यय हैं । ऐसे भगवान् का वर्णन करती हुई कुन्ती कहती है कि यद्यपि इस प्रकार के आप मेरी आत्मारूप हैं तो आत्मारूप होने से नमस्कार नहीं करना चाहिये क्योंकि नमस्कार अपने से भिन्न को होता है तो कुन्ती कहती है कि मैं आपको आत्मत्वेन नहीं जानती इसलिए आत्मत्वेन ज्ञान हो इसलिए ही प्रणाम करती हूं । व्यावहारिक दशा में कुन्ती एवं भगवान्

का भूआ एवं भतीजे का सम्बन्ध है । इसलिए प्रणाम करना ठीक नहीं है और दृश्यमान स्वरूप जो मनुष्यत्व क्षत्रियत्व आदि के विचार से नमस्कार करना उचित नहीं है और परमार्थ रूप से कहना भी इसलिए ठीक नहीं है कि परमार्थरूपता का दर्शन नहीं हो रहा है । इस आशङ्का पर कुन्ती जो वर्तमान दृश्य स्वरूप है वह परमानन्दरूप है यह कहती हुई नमस्कार करती है । कुन्ती कहती है कि आप आद्य सबके मूलभूत हैं । अर्थात् बिम्बरूप हैं । जैसे प्रतिबिम्ब बिम्ब का ही स्वरूप होता है उसी प्रकार अखिल ब्रह्माण्ड आप ही का स्वरूप है । यद्यपि अमुक अमुक मत में प्रकृति एवं आकाश आदि को भी आद्य माना है किन्तु उनका ग्रहण यहां नहीं हो इसलिए 'पुरुषम्' पद दिया है । जड़ पदार्थ प्रकृति आदि पुरुष नहीं कहे जाते । अतः वे यहां नहीं लिये गये । पुर शरीर में शयन करने वाला जीव भी हो सकता है । वह न लिया जाय इसके लिए 'आद्यम्' कहा है । जीव मूलभूत पुरुष नहीं है । भगवान् ही मूलभूत है । इस प्रकार का मूलभूत पुरुष सबका कारण है । इसलिए कुन्ती ने भगवान् को पितृरूप बताया । कुन्ती अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए दो रूपों को कहती है । 'ईश्वरम्' 'प्रकृतेः परम्' आप ईश्वर एवं प्रकृति से परे हैं । ऐश्वय युक्त होने से बाहर फल देने वाले हैं और प्रकृति से परे होने से अन्तःफल देने वाले हैं । ऐसे भगवान् को जब सब जान जायेंगे तो सबकी मुक्ति हो जायगी । ऐसी स्थिति में वेदोक्त साधनों के काम न आने से वेद व्यर्थ होंगे । इसलिए कहते हैं कि 'अलक्ष्यं सर्वभूतानाम्' वह भगवान् सब प्राणियों को प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता यदि प्रत्यक्ष दिखाई देता तो सबकी मुक्ति हो जाती । और वेदों का वैयर्थ्य रहता । परन्तु वह प्रत्यक्ष दृश्य नहीं है इसलिए सबकी मुक्ति नहीं हो पाती और वेदोक्त साधन करना भी सार्थक रहता है । जगद्रूप कार्य के द्वारा भी उसका अनुमान नहीं हो सकता । क्योंकि कार्य जगत् एवं कारण ब्रह्म की अग्नि धूम की तरह एकत्र कहीं भी साहचर्य नहीं दीखता । अतएव ब्रह्मादि देवताओं के लिए भी वह अदृश्य है । यहां ब्रह्मादि देवता 'सर्वभूतानाम्' पद से लिये गये हैं । अथवा 'अलक्ष्यम्' का यह अर्थ है कि 'अ' कृष्ण को कहने वाला है अर्थात् भगवान् अपने आप ही जाने जाते हैं । दूसरे से नहीं । तात्पर्य यह है कि वह परत प्रकाश्य न होकर सूर्य की तरह स्वप्रकाश है । जब 'अलक्ष्यम्' में रहे 'अ' का अर्थ गुरु करते हैं तो यह अर्थ होता है कि वह भगवान् गुरु से जाना जाता है । जैसा कि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' से कहा है । आचार्य बनाने वाला ही पुरुष भगवान् को जानता है । और जो आचार्य बनायेगा वही मुक्त होगा । आचार्य वेदों के द्वारा समझा जायेगा । इसलिए वेद की व्यर्थता एव सबकी मुक्ति नहीं हो सकती । अथवा यहां यह भी तात्पर्य हो सकता है कि 'वेदोनारायण साक्षात्' वेद भगवान् का ही रूप है उससे ज्ञात होना स्वप्रकाश्य होना ही है । इसलिए उसके ज्ञानार्थ वेद अपेक्षित होने से वेद व्यर्थ नहीं है और जो आचार्य बनायेगा उसकी ही मुक्ति होगी । सबकी नहीं इसलिए सबकी मुक्ति नहीं हो सकती । जैसा कि 'यस्यामतं तस्यमतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम विजानताम्' 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योप सेचनं क इत्था वेद यत्र सः' साधनान्तर के नहीं होने से दुर्ज्ञेय है यह बात नहीं है किन्तु वास्तव में वह दुर्ज्ञेय ही हैं । इससे भगवान् दुर्ज्ञेय ही हैं तो उसके ज्ञान की प्रार्थना करना व्यर्थ है इस आशङ्का पर कहते हैं कि 'सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम्' भगवान् सब प्राणियों के भीतर बाहर विद्यमान है । वह सर्वत्र है और इसका ज्ञान सुलभ है । परन्तु उस भगवान् को बताने वाला ही दुर्लभ है । क्योंकि सब वस्तु में वस्तु स्वरूप वही है । भगवान् का ज्ञान सुलभ है फिर भी वह नहीं जाना जा सकता ऐसा जो कहा गया है 'अविज्ञातं विजानताम्' 'क इत्था वेद यत्र सः' वह भगवान् विरुद्धधर्मा है यह बताने के लिए है । इसलिए सर्वत्र विद्यमान होने से उसका ज्ञान सुलभ

है। शङ्का होती है कि ऐसी स्थिति में घट आदि की तरह उसका प्रत्यक्ष सबको क्यों नहीं होता इसका उत्तर देते हैं कि 'माया जवनिकाच्छन्नम्' माया ही परदा है उससे वह भगवान् ढका हुआ है अर्थात् सब वस्तु में वस्तु स्वरूप वही है तो भी माया से उसका अन्यथा भान होता है अतः प्रत्यक्ष नहीं होता। कुन्ती कहती है कि मैं भी माया से आवृत्त होने के कारण भगवद्बहिर्मुख हूँ इसलिए मुझे आपका ज्ञान नहीं है। इसी बात को श्लोकस्थ 'अज्ञा' पद से कहा है। आशङ्का होती है कि सभी लोग सर्वत्र भ्रान्त नहीं हो सकते कोई कहीं भ्रान्त हो सकता है। दोषयुक्त इन्द्रियों से ही भ्रम की उत्पत्ति होती है अतः कदाचित् निर्दुष्ट इन्द्रियों से घट की तरह उसे ग्रहण किया जा सकता है। इसका उत्तर देते है कि 'अधोक्षजम्' इन्द्रिय जन्य ज्ञान भगवान् को विषय नहीं बना सकता। जैसा कि 'पराञ्चि खानिव्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यन्ति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षु मृतत्वमिच्छत्' से कहा है। अतः भगवान् के वस्तु स्वरूप होने पर भी वह इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। आशङ्का होती है कि वह भगवान् सब वस्तु में वस्तु स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि सब वस्तु नाश वाली है। यदि वस्तु स्वरूप मान लिया जाता है तो उसका भी नाश मानना होगा और उस भगवान् का नाश तो होता नहीं। अतः उसे वस्तु स्वरूप मानना ठीक नहीं। यदि उसमें कारण पन मान लेते हैं तो कारणत्व आदि स्वरूप सम्बन्ध विशेष है और वह सम्बन्ध स्वरूप द्वय रूप है इसलिए एक के नाश होने पर कारणत्व भी नहीं रह सकता। इसी प्रकार आधारत्व मानने पर आधारत्व नहीं रहता और आधेयत्व मानने पर भी आधेयत्व नहीं रहता इसलिए कहीं उस ब्रह्म का धर्मरूप से और कहीं धर्मीरूप से नाश सम्भव है तो ब्रह्मत्व कैसा? इसका समाधान करते हैं कि 'अव्ययम्' भगवान् सर्वरूप हैं तो भी उसका विनाश नहीं होता। सर्वरूप तथा विनाशी न होना परस्पर विरुद्ध है। परन्तु भगवान् विरुद्ध सर्वधर्म के आश्रय हैं इसलिए सब संगत हो सकता है। अतः निर्दुष्ट पूर्ण गुण श्री अङ्ग वाले आपको नमस्कार करता हूं। यदि आप यह शंका करें कि मूलरूप ही मैं जैसा था तैसा अवतीर्ण हुआ हूं तो मैं तो सर्व प्रत्यक्ष हूँ ऐसी स्थिति में मुझे क्यों नहीं जान सकते। क्योंकि जैसे मैं स्व प्रकाश हूं उसी प्रकार मेरे धर्म भी स्वप्रकाश है तो मेरा धर्म रूप से और धर्मीरूप से अवतार दशा में क्यों नहीं ज्ञान हो सकता इस पर कुन्ती कहती है कि मूढ दृष्टि वालों से आप नहीं देखे जाते। यदि कहें कि मैं प्रत्यक्ष हूँ तो मेरा यथार्थ ज्ञान क्यों नहीं होता? इस पर कहती है कि 'नटो नाट्यधरो यथा' जैसे नट स्त्री रूप को दिखाता है उसके आन्तर रूप को नहीं जानने वाले उसे स्त्री ही समझते हैं पुरुष नहीं जानते। इसी प्रकार नररूप को प्रकट करते हुए आविर्भूत आप भगवद्रूप से नहीं जाने जाते। तात्पर्य यह है कि अवतीर्ण भगवान् को भगवान् है ऐसा नहीं जानते। भगवान् का आविर्भाव सबको अपना स्वरूप समझाने के लिए ही है। यदि स्वरूप समझाना अभीष्ट न हो तो आविर्भाव ही व्यर्थ होता है। अतः आविर्भाव से यह निश्चय है कि भगवान् अपने स्वरूप को समझाना चाहते हैं तो फिर नट की तरह उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं होता यह कैसे कहा। नट की तरह भगवान् प्रतारणा के लिए तथा उनमें रस पैदा करने के लिए प्रकट नहीं होते तो उसका ज्ञान सुलभ है। ऐसी आशंका पर कहते हैं कि 'तथा परमहंसानाम्' भक्तियोग के लिए प्रकट हुए भगवान् अपने पहले वेद और ऋषियों को प्रकट करते हैं उनसे जब साधन सहित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब आगे के कार्य करने के लिए अवतीर्ण होते हैं। वेद और ऋषियों से होने वाले ज्ञान में सन्यास अङ्ग है क्योंकि वह अन्तःकरण की शुद्धि करने वाला है जैसा कि श्रुति में कहा है कि 'सन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' अर्थात् सन्यास योग से यति शुद्ध सत्त्व वाले बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में अन्न आदि जनित

दोष भी नहीं होते। अन्तःकरण शुद्धि होने के अनन्तर मनन होना अङ्ग है। यद्यपि श्रवण के बाद मनन होता है परन्तु श्रवण तो पहले ही हो चुका है। मननोत्तर होने वाले निदिध्यासन से युक्त जो परमहंस है अर्थात् जो एकाग्र चित्त है अथवा भगवान् के निर्धार वाले है ऐसे परमहंसों में शुद्धान्तःकरण होना परमावश्यक है। उन्हीं ज्ञान के अधिकारियों को अथवा जिनको ज्ञान हो गया है उनको ज्ञानार्थ भक्तियोग आवश्यक है। भक्तियोग के बिना न भगवद् ज्ञान हीं हो सकता है और न सायुज्य मुक्ति ही। अतः भक्तियोग प्रकट करने के लिए भगवान् अवतीर्ण होते हैं। श्लोकस्थ 'परमहंसानाम्' में आये हुए हंस शब्द का तात्पर्य यह है कि जैसे हंस नीर क्षीर विवेकी है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ को विवेचन के साथ समझने वाले हैं। परम हंस वे हैं जो केवल आत्मा का ही दर्शन करते हैं। जैसे अभिनय करने वालों के नृत्य को सब देखते हैं किन्तु जो सहृदय है उन्हीं को आनन्दानुभव होता है। नपुंसक एव स्त्रियों को नट के स्त्री रूप में आकर नृत्य करने पर शृंगार रस उत्पन्न नहीं होता। उन्हें उल्टा खेद होता है। वे नपुंसक एवं स्त्रियां यह समझती हैं कि हमारे समान धर्म को प्रकट करके यह हमारी नकल करता है। उसी प्रकार साधारण स्त्री पुरुषों को तथा दैत्यांशों को रस ज्ञान एवं भक्ति उत्पन्न न हो इसलिए वञ्चनार्थ नट की तरह भगवान् लीला करते हैं तो ऐसी स्थिति में हम स्त्रियां आपको कैसे जान सकती हैं। प्रत्युत हम स्त्रियां तो आपके प्राकट्य से लज्जा काम आदि दोषों से युक्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में दोषयुक्त होने पर हम आपको जान ही कैसे सकती हैं ।१७।१८॥१९॥

आभास एवं स्वरूपमुक्त्वा गुणान् वदन्ती सर्वसम्बन्धेन नमस्यति—

आभासार्थ— इस प्रकार कुन्ती स्वरूप का वर्णन कर गुणों को कहती हुई अपने से सब तरह के सम्बन्ध बताती हुई नमस्कार करती है—

श्लोक—**कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।**
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमोनमः ॥२०॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण, वासुदेव, देवकी पुत्र, नन्दगोपकुमार और गोविन्द आदि नामों से कहे जाने वाले आपको बार-बार प्रणाम है ॥२०॥

सुबोधिनी— कृष्णायेति। नाम्ना भ्रातृपुत्रत्वम्। यान्येवाऽनमस्करणीयानि रूपाणि तान्येव भगवान् स्वोद्धारार्थं स्वस्य सर्वसम्बन्धान् पुरस्कृत्याऽवतीर्ण इति ज्ञाते नमस्करणीयानि भवन्ति। यथा महतः प्रक्षीणदशायां सेवकत्वेन लज्जया नमस्कारं करोति लोकः। न तु सेवकं मन्यते। **कृष्णायेति** वा मूलरूपस्याऽनुवादः। मूलमनूद्य हि सम्बन्धनिरूपणे नमस्करणीयो भवति। **वासुदेवायेति** भ्रातृपुत्रत्वम्। भ्रातृनिरूपणेन भ्रातरं मोचयन् तद्भगिनीमपि मोचयेदिति। तथा **देवकीनन्दनायेति** देवकीं मोचयन् तन्ननान्दरमपि मोचयेदिति। चकारात्पितृभामकं मोचयन् तत्पत्नीमपि मोचयेदिति। पाण्डवप्रियायेति नमस्करणीयं रूपम्। तथा दूरसम्बन्धेऽपि मोचयेदिति वसुदेवमित्रसम्बन्धमाह— **नन्दगोपकुमारायेति**। कुमारः पालकपुत्रः। स्कान्दे तथोपलब्धेः। गोपसम्बन्धेनाऽपि मोचयेदिति गोपपदम्। सन्मार्गवर्त्तिनां सर्वेषामेव सर्वाभीष्टप्रद इति गवामिन्द्राय। "**इन्द्रं नस्त्वाऽ-**

भिषेक्ष्याम"इति वचनात् । गोविन्दायेति । निगमादस्य पदस्य सिद्धिः । निगमनिरुक्तव्याकरणैर्वा पदसिद्धिः । "**गोविन्द इति चाऽभ्यधादि**"ति निगमस्थानीयम् । वसतीवरीवत् । नमनद्विरुक्तिरादरात् । अनेन सम्बन्धमोचकत्वं गुणोऽप्युक्तः । २०॥

व्याख्यार्थ—कृष्ण नाम से कुन्ती अपने भाई का पुत्र बता रही है । भगवान् तथा कुन्ती का सम्बन्ध ऐसा है जिससे श्लोक में बताये गये रूप नमस्करणीय नहीं हैं क्योंकि श्लोक के पदों से भगवान् को भतीजा बताया गया है परन्तु जब भगवान् अपने निज जनों के उद्धार के लिए सब सम्बन्धों को रखकर अवतीर्ण होते हैं । ऐसा ज्ञान होने पर श्लोक में बताये गये स्वरूप भी नमस्करणीय हो जाते हैं । अज्ञान दशा में नमस्करणीय नहीं होता इसमें दृष्टान्त देते हैं जैसे पहले महान रहा हो फिर क्षीण दशा में आ गया हो तो पूर्व में सेवक रहा व्यक्ति उसकी क्षीण दशा में भी लज्जा से नमस्कार करता है किन्तु अपने आपको सेवक नहीं मानता । वैसे ही मूल रूप भगवान् जब अवतीर्ण होते हैं । वैसी क्षीण दशा में लोग अपने को अवतीर्ण हुए भगवान् का सेवक नहीं मानता किन्तु नमस्कार करता है क्योंकि मूल रूप का अवतार लेना क्षीण दशा को बताता है ऐसा मानने पर सत्त्वोपाधिक वासुदेव मूलरूप माना जाता है किन्तु सगुण होने से वह मूलरूप नहीं हो सकता । इस अरुचि से कृष्ण को पहले मूलरूप बताती है । मूल कहकर उसी के सम्बन्ध का जब निरूपण किया जाता है तो नमस्करणीय होता है क्योंकि मूलरूप नमस्करणीय है और वही अवतार दशा में सम्बन्धी होता हुआ भी नमस्करणीय हो सकता है कुन्ती ने 'वासुदेवाय' यह कहकर वसुदेव जो मेरा भाई है उसके आप पुत्र हैं इस पद से यह संकेत करती है कि जैसे आपने भाई वसुदेवजी को विपत्ति से छुड़ाया वैसे ही उनकी बहिन मुझको भी छुड़ावें इसी प्रकार 'देवकीनन्दनाय' यह कहकर कुन्ती यह सूचित करती है कि जैसे देवकी को दुःखों से मुक्त किया वैसे ही देवकी की ननद मुझको भी दुःखों से मुक्त करेंगे । श्लोक में च' पद है उससे फूफा पाण्डु लिया गया अर्थात् पाण्डु को जैसे विपत्ति से छुड़ाया इस प्रकार मैं जो उसकी पत्नी हूं उसे भी छुड़ायेंगे । पाण्डव प्रिय होना नमस्करणीय रूप है आप यदि अपने को नन्द तनय समझ दूर का सम्बन्ध माने अर्थात् मैं वसुदेव की बहिन हूँ और नन्द वसुदेवजी के मित्र हैं ऐसी स्थिति में दूर सम्बन्ध होने पर भी मेरी आप रक्षा कर सकते हैं इसी बात को 'नन्दगोपकुमाराय' पद से कहा । यहां कुमार का अर्थ आत्मज नहीं है किन्तु पालन करने वाले जो नन्द हैं उनके पुत्र ऐसा अर्थ है । तात्पर्य यह है कि नन्द आपके पालक पिता हैं जनक नहीं, कुमार पद से ऐसा अर्थ लेने में स्कन्द पुराण प्रमाण है । जैसे कार्तिकेय स्वामी महादेव से पैदा नहीं हुए हैं तो भी वे महादेव के कुमार कहलाते हैं उसी प्रकार आप भी पालक पुत्र होने से नन्द के कुमार कहलाते हैं। मेरा नन्द गोप से परम्परा सम्बन्ध है इसलिए भी आप मेरी रक्षा कर सकते है, इसी बात को बताने के लिए गोप पद दिया है । जो सन्मार्ग में चलने वाले सभी को सम्पूर्ण अभीष्ट देते है इसलिए आप गाय आदि के इन्द्र हैं । इसी बात को इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामः' हम आपको इन्द्र बनाना चाहते हैं । ये कामधेनु के वाक्य हैं । गायों का इन्द्र इस अर्थ वाला गोविन्द शब्द श्लोक में दिया गया है । यद्यपि इस अर्थ वाला यह शब्द व्याकरण से नहीं बनता । परन्तु निगम से इसकी सिद्धि कर लेनी चाहिये । निगम, निरुक्त और व्याकरण इन तीनों से पद की सिद्धि होती है । 'गोविन्द इति चाभ्यधात्' यहां का गोविन्द पद भी निगम से सिद्ध हुआ है । जैसे जलवाची 'वसतीवरी' शब्द निगम से सिद्ध किया गया है वैसे ही यहां समझना । आदर बताने के लिए 'नमोनमः' से दो बार नमन किया है । कुन्ती कहती है कि

जिसके आप सम्बन्धी होते हैं उसको आप संसार से मुक्त कर देते हैं यह आप में गुण है यह कहा ।।२०।।

आभास—गुणान्तरमाह—

आभासार्थ– अब दूसरे गुणों को कहते हैं—

श्लोक— **नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।**
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ।।२१।।

श्लोकार्थ—जिनके नाभि में कमल है, जो कमल की माला धारण किये हुए हैं और जो कमल नेत्र हैं तथा कमल के समान जिनके चरणारविन्द हैं ऐसे भगवान् को नमस्कार करती हूं ।।२१।।

सुबोधिनी—नमः पङ्कजनाभायेति । जगत्कारणत्वभूषितत्वकृपाश्रयत्वसुखसेव्यत्वगुणैर्नमस्यति । नमनं हि स्वरूपे गुणे वा । न लीलादौ । रसावेशात् । पङ्कजं नाभौ यस्येति ब्रह्मापितृत्वम् । **पङ्कजमालिन** इति लक्ष्मीपतित्वम् । सा हि विवाहे नवपङ्कजमालां प्रक्षिप्तवती । **पङ्कजनेत्रायेति** सर्वपतित्वम् । वश्यतासम्पादकत्वेनाऽमृतवर्षणाद्वा । **पङ्कजाङ्घ्रय** इति भक्तिप्रवर्तकाय । सर्वजनकत्वेन सर्वमुत्पाद्याऽपि प्रयच्छेत् । ऐहिकामुष्मिकं प्रयच्छति भक्तिं चेति गुणाः । २१।।

व्याख्यार्थ—श्लोकस्थ 'पङ्कजनाभाय' पद से भगवान् को जगत् का कारण बताया । 'पङ्कजमालिने' पद से भूषित बताया । 'पङ्कजनेत्राय' से कृपा का आश्रय बताता । 'पङ्कजाङ्घ्रये' से सुख सेव्य बताया । अर्थात् जगत्कारणत्व भूषितत्व कृपाश्रयत्व सुख सेव्यत्व गुणों से कुन्ती भगवान् को नमस्कार करती है । नमस्कार स्वरूप को अथवा उसके गुणों को किया है । लीला आदि को नहीं । लीला आदि के अनुभव में रसावेश होने से देहानुसन्धान आदि के न रहने के कारण नमन नहीं बन सकता । 'पङ्कजनाभाय' का अर्थ यह है कि कमल है नाभि में जिसके अर्थात् ब्रह्मा के पिता रूप आपको नमस्कार है । 'पङ्कजमालिने' का अर्थ है कमल की माला है जिसके अर्थात् आप लक्ष्मी के पति हैं । लक्ष्मी ने विवाह के समय नवीन कमलों की माला को भगवान् के गले में डाला था इसलिए 'पङ्कजमालिने' पद से लक्ष्मीपति सूचित हुआ । 'पङ्कजनेत्राय' का अर्थ है कमल के समान जिनके नेत्र हैं । भगवान् जब प्रसन्न होते हैं तब उनके नेत्र कमल के समान विकसित होते हैं । इससे यह भी सूचित हुआ कि भगवान् सबके पति हैं जैसा कि विष्णु को पुण्डरीकाक्ष कहकर लौगाक्षिगृह्य में 'विष्णवे सर्वाधिपतये स्वाहा' से सबके अधिपति बताये हैं । इसलिए भगवान् को पति बताना ठीक है परन्तु ऐसे अर्थ करने में कल्पना करना पड़ता है इससे क्लेश होता है अतः 'वश्यतासम्पादकत्वेनामृतवर्षणाद्वा' के द्वारा प्रकारान्तर से भगवान् को सबका पति बताया है । आप सबके पति हैं पति वश में करता है और अमृत की वर्षा करता है । आप जब-जब भी पङ्कजनेत्र वाले दिखाई देते हैं तब भक्तों को वश में करते हैं और अमृत की वर्षा करते हैं । इस तरह आप पति के कार्य को करते हैं इसलिए आप सबके पति हैं 'पङ्कजाङ्घ्रये' का अर्थ है कमल के समान जिनके चरणारविन्द हैं । चरणारविन्द कमल की तरह सुख सेव्य होने से अथवा आपके

चरणारविन्द की सेवा में सुखानुभूति होती है इसलिए आप भक्ति के प्रवर्तक हैं 'पङ्कजनाभाय' से बताया कि आप सबके जनक हैं इसलिए सभी वस्तु का नवीन रूप से उत्पन्न करके भी दे सकते हैं। अर्थात् ऐहिक लक्ष्मी प्राप्ति आदि और पारलौकिक फल तथा भक्ति आप दे सकते हैं ये आपके गुण हैं ।।२१।।

आभास लीलामाह त्रिभिः—

आभासार्थ—तीन श्लोकों से भगवान् की लीला का वर्णन करती है—

श्लोक—**यथा हृषीकेश खलेन देवकी कंसेन रुद्धाऽतिचिरं शुचाऽर्पिता ।**
विमोचिताऽहं च सहाऽऽत्मजा विभो त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ।२२।

श्लोकार्थ—हे हृषीकेश ! हे इन्द्रियों के नियामक ! दुर्जन कंस से जेल में रोकी गई बहुत काल से शोकयुक्त अपनी माता देवकी को शोक से तथा बन्धन से छुड़ाया । हे विभो ! पुत्र सहित मुझे तो स्वयं नाथ बनकर आपने विपत्तियों के समुदाय से बार-बार मुक्त किया ।।२२।।

सुबोधिनी – यथेति । मुख्या लीला – **हृषीकेशेति** । सर्वेषामिन्द्रियाणां नियामकत्वेन भर्तृवद्रमणात्त्वत्तः सर्वेन्द्रियप्रीतिमनुभूय तद्रसाभिनिविष्टाः के वा न **नमेयुरित्यर्थः** । किञ्च । तवैषा महती लीला मातरं पितरं च खलेन बन्धनं कारयित्वा बहुकालं दुःखानुभवं च कारयित्वा पश्चान्मोचयसीति । अतस्तदपेक्षया वयमेव कृतार्था इति तवैषा लीला वक्तुमप्यशक्या । भक्तमोचकत्वस्य गुणत्वेऽपि लीलां गुप्तां कृत्वा गुण एव तथात्वेन वक्तव्यः । **यथा – खलेन** कंसेन देवकी रुद्धा सती त्वया विमोचिता । अतिचिरं शुचाऽर्पिताऽपि विमोचिता । शोकमपि दूरीकृतवान् । तथाऽहञ्च । चकाराद्यशोदादयोऽपि । मयि पुनर्विशेषोऽप्यस्तीत्याह । **सहाऽऽत्मजा** । अनेन ममाऽऽत्मजा अपि मोचिताः । तस्यास्तु भवानेवाऽऽत्मज इति नाऽऽत्मजान्तरापेक्षा । अथवा । तस्या बहवः पुत्रा मारिता मम त्वेक एवेति तद्विपरीतत्वं मयि । कथमेवं करणम् ? तत्राऽऽह—**विभो इति** । हे सर्वकरणसमर्थ । किञ्च । **त्वयैव नाथेन** । त्वमेव नाथो भूत्वा मोचयसि । अथवा । नाथेन सह सा मोचिता । अत्र तु तदभावात्त्वमेव नाथ इत्यर्थः । तव नाथभवननाथमोचनयोराद्य एव श्रेयानित्यहमुत्तमा । लीलायां विपरीतकथनमप्युत्तमम् । किञ्च । मुहुः सा न मोचिता । किन्तु वारद्वयमेव । अहं तु बाल्यादारभ्य वारं वारं मोचितेति । किञ्च । **विपद्गणात्** । विपदां समूहात् । एकस्यामापदि गणशो ह्यन्या आपदः समायान्ति । ता भारते प्रसिद्धाः ।।२२।।

व्याख्यार्थ—'हृषीकेश' पद से मुख्य लीला कही । यहां ऋषीक पद से इन्द्रियां और ईश पद से नियामक लिया गया है । अर्थात् आप सब इन्द्रियों के नियामक होने से भर्ता की तरह इन्द्रियों को आनन्द देते हैं । आपके दर्शन आदि से सम्पूर्ण इन्द्रियों की प्रीति का अनुभव कर उस रस में अभिनिविष्ट हुए कौन आपको नमस्कार न करे । आपकी कौतुक पैदा करने वाली लीला होने से वह दुर्लभ है । जैसे कि माता और पिता का दुर्जन कंस के द्वारा बन्धन कराकर और बहुत समय

तक दुःखानुभव कराकर पीछे उन्हें मुक्त कराया। अतः देवकी वसुदेवजी की अपेक्षा हम ही कृतार्थ हैं। इस प्रकार की आपकी लीला का कथन भी अशक्य है। ऊपर प्रतोक में तीन श्लोको से लीला का वर्णन करती है ऐसा कहा है तो श्लोक में 'विमोचिता' से भक्त मोचकत्व जो बताया गया है वह तो गुण है लीला नहीं फिर इस श्लोक से लीला का वर्णन कैसे हुआ तो कहते हैं कि भगवान् में भक्त मोचकत्व गुण है तो भी लीला को गुप्त रखकर गुण ही उस रूप में कहे गये हैं। अर्थात् गुणों से गुप्त रूप में लीला का ही वर्णन किया है। जैसे खल कंस से जेल में बन्द रही देवकी को आपने छुड़ाया और बहुत काल तक शोकयुक्त थो उसे बन्धन एवं शोक से भी मुक्त किया। कुन्ती कहती है कि इसी प्रकार मुझे भी शोकमुक्त किया। श्लोकस्थ 'च' से यशोदा आदि भी लो गई अर्थात् उन्हें भी दुःख से मुक्त किया। मेरे में उनकी अपेक्षा विशेषता है। मैं अपने पुत्रों सहित विपत्तियों से मुक्त की गई अर्थात् मुझे और मेरे पुत्रों को भो आपने बचाया। देवकीजी के तो आप ही ऐसे पुत्र हैं जिससे उसे दूसरे पुत्रों की अपेक्षा नहीं है इसलिए आत्मज सहित देवकी को छुड़ाया इस आशय से 'सहात्मजा' देवकी का विशेषण नहीं हो सकता। क्योंकि भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई पुत्र उनके नहीं था। जिसको कि आप दुःखों से मुक्त करते। अथवा कुन्ती के कहने का तात्पर्य यह है कि उस देवकी के बहुत से पुत्र मरवा डाले और मेरे एक ही पुत्र कर्ण को मरवाया। अतः देवकी से मेरे में विपरीतता है अर्थात् देवकी के एक हो पुत्र आप रहे और मेरे एक ही पुत्र को मरवाया। इस पर कहते हैं कि इस प्रकार क्यों किया? इसका उत्तर कुन्ती देती है कि आप विभु हैं अर्थात् सब कुछ करने में समर्थ हैं। इसलिए इस रूप में भो कार्य कर सकते हैं। जिनका स्वामो नहीं है उसके आप हो स्वामी बनकर दुःखों से छुड़ाते हैं। देवकी के पक्ष में 'नाथेन' पद के आगे सह लगाकर अपने पति (वसुदेवजी) के साथ देवकी को बन्धन एवं शोक से मुक्त किया। कुन्ती के पक्ष में यह अर्थ है कि आप ही ने नाथ होकर मुझे बचाया। देवकी के तो वसुदेवजी नाथ (स्वामी) थे और मेरे पति पाण्डु के न रहने से मैं अनाथ थो। इसलिए आपने मेरे नाथ बनकर मुझे मुक्त किया। नाथ (स्वामी) वसुदेवजी को छुड़ाने की अपेक्षा भगवान् का नाथ (स्वामी) होना ही अच्छा है। तात्पर्य यह है कि देवकी के पति वसुदेवजी को बन्धन से मुक्त किया किन्तु स्वयं पर आपने इतनी जुम्मेवारी नहीं ली और मेरे तो नाथ बनकर मेरी सभी जुम्मेवारी आपने ले ली। इससे देवकी की अपेक्षा मैं उत्तम हूँ। यह भगवल्लीला है। लीला में विपरीत कहना भी अच्छा होता है। एक बात यह भी है कि वह देवकी बार-बार नहीं छुड़ाई गई किन्तु दो बार ही छुड़ाई गई। मुझे तो बाल्यकाल से लेकर बार-बार मुक्त किया। एक आपत्ति में अनेक आपत्तियां आई उन सब आपत्तियों से आपने मुझे बचाया। एक आपत्ति से नहीं किन्तु आपत्तियों के समुदाय से मेरी रक्षा की। आपत्तियां क्या आई यह महाभारत में प्रसिद्ध हैं ॥२२॥

आभास—ता आपदो गणयति—

आभासार्थ—उन आपत्तियों को गिनाती है—

श्लोक—**विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शनादसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः ।**
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो द्रौण्यस्त्रतश्चाऽऽस्म हरेऽभिरक्षिताः ॥२३॥

श्लोकार्थ—भीमसेन को दिये गये विष के लड्डुओं से तथा सर्प के जहर से लाक्षागृह की महान् अग्नि से हिडिम्ब आदि राक्षसों के सामने आने पर उनसे दुष्ट दुर्योधन आदि की सभा से वनवास में होने वाले दुर्वासा आदि के कष्टों से प्रत्येक युद्ध में अनेक महारथियों के अस्त्रों से तथा अश्वत्थामा से चलाये गये ब्रह्मास्त्र से हे हरे ! आपने चारों ओर से रक्षा की ।।२३।।

सुबोधिनी—**विषादित्यादि** । भगवत्त्वेन सर्वकर्तृत्वाद्विषादावपि मोचकत्वमुक्तम् । **विषात्** । विषमोदकात्सर्पविषाच्च । **महाऽग्निर्लाक्षागृहे** । हिडिम्बादयः **पुरुषादाः** । तेषां दर्शने जातेऽपि रक्षिताः । **असत्सभायाः** । द्रौपदीनिग्रहेऽम्बरकेशाकर्षणादौ । **वनवासकृच्छ्रतः** । द्रौपदीहरणदुर्वासः-प्रभृतीनां कृच्छ्रत इति (?) वनेऽपि राज्यैश्वर्यदानात् । तदनु **मृधे मृधे** गोग्रहणमारभ्याऽद्यावधि यावन्तः सग्रामा जाताः । अनेके महारथा भीष्मादयः । **तेषां ब्रह्मास्त्रादिभ्यः** । भगदत्तकर्णादीनां त्वप्रतीकार्यता । भगवद्रक्षा च तत्रैव सिद्धा । सा रक्षा न प्रार्थनया । बाधकस्वरूपाज्ञानात् । अत आह—**हरे इति** । हे हरे ! अभितो रक्षिताः स्मः ।।२३।।

व्याख्यार्थ—भगवान् सब कुछ कर सकते हैं इसलिए कुन्ती ने विष देना आदि से हमें मुक्त किया ऐसा कहा । श्लोकस्थ 'विषाद्' पद का विष के लड्डुओं से (जो भीमसेन को दिये गये थे) और सर्प के विष से छुड़ाना अभिप्रेत है लाक्षागृह में लगी महा अग्नि से हिडिम्बादि राक्षसों से उनके सामने आने पर भी रक्षा की । द्रौपदी को वश में लाने के लिए वस्त्र और केश को खींचने आदि दुष्कृत्य जिसमें हो रहे थे ऐसी असत्सभा से द्रौपदी के हरण से तथा दुर्वासा के आने से जो वनवास में दुःख उत्पन्न हुआ उससे वन में भी राज्य का ऐश्वर्य देकर रक्षा की । अनेक बार हुए युद्ध में गायों के चुराने से लेकर आज तक जितने भी संग्राम हुए हैं उनमें महारथी भीष्म आदि से चलाये गये ब्रह्मास्त्र आदि से भगदत्त कर्ण आदि ऐसे वीर थे जिनका प्रतीकार नहीं हो सकता था उनसे आपने रक्षा की । वह रक्षा भी हमारी प्रार्थना पर नहीं । क्योंकि बाधक जो थे उनका स्वरूप ज्ञान हमें नहीं था इसलिए हमने कोई प्रार्थना नहीं की । आप स्वयं हरि हैं अर्थात् सब दुःखों को हरण करने वाले हैं इसलिए चारों ओर से आने वाली आपत्तियों से हमें बचाया ।।२३।।

आभास—एवं नानाविधलीलया भगवत्कृतां रक्षां प्रतिपाद्य लीलयाऽद्भुतकर्मत्वं वक्तुं रक्षापेक्षया आपद एव समीचीना इति क्षुधितस्याऽन्नभोजनजन्यसुखवद्विपत्पीडितानां भगवद्दर्शनानन्दो दुर्लभ इति लोकानां विपदामनिष्टत्वेऽपि भक्तानामिष्टसाधनत्वात्ताः प्रार्थयते—

आभासार्थ—इस प्रकार नाना प्रकार की लीला से भगवान् से की गई रक्षा का वर्णन कर लीला से वह अद्भुत कर्म करता है ऐसा कहने के लिए सुरक्षित रहने की अपेक्षा आपत्तियां ही अच्छी हैं यह कहने के लिए भूखे को अन्न भोजन से होने वाले सुख की तरह विपत्ति से पीड़ितों को भगवान् के दर्शन का आनन्द दुर्लभ है अतः लोगों को विपत्तियां अनिष्ट हैं तो भी भक्तों के लिए वे विपत्तियां इष्ट साधन करने वाली हैं इसलिए कुन्ती उन विपत्तियों को चाहती है—

श्लोक—**विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।**
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे जगद्गुरो! जहाँ-जहाँ मैं रहूं या जाऊ वहाँ-वहाँ मेरे पर विपत्तियाँ आती रहें जिससे कि पुनर्जन्म को मिटाने वाले आपके दर्शन होते रहें ॥२४॥

सुबोधिनी - विपद इति । एषा भगवतो विपरीतलीला । आपत्सु परमानन्दं प्रयच्छति तदभावे परमानन्दतिरोभावं करोतीति । **तत्र तत्र यत्रैव स्थीयते गम्यते च ।** ननु कथमेवं निर्द्धारः क्रियते विपद एव सन्त्विति । कुतः शिक्षितमेतत् ? **तत्राऽऽह—जगद्गुरो इति ।** त्वत्त एवैतच्छिक्षितं यद्विपदः समीचीना इति । अन्तर्यामितया प्रेरणाद्बहिरप्युपपत्तिदर्शनाच्च । यथा सर्वप्राणिनाम् । शिक्षितप्रकारमाह - **भवतो दर्शनं यत्स्यादिति ।** याभ्यो विपद्भ्यो दर्शनं यस्य ?)स्यात् । तत्रैव फलरूपदर्शनान्वयव्यतिरेकाभ्यामिदमवगतम् । न विद्यते पुनर्भवस्य दर्शनं यस्मात् । पुनः शरीरं न पश्येदित्यर्थः । अथवा । अपुनर्भवानां जीवन्मुक्तानां दर्शनं यस्मात् ॥२४॥

व्याख्यार्थ– यह भगवान् की विपरीत लीला है कि आपत्तियों में वह परमानन्द को देती है और आपत्ति के न होने पर परमानन्द रूप आपको तिरोहित कर देती है । कुन्ती कहती है कि जहां मैं ठहरू और चलूं वहां वहां मेरे पर विपत्तियां हों । यदि आप (भगवान्) यह आशङ्का करें कि यह निर्णय तुमने कैसे किया कि विपत्तियों का होना ही ठीक है और ऐसी यह शिक्षा कहां से ली इस पर कुन्ती कहती है कि आप जगद्गुरु हैं आपसे ही यह सीखा है कि विपत्तियां अच्छी होती हैं । आपने अन्तर्यामी रूप से ऐसी ही प्रेरणा दी है कि विपत्तियां ठीक हैं । और बाहर भी युक्तियों से हम जानती हैं कि विपत्तियां अच्छी हैं जैसा कि सब प्राणियों में देखा जाता है । आपने किस रूप में विपत्तियां अच्छी हैं यह शिक्षा दी इस प्रकार कहती है कि जिन विपत्तियों से आपके दर्शन होते हैं । जब विपत्तियां होती हैं तब फलरूप दर्शन होते हैं और जब विपत्तियां नहीं होती तब दर्शन नहीं होते इस रूप के अन्वय व्यतिरेक से मैंने ऐसा समझा है । आपके दर्शन से पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् वह दूसरे शरीर को नहीं देखता । अथवा जब आप दर्शन देते हैं तब आपके साथ आये जीवन्मुक्तों के भी दर्शन हो जाते है इसलिए विपत्तियां अच्छी हैं और वे मेरे ऊपर होवें ।२४।

आभास—एवमद्भुतलीलामुपपाद्य दुष्टदुर्ज्ञेयत्वमाह चतुर्भिः—

आभासार्थ—आप आपत्ति में परमानन्द देते हैं और आपत्ति नहीं होने पर परमानन्द का तिरोभाव कर देते हैं यही आपकी अद्भुत लीला है इस प्रकार अद्भुत लीला का उपपादन कर भगवान् दुष्टों से दुर्ज्ञेय हैं यह बात चार श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।**
नैवाऽर्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—सत्कुल में जन्म, राज्यादि का ऐश्वर्य, शास्त्र श्रवण एवं लक्ष्मी से जिसका मद बढ़ गया है ऐसा व्यक्ति अकिञ्चनों को प्रत्यक्ष होने वाले आपके नामों का उच्चारण नहीं कर सकता ॥२५॥

सुबोधिनी—जन्मैश्वर्येति । भगवतो हि नवप्रकारा धर्मा ज्ञेया नवविधभक्तिहेतव स्वरूपगुणादिप्रकारेण भिन्नाः । तत्र स्वरूपे ज्ञाते श्रवणं भवति । गुणेषु ज्ञातेषु कीर्तनं भवति । लीलायां ज्ञातायां स्मरणम् । एवमेकः खण्डः । द्वितीयखण्डे समीपगमने पादसेवनपूजनवन्दनदास्यानि । तृतीये सख्याऽऽत्मनिवेदने । तत्र दुष्टदुर्ज्ञेयत्वादीनां तत्र तत्र कारणतामुपपादयिष्यामः । तत्र प्रथमं यावद्दुष्टदुर्ज्ञेयता न ज्ञायते तावद्दुष्टानां बाधककायवाङ्मनोव्यापाराणां दर्शनाद्भगवत्समीपं न गच्छेत् । ज्ञाते तु पुनरन्धो न पश्यतीति चक्षुष्मताऽपि न द्रष्टव्यमितिवदस्नद्बुद्धीनां बाधप्रतीतिरिति द्वितीये खण्डे प्रवर्तेत । अतः पादसेवनार्थं दुष्टदुर्ज्ञेयत्वं निरूप्यते । तत्र जन्म सत्कुले । ऐश्वर्यं राज्यादौ । श्रुतं शास्त्रादौ । श्रीः सम्पत् । एताभिरेधमानो मदो यस्य । अयमर्थः । यथा ताण्डुलादेरोदनद्वारा पितृदेवमनुष्यादीनां तृप्तिजनकत्वेनाऽमृतत्वेऽपि मदापेक्षिणां स्वमलत्वेन पर्यवसानान्मदजनकत्वं भवति । न हि तावता अन्नोद्भवमिति पेयं भवति । तथा दैत्यांशानां गर्वाकांक्षिणां सत्कुलोत्पत्तौ तत्कुलस्य मलत्वेन पर्यवसान्मादकत्वम् । तथा सति सत्कुलोत्पन्न इति न तस्य संग्रहः कर्तव्यः । एवमुत्तरत्राऽपि । इममेवाऽवान्तरभेदं पुरस्कृत्य **"विद्यामदो धनमद"** इति वाक्यं प्रवृत्तम् । **पुमानिति** स्वातन्त्र्येण गुरुभिरनियम्य इत्युक्तम् । अत एव त्वामभिधातुं नाऽर्हति । यथा पूर्वं ब्राह्मणोऽपि जात्यन्तरमापन्नो मदिरामत्तो वेद पठितुं नाऽर्हति । पठनेऽप्युन्मत्तप्रलपितमेव तन्न श्रोतव्यम् । यद्यपि भक्तौ सर्वेऽधिकारिणस्तथापि कृत्रिममदिरादिसम्बन्धे वेदाधिकाराभाववन्मादकस्य (?) न भगवच्छब्दोच्चारणाधिकारः । अतस्तदाचारान्न काचिद्व्यवस्था । ननु **"जन्मकर्मविदातानामि"**ति वेदाधिकारोक्तेस्तादृशस्य वेदानधिकारो भवतु नाम । भगवतः पुनः सर्वात्मकत्वात्—**"चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेदि"**ति स्मृतेश्च **"पतितः स्खलित"**इति वाक्याच्च महापातकिनोऽपि प्रायश्चित्तत्वेनोक्तत्वाच्च कथं मत्तस्य नाऽधिकार इति चेत् ? तत्राऽऽह—**अकिञ्चनगोचरमिति** । अकिञ्चनाः पूर्वोक्तधर्मरहितास्तेषां गोचरो गम्यः । अयमर्थः । न तादृशस्याऽधिकार इति न स्वरूपतोऽधिकारो निवार्यते । किन्तु फलतः । भगवानेव हृदये नाऽऽयाति । भगवद्गुणाश्च मुखे आगच्छन्तोऽपि व्यवहारत्वेनाऽऽगच्छन्ति । शौचे गङ्गाजलवत् । अकिञ्चनगोचरस्वभावत्वात् । अद्याऽपि लोके सर्वे सम्भाष्यन्ते न मत्ताः । अतस्तेषु कदाचिदपि भगवत्सान्निध्याभावादनधिकार इत्युक्तम् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—स्वरूप गुण लीला आदि दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व लक्षणैः इस कारिका में भगवान के नौ प्रकार के धर्म बताये है वे नौ प्रकार के धर्म श्रवण कीर्तन आदि नौ प्रकार की भक्ति के कारण है । भगवान् का स्वरूप ज्ञान होने पर श्रवण होता है । गुणों के जानने पर कीर्तन होता है । लीलाओं के जानने पर स्मरण होता है । इस प्रकार स्वरूप, गुण, लीला के भेद से श्रवण, कीर्तन, स्मरण से एक खण्ड हुआ । पाद सेवन, पूजन, वन्दन, दास्य यह दूसरा विभाग है । पाद सेवन आदि भगवान् के समीप जाने पर होते है । तीसरे खण्ड में सख्य और आत्म निवेदन है सख्य और आत्म निवेदन में दीनता जाती रहती है इसलिये यह तीसरा खण्ड है । अर्थात् श्रवण, कीर्तन, स्मरण यह नवधा भक्ति का एक खण्ड है । पाद सेवन, पूजन, वन्दन, दास्य ये चार भक्ति का द्वितीय खण्ड है । तीसरे खण्ड में सख्य और आत्म निवेदन है । पाद सेवन आदि में दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व आदि जो उक्त कारिका में कहे गये हैं वे कारण है यह बात उन उन श्लोकों में कही जायेगी । पहले वहां जब तक दुष्ट दुर्ज्ञेयता न जानी जाय तब तक दुष्टों के(दोष युक्तों के) भक्ति में बाधक जो काय, वाणी, मनो व्यापार है उनके दीखने से भगवान् के पास वे नहीं जाय । जब उनका दुष्ट

दुर्ज्ञेयत्व जान लिया जाय तो यदि अन्धा नहीं देखता है तो क्या नेत्रवाले को भी उसे नहीं देखना चाहिये इसकी तरह हमारी बुद्धि में बाधक की प्रतीति होगी तो हम उसे हटाकर समीप जायेंगे और पाद सेवन, पूजन, वन्दन, दास्य में प्रवृत्त होंगे। इसलिये पाद सेवन के लिये दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व का निर्णय करते है। अर्थात् नीचे बताये हुए जन्म, राज्यादि का ऐश्वर्य, शास्त्र आदि का सुनना तथा लक्ष्मी के मादक होने पर भगवान् नहीं जाने जाते। सत्कुल में जन्म, राज्यादिका ऐश्वर्य, शास्त्र आदि का सुनना तथा सम्पत्ति से जिसका मद बढ गया है वह श्रवण कीर्तन आदि का अधिकारी नहीं है। अभिप्राय यह है कि जैसे चावल आदि के ओदन रूप में परिणत हो जाने पर पितृदेव और मनुष्य आदि के तृप्ति जनक होने से उस ओदन में अमृत रूपता है किन्तु जो उससे मद (नशा) चाहते है वे उसे मल रूप में परिणत करते है तो वह चावल मद जनक बन जाते है। इससे यह नहीं होता कि वह आसव हविज्यान्व से उत्पन्न है इसलिये पीने योग्य हो। उसी तरह मदाभिलासी दैत्य के अंश से उत्पन्न होने पर भी मद होने से वह कुल मदरूप (आसवरूप) बनने से मादक हो गया। ऐसी स्थिति में सत्कुल से उत्पन्न हुआ भी संयाह्य नहीं होता। क्योंकि वह मद युक्त है। जैसे चावलों का आसव (इसी प्रकार ऐश्वर्य शास्त्र श्रवण एवं लक्ष्मी में भी समझना) अर्थात् इनसे यदि मद हो जाय तो भगवन्नाम लेने का अधिकारी नहीं होता। इसी अवान्तर भेद को लेकर अर्थात् मादक होने पर (विद्यामदो धनमदः) इत्यादि वाक्य प्रवृत्त होते है। श्लोकस्थ, प्रमान) का तात्पर्य स्वतंत्र होने से अर्थात् पुरुष होने से स्वतंत्र होने के कारण गुरु आदि से भी नियम्य नहीं है अर्थात् गुरु भी उसे अच्छे मार्ग पर नहीं ला सकता। मदवाला है इसलिये हे भगवन्! यह आपका नामोच्चारण करने का अधिकारी नहीं रहता जैसे पहले ब्राह्मण होते हुए भी म्लेच्छ आदि के रूप में हो जाने पर मदिरा आदि के सेवन से मत्त हुआ वह वेद नहीं पढ़ सकता। पढ़ता भी तो उन्मत्त प्रलाप की तरह व्यर्थ होने से सुनने योग्य नहीं है। यद्यपि वेद पढ़ने में अमुक अमुक का ही अधिकार है किन्तु भक्ति में सबका अधिकार है तथापि उक्त कृत्रिम मदिरा आदि के सेवन में वेद पढ़ने का अधिकार नहीं होता इसी तरह जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्रश्रवण तथा लक्ष्मी से मत्त होने पर भगवत्संबंधी नाम आदि के उच्चारण का अधिकार नहीं रहता अतः मत्त के आचरण को कोई प्रमाणिक समझकर तदनुसार आचरण नहीं करता। शंका करते है कि जन्म एवं कर्म से जो शुद्ध है उन्हें वेद पढ़ने का अधिकार कहा गया है। इसलिये मत्त को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं किन्तु भगवान् नो सर्व रूप है इसलिये कहा है कि 'चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्' भगवान् के नामों का उच्चारण सदा सब जगह करे। इस स्मृति के कथन से तथा 'पतितः स्खलितः' इत्यादि वाक्य से महापापी के लिये भी भगवन्नाम को प्रायश्चित रूप बताया गया है। तो मत्त को भगवन्नाम लेने का अधिकार क्यों नहीं इसका उत्तर देते है कि 'अकिञ्चन गोचरम्' आप जन्ममद, ऐश्वर्यमद, शास्त्र श्रवणमद तथा लक्ष्मी मद इनसे जो मुक्त रहता है वही आपको प्राप्त कर सकता है। तात्पर्य यह है कि मत्त व्यक्ति स्वरूपतः भगवन्नाम लेने का अधिकारी नहीं है। ऐसी बात नहीं है। किन्तु मत्त को भगवन्नामोच्चारण का कोई फल नहीं होता। क्योंकि ऐसे व्यक्ति के हृदय में भगवान् प्रवेश ही नहीं करते नामोच्चारण करने से तो हृदय में भगवान् का प्रवेश होता है। मत्त अपने मुख से भगवान् के गुणों को कहता भी है। किन्तु वह गुणाख्यान केवल कहने के लिये ही है किन्तु उससे कोई फल नहीं होता। जैसे शौच में उपयुक्त गङ्गाजल से कोई लाभ नहीं। अर्थात् उससे कोई पारलौकिक फल नहीं होता क्योंकि उपर्युक्त मद से जो रहित है उनसे ही मिलने का भगवान् का स्वभाव है। इस समय भी हम देखते है कि लोग जो मत्त (नशेबाज) नहीं है उन्हीं से बात करते है। मत्तों से नहीं।

उपर्युक्त बातों से यह कहा गया कि जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्र श्रवण एवं लक्ष्मी के मद वालों के हृदय में कभी भी भगवत्सान्निध्य नहीं होता इस अभिप्राय से उनको अनाधिकारी बताया है। ॥२५॥

आभास—ननु शिष्टैरपि न ज्ञायते ? भगवतोऽचिन्त्यमहिमत्वात्। सत्यम्। तथापि न ज्ञायत इति ज्ञायते। तदाह—

आभासार्थ- शंका होती है कि केवल मत्त ही भगवान् को नहीं जानते यह कहना ठीक नहीं। भगवान अचिन्त्य महिमा वाले है। अतः शिष्ट लोग भी भगवान् को नहीं जान सकते इसका उत्तर देते है कि यद्यपि शिष्ट लोगों को भी भगवान् का ज्ञान नहीं होता। किन्तु वे शिष्ट लोग यह तो जानते है कि हम भगवान् को नहीं जानते मत्त लोगों को तो इसका भी ज्ञान नहीं। अथवा यह भी अभिप्राय हो सकता है कि 'विज्ञातमवि जानताम् के अनुसार जो हम नहीं जानते ऐसा मानते है उनके लिये वह ज्ञात हो जाता है इस बात को कहते है कि—

श्लोक— **नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये।**
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥२६॥

श्लोकार्थ—जिस भगवान् के निष्किञ्चन भक्त धन है अथवा जो निष्किञ्चन जनों का धन है और निर्गुणों के साथ व्यवहार रखने वाले अपनी आत्मा में ही रमण करने वाले शान्त, मोक्ष के पति भगवान् को नमस्कार करती हूं ॥२६॥

सुबोधिनी - **नमोऽकिञ्चनवित्तायेति**। अकिञ्चना वित्तं यस्य। अकिञ्चनानां वा वित्तम्। वित्तं हृदि बहिरपि तिष्ठति वित्तवताम्। तथा तेषु भगवान्भगवति च ते। अतस्त एव जानन्ति नाऽन्य इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—**निवृत्तगुणवृत्तय इति**। निवृत्ता गुणा येषां ते निवृत्तगुणाः। तैर्वर्तनं यस्य, तेषु वृत्तिर्यस्येति वा। **"हरिर्हि निर्गुण"**। **"मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतमि"**ति च भगवद्वाक्यात्। अतो निर्गुणगम्ये न सगुणगम्यत्वम्। यथा चक्षुर्गम्ये न रसनागम्यत्वम्। तत्राऽपि हेतुः—**आत्मारामायेति**। आत्मन्येवाऽऽरामो यस्य। अनेन स्वापेक्षाभाव उक्तः। परापेक्षायामपि—**शान्ताय**। शान्तरूपत्वान्न क्रूरैरपेक्ष्यत इत्यर्थः। किञ्च। यैरपेक्ष्यते तैर्मोक्षार्थमपेक्ष्यते। नियतफलत्वात्तस्य। अन्यत्तु काकतालीयं कथञ्चिद्भवति। अतो मोक्षपतित्वान्मुक्त्यधिकारिभिरेव सेव्यो नाऽन्यैरित्यर्थः ॥२६।

व्याख्यार्थ—श्लोकस्य 'अकिञ्चन वित्ताय' में अकिञ्चन वित्त के दो अर्थ है। पहला अकिञ्चन निर्धन ही जिनका धन है ऐसे भगवान् हैं। द्वितीय अकिञ्चनों (निर्धनों) के धन भगवान् है। धनिक लोग हृदय में धन का ही चिन्तन करते है और उनको बाह्य क्रिया भी धन सम्बन्धिनी होती है। इसी प्रकार भगवान् के हृदय में भक्तों का ही चिन्तन रहता है तथा बाह्यक्रिया भी भक्तों के लिये ही होती है। ऐसे ही भक्त भी हृदय में भगवान् का ही चिन्तन करते है। और भक्तों की बाह्य क्रिया भी भगवत्सम्बन्धिनी ही होती है। अतः ऐसे भक्त ही उसे जानते है दूसरे नहीं इसमें हेतु कहते हैं कि 'निवृत्त गुण वृत्तये' जिनके गुण निवृत्त हो गये है। अर्थात् जो निर्गुण हैं उनके

साथ ही भगवान् का व्यवहार होता है। अथवा भगवान् उन्हीं में रहते है। 'हरिर्हिनिर्गुणः साक्षात्' इस वाक्य के अनुसार भगवान् निर्गुण है। और 'मन्निष्ठ निर्गुण स्मृतम्' इस भगवद् वाक्य के अनुसार भक्त भी निर्गुण है। अतः वह भगवान् निर्गुण होने से निर्गुण से प्राप्त है। सगुण गम्य नहीं है। जैसे चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण की जाने वाली वस्तु का रसना (जीभ) से ग्रहण नहीं होता। वैसे ही वह निर्गुण से ही प्राप्त होता है। दूसरों से प्राप्त नहीं होता इसमें हेतु कहते है कि 'आत्मारामाय' आत्मा (अपने) में ही जिसका सब ओर से रमण है। जब वह अपने में ही रमण करता है तो दूसरे की उसको अपेक्षा ही नहीं है यदि दूसरे को अपेक्षा हो तो कदाचित् सगुण गम्य भी हो सकता है। यदि दूसरे उसकी अपेक्षा करते हों तो भी क्रूर प्रकृति वालोंसे वह प्राप्त नहीं है क्योंकि वे भगवान् शान्त है। अर्थात जो क्रूर प्रकृति के है वे भी भगवान् का शान्त रूप होने से उन्हें नहीं चाहते है। इससे कहा गया कि उसकी दूसरे (क्रूर) भी अपेक्षा नहीं करते। जो अपेक्षा करते है वे मोक्ष के लिये। क्योंकि वह फल नियत है। अर्थात् भगवान् सेवा करने वालों को मोक्ष रूप फल निश्चित रूप से देते है। अन्य फल तो काकतालीय न्याय से अनायास ही प्राप्त हो जाता है। भगवान् मोक्ष के स्वामी है। इसलिये मुक्ति के अधिकारियों से ही वह सेव्य है अन्य से नहीं ॥२६॥

आभास—एवं प्रसङ्गात्स्वरूपं कथयन्ती नमस्कारमुक्त्वा पुनः प्रकृतं दुष्टदुर्ज्ञेयत्वं प्रकारान्तरेणाऽऽह—

आभासार्थ—इस प्रकार प्रसंग से भगवान् के स्वरूप का वर्णन करती हुई कुन्ती नमस्कार कर फिर से प्रस्तुत जो दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व है उसे दूसरे प्रकार से कहती है—

श्लोक—**मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम् ।**
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः ॥२७॥

श्लोकार्थ—मैं सर्वसमर्थ, अनादि, अनन्त, व्यापक, सर्वत्र समान रूप से विचरण करने वाले आपको कालरूप मानती हूं। जिस काल से प्राणियों में परस्पर कलह होता है। तात्पर्य यह है कि समय पाकर भाई-भाइयों में भी कलह होता है ॥२७॥

सुबोधिनी—**मन्य इति**। दुष्टा द्विविधाः। विषयपराः पूर्वोक्ताश्च। तत्र पूर्वोक्तानामगम्यता निरूपिता। विषयपराणां चाऽगम्यतामाह सम्भावनया। एव हि सम्भाव्यते—यदि विषयपरा भगवन्तं जानीयुस्तदा कालग्रस्ता न भवेयुरिति। भगवत एव कालत्वात्। ज्ञाते पुनः "**ज्ञानी प्रियतमो मत**" इति वाक्यात्स्वप्रियं न भक्षयेत्कालः। अतः कालव्याप्तेनं भगवन्तं जानन्तीति मन्ये। ननु कालस्य कथं भगवत्त्वम्? तत्राऽऽह—**ईशानमिति**। सर्वत्र तस्यैश्वर्यात्। न ह्येतदभगवत्त्वे सम्भवति। किञ्च। "**सदेव सौम्येदमग्र आसीदि**" त्यत्र—"**नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीमि**"त्यत्र च अग्रे तदानीम्पदवाच्यः कालः। तस्याऽभगवत्त्वे वाक्यार्थो बाध्येत। अत एव अनादिनिधनत्वात्कालो भगवान्। किञ्च। कालवशात्सर्वं भवति। अन्यथा शीतादिषु कि निमित्त स्यात्। अतः

सर्वभवनसमर्थत्वात्कालो भगवान् । किञ्च । "**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**" ति बचनात्समत्वं भगवद्धर्मः । स च काले वर्तत इति कालो भगवानित्याह—**समं चरन्तं सवत्रेति** । सर्वत्र कालः समानेनैव ब्रह्मरूपेण प्रविशति । तत्रोपपत्तिः—**यत्** यस्मात् कालात् । **मिथः** परस्परं भ्रात्रादीनामपि कलहः । पूर्वमेकप्राणभूता अपि कालमेव निमित्तमासाद्य कलहेन म्रियन्त इत्यर्थः । एवं त्वमेव काल इति कालग्रासादवगम्यते । न कोऽपि त्वां जानातीति ॥२७॥

व्याख्यार्थ—दुष्ट दो प्रकार के हैं। एक विषयों में परायण । दूसरे जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्र श्रवण लक्ष्मी मद से मत्त । इनमें दूसरे जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्र श्रवण और श्रीमद् वाले भगवान् को नहीं प्राप्त कर सकते हैं । यह पहले निरूपण कर आये हैं । विषय परायण भी भगवान् को नहीं प्राप्त कर सकते । यह सम्भावना से कहती है। यहां यह संभावना होती है कि यदि विषय परायण (विषयों में रत) भगवान् को जान लें तो काल के ग्रास ही न बनें । क्योंकि भगवान् ही कालरूप हैं । भगवान् को जान लेने पर 'ज्ञानी प्रियतमो मतः' इस गीतावाक्य के अनुसार अपने अत्यन्त प्रिय ज्ञानी भक्त को कालरूप भगवान् नहीं खाते । तात्पर्य यह है कि विषय परायण यदि भगवान् को जान लें तो वह ज्ञानी प्रियतमो मतः के अनुसार अत्यन्त प्यारे हो जायेंगे तो कालरूप भगवान् उन्हें नहीं खायगा क्योंकि अत्यन्त प्रिय को कोई नष्ट नहीं करना चाहता । विषयों में रत कालग्रस्त होते हैं । इससे ज्ञात होता है कि वे भगवान् को नहीं जानते । यदि कहें कि काल भगवद्रूप कैसे हो सकता है तो कहते हैं कि 'ईशानम्' सर्वत्र भगवान् की तरह काल का ऐश्वर्य है । ऐसा ऐश्वर्य काल में भगवद्रूपता हुए बिना नहीं हो सकता । इससे ज्ञात होता है कि काल भगवद्रूप ही है । यदि काल भगवद्रूप न हो तो 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' 'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्' अर्थात् यह विश्व पहले भगवद्रूप ही था । उस समय न सत् था न असत् था । यहां के अग्रे और तदानीम् पद काल के बोधक हैं । यदि काल भगवान् का रूप न हो तो उसकी पूर्व स्थिति न होने से इन श्रुतियों का वाक्यार्थ संगत न होगा । भगवान् की तरह काल अनादि अनन्त है इसलिए काल भगवान् का रूप है । काल वश ही शीतोष्ण आदि समय आते हैं । अन्यथा उनके होने में दूसरा कौन कारण हो सकता है । अतः वह काल भगवान् की तरह सब कुछ होने का सामर्थ्य रखता है । इसलिए वह भगवान् है । गीता में 'निर्दोष हि समं ब्रह्म' इस वाक्य से समत्व रूप भगवान् का धर्म बताया । अर्थात् वह समान रूप से सर्वत्र है । यही समानता काल में भी है इसलिए काल भी भगवद्रूप है । इसी बात को 'समं चरन्तं सर्वत्र' इससे बताया । काल ब्रह्मरूप होने से सर्वत्र समान रूप से प्रविष्ट होता है इसमें युक्ति कहते हैं कि 'भूतानां यन्मिथः कलिः' इस काल के प्रविष्ट होने से पहले एक प्राण के रूप में रहने वाले भाई आदि भी समय पाकर आपस में झगड़कर मर जाते हैं । सभी के कालग्रस्त होने से यह ज्ञात होता है कि आप ही काल हैं आपको कोई भी नहीं जानता ॥२७॥

आभास—इदानीमवतीर्णं तु सुतरां भक्ता अपि न जानन्तीत्याह—

आभासार्थ—इस समय अवतीर्ण हुए आपको भक्त भी सर्वथा नहीं जानते इस बात को कहते हैं—

श्लोक—न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम् ।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद्-
द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे भगवन् ! आप जब मनुष्यों की सी लीला करते हैं तब आप क्या करना चाहते हैं यह कोई नहीं जानता । आपका कभी न कोई प्रिय है और न शत्रु है । आपके सम्बन्ध में लोगों की बुद्धि ही विषम हुआ करती है ॥२८॥

सुबोधिनी—न वेद कश्चिदिति । किं कर्तुं भगवान् विचारयतीति न कोऽपि वेद । ननु कार्यदर्शनेन ज्योतिश्शास्त्रेण वा, यदेव जायते तदेव भगवच्चिकीर्षितमिति कुतो न वेद ? तत्राऽऽह — **तवेहमानस्येति** । नृणां विडम्बनमनुकरणमीहमानस्य चिकीर्षित न वेदेत्यर्थः । सामान्यव्यापारेणैव कार्यस्य सिद्धत्वाद्विशेषरूपमनुकरणं किं कार्यायेति भवति सन्देहः । नन्वस्याऽनुकरणस्य कार्यं स्पष्टमेव पाण्डवरक्षा कौरववधश्चेति । भूभारहरणमर्जुनादीनां यशोदानं च ? तदपि नेत्याह— **न यस्य कश्चिदिति** । पाण्डवरक्षादिकं तदा विशेषकार्यं स्याद्यदि भगवतो मित्रोदासीनविद्विषो भवेयुः । तथा सति भगवत्त्वमेव न स्यात् । कश्चिदपि दयितो न क्वचिदपि दयितो न । एवं द्वेष्यश्च कश्चिदपि क्वचिदपि । चकारादुदासीनः । तर्हि कथं कार्यं दृश्यते पाण्डवरक्षादि ? न च कालादिति वक्तव्यम् । कदाचिदपि कौरवरक्षाऽश्रवणात् । तत्राऽऽह — **यस्मिन् विषमा मतिर्नृणामिति** । यस्मिंस्त्वयि नृणां पाण्डवादीनां विषमा मतिर्भवति अयमस्माकं मित्रमयं शत्रुरिति । न हि कलशादिषु वस्तुषु गृहे नीयमानेषु दर्शनाच्छकुनादिसम्पत्तौ न।? तेषां स्वरूपं भिद्यते । शुक्तिकायां वा रजतादिप्रतीतौ तस्य स्वाभाविकधर्मव्यतिरेकेण कश्चिदस्ति भ्रमहेतुः । स्वाभाविकस्यैव भ्रमहेतुत्वे सर्वेषामेव भ्रमः स्यात् । तस्मात्स्वगतदोषेणैव रागादिना त्वयि मित्रत्वादिप्रतीतिः । न तु त्वयि तादृशो धर्मः कश्चिदस्तीत्यर्थः । ननु तदनुसरणं धर्मो भगवत्यस्ति । यतः सर्वभावित इव भवति । तदपि नास्तीत्याह चकारेण । मित्रत्ववदनुसारित्वमपि भ्रान्तमित्यर्थः ॥२८ ।

व्याख्यार्थ—भगवान् क्या करने का विचार करते हैं इस बात को कोई नहीं जानता । यदि कहें कि कार्य के देखने से अथवा ज्योतिः शास्त्र से जो कुछ बात ज्ञात होती है वही भगवान् की करने की इच्छा है यह ज्ञात हो ही जाता है । तो भगवान् का विचार जाना नहीं जा सकता यह कैसे कहा ? समाधान करते हैं कि जो मनुष्य के सदृश चेष्टा करता है उसके करने की इच्छा को कैसे जानी जाय । सामान्य प्रयत्न से ही कार्य सिद्ध होता है तो भगवान् विशेष रूप का अनुकरण किस कार्य के लिए करते हैं यह सन्देह होता है । तात्पर्य यह है कि भगवान् मनुष्य के आकार को ग्रहण न करके भी कार्य कर सकते हैं तो मनुष्याकार एवं तदनुरूप कार्य किसलिए करते हैं यह सन्देह होता है । यदि कहें कि मनुष्य का अनुकरण कर जो पाण्डव रक्षा कौरव वध पृथ्वी भार हरण अर्जुन आदि को यश दिलाना कार्य किया वह स्पष्ट है । तो फिर भगवान् ने मानव का अनुकरण क्यों किया यह शङ्का करना ठीक नहीं है । इस पर कहते है कि भगवान् के पाण्डव रक्षा आदि विशेष कार्य तब हो सकते हैं जब भगवान् के मित्र उदासीन एवं शत्रु हों । पाण्डवों की रक्षा करना

एवं कौरवों का वध करना यह बताता है कि भगवान् के भी मित्र और शत्रु हैं। यदि मित्र शत्रु हों तो वह भगवान् ही नहीं है। कोई कहीं भी उसका प्रिय नहीं है। इसी प्रकार कोई कहीं द्वेष्य (शत्रु) भी नहीं है। श्लोकस्थ 'च' से उदासीन भी लिया गया। अर्थात् भगवान् का उदासीन भी कोई नहीं है। तो फिर पाण्डव रक्षा कौरव वध आदि कार्य भगवान् में कैसे दीखते हैं। यदि कहें कि काल के प्रतिकूल एवं अनुकूल होने पर यह सब कुछ कार्य होता है ऐसा मानते हैं तो कदाचित् कौरवों के लिए भी काल अनुकूल हो सकता है और उनकी भी रक्षा हो सकती है तो उनकी रक्षा होनी चाहिये किन्तु कौरवों की रक्षा नहीं सुनी गई है। अर्थात् कौरवों की रक्षा नहीं हुई है। जिस भगवान् में पाण्डव आदि की यह विषम बुद्धि हुई कि भगवान् हमारे मित्र हैं और कौरवों के शत्रु हैं। अर्थात् यह हमारा मित्र है और यह हमारा शत्रु है ऐसा मानते हैं। कलश आदि वस्तु के घर में ले जाते हुए दीखने पर वह घड़ा आदि शकुन रूप माना जाता है। किन्तु शकुन रूप में माने जाने वाले घड़े आदि एवं शकुन रूप में नहीं माने जाने वाले घड़े के स्वरूप में कोई भिन्नता नहीं होती। इसी प्रकार ब्रह्म के स्वरूप में शत्रु, मित्र उदासीनता आदि से भिन्नता नहीं हो सकती। शुक्ति (सीप) में रजत आदि की प्रतीति में उसके स्वाभाविक धर्म से भिन्न कोई भ्रम का कारण है। यदि उसी का स्वाभाविक धर्म भ्रम का कारण हो तो सभी को भ्रम होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि शुक्तिका में जो रजत भ्रम होता है वह अपने में रहे किसी विशेष दोष के कारण होता है। इसी प्रकार अपने में रहे रागादि दोष से ही आप (भगवान्) में मित्र शत्रु उदासीन की प्रतीति होती है। आप में ऐसा कोई धर्म नहीं है कि जो मित्र, शत्रु उदासीन की प्रतीति करावें। यदि यहां यह कहा जाय कि जैसी भावना मानव करता है उसकी भावना का अनुसरण कर भगवान् अपने में उस धर्म को रखते हैं जिससे भगवान् सर्व भावित की तरह हो जाते हैं। अर्थात् भगवान् मानव की भावना के अनुसार प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् मनुष्य जैसी भावना करता है भगवान् को वैसा बनना पड़ता है। यदि किसी ने भगवान् में मित्र की भावना की तो भगवान् मित्र होंगे और शत्रु की भावना करने पर भगवान् शत्रु होंगे तो यह कैसे कहते हैं कि भगवान् शत्रु, मित्र, उदासीन नहीं बनते इस पर कहते हैं कि ऐसा नहीं है। इसी बात को श्लोकस्थ 'च' से कहा है। तात्पर्य यह है कि जैसे भगवान् में मित्रत्व न होते हुए भी उसकी भ्रान्ति होती है उसी प्रकार भावनानुसारी धर्म भगवान् में है यह भी भ्रान्ति है ॥२८॥

आभास - एवं दुष्टदुर्ज्ञेयत्वं निरूप्य लक्षणं निरूपयति द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—इस प्रकार दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व का निरूपण कर दो श्लोकों से कुन्ती भगवान् के लक्षण का निरूपण करती है—

श्लोक—**जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याऽकर्त्तु रात्मनः ।**
तिर्यङ्नृषिषु यादस्सु तदत्यन्तविडम्बनम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे विश्वरूप ! न आप जन्म लेते हैं और न कर्म ही करते हैं। फिर भी पशु पक्षी, मनुष्य, ऋषि, जलचर आदि में आप जन्म लेते हैं और उन योनियों के अनुसार कर्म भी करते हैं यह अत्यन्त विडम्बना है ॥२९॥

सुबोधिनी - जन्म कर्म चेति । भगवतः सर्वानुकरणरूपो धर्मो लक्षणमसाधारणो धर्मः । भगवांस्तु केवल नटादिरपि किञ्चिद्द्रव्यान्तरसम्बन्धेन तथा स्वाऽऽत्मानं प्रकाशयति । भगवांस्तु केवल नटादिरपि किञ्चिद्द्रव्यान्तरसम्बन्धेन तथा स्वाऽऽत्मानं प्रकाशयति एवाऽविक्रियमाण एव परमानन्दरूप एव नरदेहेन्द्रियरूपेण दृश्यरूपेण स्वाऽऽत्मानं ख्यापयति । एवाऽविक्रियमाण एव परमानन्दरूप एव नरदेहेन्द्रियरूपेण दृश्यरूपेण स्वाऽऽत्मानं ख्यापयति । एतद्भगवतोऽसाधारणं लक्षणम् एतदज्ञाने कोऽपि भगवन्तं न पूजयेत् । न चाऽस्य मोहकत्वम् । तत्र लक्षणत्वात् । अन्यथा सर्वेषामपि मोहो भवेत् । तस्मादनुकरणं भगवल्लक्षणमिति ज्ञेयम् । तत्र लक्षणत्वात् । अन्यथा सर्वेषामपि मोहो भवेत् । ननु युक्तिबाधितं न वेदोऽपि चेद्भ्रमः ? पूर्ववत्स्वदोषेणैव दुष्यति, न भगवतः कश्चिद्दोष इत्यर्थः । ननु युक्तिबाधितं न वेदोऽपि बोधयतीति कथं भगवतोऽनुकरणं सम्भवात? तत्राऽऽह - **विश्वात्मन्निति** । यथा भगवानविक्रियमाण एव **विश्वरूपो** जातः । तस्याऽनुकरणे कः प्रयास इति भावः । **अजस्य जन्म** । **अकर्तुः कर्म** । **एव विश्वरूपो** जातः । तस्याऽनुकरणे कः प्रयास इति भावः । **तिर्यक्षु** वराहादौ **नृषु** रामादौ **ऋषिषु** वामनादौ **यादस्सु** मत्स्यादौ पुरुषोत्तमस्याऽऽत्मनो व्यापकस्य **तिर्यक्षु** वराहादौ **नृषु** रामादौ **ऋषिषु** वामनादौ **यादस्सु** मत्स्यादौ तत्तद्रूपेण स्फुरणमत्यन्तमनुकरणम् । पुरुषोत्तमत्वमपि ज्ञापयन्मनुष्यत्वादिकमपि ज्ञापयति । तत्तद्रूपेण स्फुरणमत्यन्तमनुकरणम् । तस्मादनुकरणलक्षणोऽसाधारणो भगवद्धर्मः । अतो विश्वस्मिंस्तु ब्रह्मत्वे ज्ञाते न जगत्त्वेन ज्ञायते । तस्मादनुकरणलक्षणोऽसाधारणो भगवद्धर्मः । अतो नाऽनेनाऽपि **भगवति** सन्देहो युक्त इति सिद्धम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् का सब रूप बनना लक्षण है अर्थात् वह उसका असाधारण धर्म है । तात्पर्य यह है कि जो सब रूप दिखा सकता है वह भगवान् है । नट आदि भी कुछ दूसरे द्रव्यों की तात्पर्य यह है कि जो सब रूप दिखा सकता है वह भगवान् है । नट आदि भी कुछ दूसरे द्रव्यों की सहायता से अपने को उस-उस रूप में दिखाता है परन्तु भगवान् तो दूसरे किसी को नहीं लेता हुआ स्वयं अविकृत एवं परमानन्द रूप रहता हुआ ही मनुष्य देह तथा इन्द्रिय रूप से अर्थात् दृश्य रूप से स्वयं अविकृत एवं परमानन्द रूप रहता हुआ ही मनुष्य देह तथा इन्द्रिय रूप से अर्थात् दृश्य रूप से अपने आपको प्रसिद्ध करता है । यही भगवान् का असाधारण लक्षण है । इस प्रकार भगवान् की अपने आपको प्रसिद्ध करता है । यही भगवान् का असाधारण लक्षण है । इस प्रकार भगवान् की असाधारणता का ज्ञान न हो और मनुष्यता का ज्ञान हो ये मनुष्य है ऐसा ज्ञान हो तो उसका कोई असाधारणता का ज्ञान न हो और मनुष्यता का ज्ञान हो ये मनुष्य है ऐसा ज्ञान हो तो उसका कोई पूजन न करे । अतः भगवान् अविकृत एवं परमानन्द रूप ही नर देह इन्द्रियों से अपने आपको प्रसिद्ध करता है । दिखाया गया रूप मोहक नहीं होता । क्योंकि वह उसका लक्षण है । जो लक्षण प्रसिद्ध करता है । दिखाया गया रूप मोहक नहीं होता । क्योंकि वह उसका लक्षण है । जो लक्षण रूप धर्म होता है उसकी स्थिति वास्तविक होती है । यदि उस सब रूप बनने को मोहक मान लेते रूप धर्म होता है उसकी स्थिति वास्तविक होती है । इससे ज्ञात होता है कि वह भगवान् का हैं तो सबको मोह होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता । इससे ज्ञात होता है कि वह भगवान् का हैं तो सबको मोह होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता । वहां यदि अनुकरण मोहक न होकर भगवल्लक्षण होने से गौ के सास्नादि की तरह वास्तविक है । वहां यदि अनुकरण मोहक न होकर भगवल्लक्षण होने से गौ के सास्नादि की तरह वास्तविक है । वहां यदि किसी को भ्रम हो तो वह पहले कहे गये के अनुसार अपने स्वगत दोष से ही कुछ अन्यथा रूप में किसी को भ्रम हो तो वह पहले कहे गये के अनुसार अपने स्वगत दोष से ही कुछ अन्यथा रूप में देखता है । भगवान् में कोई दोष नहीं है । शङ्का होती है कि एक वस्तु ही अनेक रूप में नहीं दीख देखता है । भगवान् में कोई दोष नहीं है । शङ्का होती है कि एक वस्तु ही अनेक रूप में नहीं दीख सकती तो इस युक्ति के विरुद्ध वेद भी भगवान् को सर्वरूप कैसे बता सकता है इससे भगवान् सब सकती तो इस युक्ति के विरुद्ध वेद भी भगवान् को सर्वरूप कैसे बता सकता है इस पर कहती है कि 'विश्वात्मन्' जैसे भगवान् रूप का अनुकरण कर लेते हैं यह कैसे हो सकता है इस पर कहती है कि 'विश्वात्मन्' जैसे भगवान् (आप) बिना विकार के ही विश्वरूप हो सकता है तो उसको नट की तरह मानव देह का अनुकरण (आप) बिना विकार के ही विश्वरूप हो सकता है तो उसको नट की तरह मानव देह का अनुकरण करने मे क्या प्रयास है । आप अजन्मा हैं तथापि जन्म लेते हैं । अकर्ता होने पर भी कर्म करते हैं । करने मे क्या प्रयास है । आप अजन्मा हैं तथापि जन्म लेते हैं । अकर्ता होने पर भी कर्म करते हैं । व्यापक रूप जो आप पुरुषोत्तम हैं आपका पशु पक्षी रूप वराह हंस आदि में मनुष्य रूप राम आदि व्यापक रूप जो आप पुरुषोत्तम हैं आपका पशु पक्षी रूप वराह हंस आदि में मनुष्य रूप राम आदि में ऋषि रूप वामन आदि में जलचर रूप मत्स्य आदि में तत्तद् रूप आप जो स्फुरित होते हैं वह में ऋषि रूप वामन आदि में जलचर रूप मत्स्य आदि में तत्तद् रूप आप जो स्फुरित होते हैं वह अत्यन्त दूसरे का अनुकरण है । अवतार की स्थिति में पुरुषोत्तमत्व को बताते हुए भी मनुष्यत्व अत्यन्त दूसरे का अनुकरण है । अवतार की स्थिति में पुरुषोत्तमत्व को बताते हुए भी मनुष्यत्व आदि को भी उसी मे बताते हैं । विश्व में यदि ब्रह्मत्व का ज्ञान हो जाता है तो जगत् ब्रह्मत्वेन ज्ञात आदि को भी उसी मे बताते हैं । विश्व में यदि ब्रह्मत्व का ज्ञान हो जाता है तो जगत् ब्रह्मत्वेन ज्ञात होता है जगद्रूप से नहीं । अवतार दशा में इससे भेद है । अर्थात् अवतार दशा में विरोधी प्रतीति होता है जगद्रूप से नहीं । अवतार दशा में इससे भेद है । अर्थात् अवतार दशा में विरोधी प्रतीति होती रहती है और ब्रह्मज्ञानी के लिए जगत् की प्रतीति न होकर विशुद्ध ब्रह्म की ही प्रतीति होती होती रहती है और ब्रह्मज्ञानी के लिए जगत् की प्रतीति न होकर विशुद्ध ब्रह्म की ही प्रतीति होती है । यही अवतार रूप में प्रकट होने पर तथा जगद्रूप बनने में भेद है इसलिए अमुक अमुक रूप में है । यही अवतार रूप में प्रकट होने पर तथा जगद्रूप बनने में भेद है इसलिए अमुक अमुक रूप में

आना भगवान् का असाधारण धर्म है। इससे यह सिद्ध हुआ कि युक्ति बाधित भी भगवान् अनुकरण कर सकते हैं। अर्थात् एक ही समय में पुरुषोत्तमत्व एवं मनुष्यत्व दोनों दिखा सकते हैं। अतः भगवान् अनुकरण नहीं करते यह संदेह करना युक्त नहीं है ।।२९।।

आभास—ननु विशेषदर्शनात्सन्देहो गमिष्यति। किं तद्धर्मवत्त्वेन ज्ञापनेन ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—यहां यह शङ्का होती है कि विशेष प्रकार का भगवत्कार्य देखने से संदेह निवृत्त हो जायगा तो फिर वैसे धर्म वाले भगवान् को बताने से क्या प्रयोजन है इस पर कहती है कि—

श्लोक—**गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम ताव-**
द्याते दशाऽश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि तद्बिभेति ।।३०।।

श्लोकार्थ—दधिभाण्ड के फोड़ने के अपराध करने पर यशोदाजी ने आपको बांधने के लिए जब डोरी ली उसी क्षण आँसुओं से मिले अतएव बहते हुए अञ्जन से संभ्रमयुक्त नेत्र वाले मुखारविन्द को नीचा कर भय की भावना से स्थित जिससे कि मृत्यु भी डरती है ऐसे आपकी वह दशा मुझे मोहित कर रही है ।।३०।।

सुबोधिनी - गोप्याददे इति। एतादृशमनुकरणं भगवतो यद्विशेषदर्शनेऽपि जाते भ्रममुत्पादयति। तत्राऽहमेव दृष्टान्तः। कदाचिदहं गता गोकुले त्वां द्रष्टुम्। तस्मिन्समये गोपी यशोदा शिलापुत्रेण भाण्डभेदने कृते कृतागसि त्वयि दाम आददे। तदा तावत्तदानीमेव या ते दशा जाता। ननु सा स्वभावत एव तव दशा भविष्यति ? तत्राऽऽह—**अश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षमिति।** अश्रुभिः कलिलं यदञ्जनं तेन सम्यक् भ्रमयुक्ते अक्षिणी यस्येति। तादृशं मुखं नीचतया स्थापयित्वा स्थितस्य तवेति पूर्वेण सम्बन्धः। एवं सर्वैर्ज्ञातमयं सर्वथा भीत इति। नन्वेवमस्तु को दोष इति चेत् ? तत्राऽऽह—**भीरपि यद्बिभेतीति।** यद्भय मृत्युरूपं तस्याऽपि भयं यतो भगवतो भवति। भीतत्वं भयहेतोर्बाधको धर्मः। न हि तस्मिन् विद्यमाने कस्यचिद्भय सम्भवति ।।३०।।

व्याख्यार्थ—कुन्ती कहती है कि आपके विशेष विश्व दर्शन कराना आदि कार्यों के दीखने पर भी इस प्रकार का अनुकरण भ्रम उत्पन्न करता है। इसमें मैं ही दृष्टान्त हूं। मैं आपके दर्शन के लिए कभी गोकुल में गई थी। उस समय गोपी यशोदा ने आपके द्वारा पत्थर से दधिभाण्ड के भेदन करने पर अपराधी आपको बांधने के लिए डोरी ली। उस समय ही जो आपकी दशा हुई उसे मैंने देखी थी। वह दशा आपकी स्वाभाविक नहीं थी। क्योंकि 'अश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्' आँसुओं से पंकीभूत जो कज्जल उससे प्रतीत हुई सम्भ्रमयुक्त जिसकी आँखें हैं ऐसे अपने मुख को नीचा कर खड़े हुए आपको देखा। सबने यही समझा कि आप सर्वथा डरे हुए हैं। शङ्का होती है कि भगवान्

डरे हुए हों तो भी क्या दोष है इस पर कहती है कि 'भीरपि यद्बिभेति' मृत्युरूप भय आपसे डरता है उसको भय कैसे हो सकता है मृत्यु को भय उत्पन्न करने वाले आपका भीत होना बाधक धर्म है । अर्थात् जो मृत्यु को भी डरा सकता है । वह अन्य से डर कैसे सकता है । आपके हृदय में तथा बाहर सन्निधान में रहने पर अन्य किसी को भी भय की संभावना नहीं है । तो आपका डरना अत्यन्त आश्चर्यजनक है ॥३०॥

आभास—एवं भगवति विरुद्धधर्मत्वं तत्सम्बन्धादन्यत्राऽपि विरुद्धधर्मत्वमिति लक्षणमुक्तम् । जन्मकारणनिर्द्धारमाह **केचिदाहुरिति** चतुर्भिः । नमनार्थं जन्मनिर्द्धारः कर्तव्यः । देहान्तःकरणाऽऽत्मनामुत्तरमुत्तरं श्रेयः । ततो देहत्वेनाऽनमनीयत्वेऽपि भगवदवतारत्वे ज्ञाते नमनीयत्वं सिद्धयति । तत्र तादृशस्य कथमनमनीयदेह इति शङ्का । तत्र ऋषिभेदेन स्वयोगजधर्मभेदात्परमार्थतो भगवदिच्छाऽज्ञानाच्च चतुर्विधा ऋषयः **वंशकर्त्ता पिता चैव मुख्यौ देहनिरू-** स्वस्वबुद्धयनुसारेण देहसम्बन्धप्रयोजनं कथयन्ति । **पकौ । दुःखाभावश्च मोक्षश्च द्वावर्थाविह सम्मतौ** । अर्थद्रव्यविरोधे अर्थो बलीयानिति तदर्थं मतभेदाः । अर्थस्य गुणभावे देहमुख्यतया मतद्वयम् । अर्थप्राधान्ये च मतद्वय- मस्ति । तत्र वंशकर्तु र्मुख्यत्वान्महत्त्वाच्च तदीयत्वख्यापनेन तस्य कीर्तिर्भवतीति धर्म- प्राधान्येन यदुवंशेऽवतीर्ण इत्याह—

आभासार्थ— इस प्रकार अजन्मा का जन्म आदि तथा जिससे काल भी डरे उसे डरते हुए आदि भगवान् में विरुद्ध धर्मों का दीखना तथा भगवत्सम्बन्ध से और जगह भी विरुद्ध धर्मों का दीखना विरुद्ध धर्माश्रयता रूप भगवान् का लक्षण कहा । भगवान् के जन्म लेने के कारण का निर्णय 'केचिदाहु' इत्यादि चार श्लोकों से कहते हैं । नमन के लिए जन्म का निर्धार बताना चाहिये । देह अन्त.करण एवं आत्मा में आगे-आगे का उत्तम माना गया है अर्थात् देह से अन्त:करण प्रधान है । अन्त:करण से आत्मा उत्तम है । केवल देह मानकर भगवान् नमनीय न भी हो किन्तु भगवान् का अवतार लेना जान लेने पर भगवान् नमस्करणीय होते हैं । यदि कहें कि भगवान् ने ऐसे अनमनीय देह को क्यों धारण किया इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि ऋषि अनेक हैं । उनके योगज धर्म भी भिन्न-भिन्न हैं और वास्तव में भगवदिच्छा का ज्ञान नहीं होने से चार प्रकार के ऋषियों ने अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् के देह धारण का प्रयोजन कहा है—

वंशकर्त्ता पिता चैव मुख्यौ देहनिरूपकौ ।
दुःखाभावश्च मोक्षश्च द्वावर्थाविह सम्मतौ ।

वंशकर्त्ता यदु तथा पिता मुख्य रूप से भगवान् के देह धारण करने के कारण हैं । देह धारण करने के दुःखाभाव एवं मोक्ष दो प्रयोजन यहां माने गये हैं । अर्थ और द्रव्य का परस्पर में विरोध होने पर अर्थ बलवान् है । इस न्याय से यहां अर्थ को लेकर ऋषियों का मतभेद है । अर्थ जब गौण रहता है तब देह को मुख्य मानकर वंशकर्त्ता एवं पिता ये दो मत यहां कहे गये हैं । द्रव्य देह को गौण मानकर और अर्थ (प्रयोजन) को मुख्य मानकर कारिका में दुःखाभाव एवं मोक्ष ये दो मत

कहे गये हैं। अर्थात् अर्थ को गौण तथा देह को मुख्य मानने पर वंशकर्त्ता एवं पिता देह सम्बन्ध के कारण हैं। यह बताया गया। **अर्थ** (प्रयोजन) को प्रधान मानने पर दुःखाभाव और मोक्ष ये दो मत हैं इन चार मतों में वंशकर्त्ता यदु के मुख्य एवं महान् होने से भगवान् यदि उस वंश में अवतार लेते हैं तो यदु की कीर्ति होती है। इसलिए धर्म प्राधान्य से (अर्थात् विरुद्ध धर्मों का आश्रय बनते हुए भगवान्) यदुवंश में अवतीर्ण हुए हैं यह कहती है—

श्लोक—**केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्त्तये।**
यदोः प्रियस्याऽन्ववाये मलयस्येव चन्दनम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—पुण्य श्लोक अपने प्रिय यदु की कीर्ति बढ़ाने के लिए उसके वंश में जैसे मलय पर्वत की कीर्ति बढ़ाने के लिए चन्दन होता है वैसे ही अजन्मा ने जन्म ग्रहण किया है यह कोई कहते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी– **केचिदाहुरिति**। **अजं जातमिति** पूर्ववद्विरुद्धधर्माश्रयत्वम्। पुण्यश्लोकस्य **यदोः**। अत एव तथैव शास्त्रार्थो निर्द्धारित इति—"**तत्रांऽशेनाऽवतीर्णस्ये**"त्युक्तम्। **प्रियस्येति**। पुष्टिमार्गभक्तत्वात्। **मलयस्येव चन्दनमिति**। यथा—'वन्दामहे **मलयमेवे**'त्यादि मलयस्य यश एवं यदोरपि। तद्वंश्यानां भगवत्सन्निधानेन भगवत्सारूप्यात् ॥३१॥

व्याख्यार्थ– अजं जातम् से अजन्मा ने जन्म लिया है यह कहकर पहले की तरह भगवान् को विरुद्ध धर्माश्रय बताया है। पुण्य कीर्ति वाले यदु के वंश में प्रकट हुए अतएव 'तत्रांशेनावतीर्णस्य' इससे वैसा ही शास्त्र का अर्थ बताया गया। अर्थात् 'यदोश्च धर्मशीलस्य' से यदु धर्मशील होने से ही उस वंश में भगवान् का अवतार हुआ यह शास्त्रार्थ निर्धारित हुआ। श्लोक में यदु का विशेषण 'प्रिय' है। प्रिय वही होता है जो पुष्टिमार्गीय होता है। यदु पुष्टिमार्गीय भक्त है इसलिए इसे प्रिय कहा है। श्लोक में 'मलयस्येव चन्दनम्' कहा है। अर्थात् जैसे 'वन्दामहे मलयमेव' से मलयाचल को प्रणाम करते है जिसके सम्बन्ध से निम्ब आदि भी चन्दन बन जाते हैं। इस प्रकार जैसे मलयाचल का यश बताया उसी प्रकार यदु का भी बताया। क्योंकि उसके वंश में उत्पन्न होने वालों में भगवान् का सन्निधान होने से उन्हें भगवत्सारूप्य मिला है ॥३१॥

आभास—अपरे पुनर्दूरसम्बन्धमसहमानाः प्रसङ्गादपि कीर्त्तिसम्भवात्कृतप्रयत्नत्वाच्च वसुदेवस्य निर्दुष्टत्वाच्च अर्थपुरस्सरं प्रवर्तमाना ऋषयो वसुदेवस्य सम्बन्धिन्यां देवक्यां पुत्रत्वेन याचितः सन्नज एव जात इत्याहुः। तदाह—

आभासार्थ—दूसरे लोग यदु के दूर सम्बन्ध को बताना ठीक न मानकर यदु की कीर्ति तो प्रसङ्ग से भी हो सकती है तो यदु का सम्बन्ध बताना उतना ठीक नहीं है जितना तप आदि के लिए प्रयत्न करने वाले वसुदेवजी के यहां प्राकट्य बताना ठीक है। वसुदेवजी निर्दोष हैं और ऋषि लोग अर्थ (प्रयोजन) को प्रधान मानकर वसुदेवजी और उनकी पत्नी देवकी सुतपा और पृश्नि रूप से प्रार्थित हुए अजन्मा भगवान् ही देवकी में पुत्र रूप से उत्पन्न हुए। ऐसा कहते हैं इसी बात को कुन्ती कहती है कि—

श्लोक—अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात् ।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ।।३२।।

श्लोकार्थ—दूसरे यह कहते हैं कि अजन्मा होते हुए भी जगत् के कल्याण के लिए तथा दैत्यों को मारने के लिए वसुदेव और देवकी जो जन्मान्तर में सुतपा और पृश्नि रूप में थे उनसे प्रार्थित हुए आप वसुदेवजी की पत्नी देवकी में प्रादुर्भूत हुए ।।३२।।

सुबोधिनी—अपर इति । सोऽजस्त्वमेवेति पृथग्योजना । **"पित्रोः सम्पश्यतोः सद्य"** इति प्राकृतरूपप्रदर्शनाद्भिन्नशङ्का स्यात् । साऽप्यनेन निवारिता । तत्र हेतुः– **अस्य क्षेमायेति** । जगतो युधिष्ठिरस्य वा । अत एव—**"जातः कंसवधार्थाय"** इत्यादि वाक्यानि । अनेन द्वयं प्रयोजनं भिन्नमिति ज्ञापितम् । देवानां भिन्नतया हितकरणात् । चकारात्तेषामपि कृतार्थत्वाय सुरद्वेषित्वेन स्वतो मुक्त्यभावात् । **अनेन** भगवतो दोषाभावो निरूपितः । अत एवोभयोः कार्यता । अन्यथा वैषम्यं स्यात् ।।३२।।

व्याख्यार्थ—प्रार्थना करने पर भक्तों के कल्याण के लिए तथा दैत्यों के वध के लिए जो वसुदेव की पत्नी देवकी में पधारे वह अजन्मा आप ही हैं। इस अर्थ में वह अजन्मा आप ही है ऐसी पृथक् योजना हुई । 'पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यः' इस श्लोक में भगवान् का प्राकृत रूप में होना दिखाया गया है इससे प्राकृत रूप भिन्न है। ऐसी शङ्का न हो इसके लिए जो अजन्मा है वही आप हैं ऐसा कहा गया । प्राकट्य में कारण यह है कि इस जगत् के अथवा युधिष्ठिर के कल्याण के लिए और देवताओं के शत्रु दैत्यों को मारने के लिए जैसा कि 'जातः कंस वधार्थाय' से कहा है । आप प्रकट हुए । दैत्यों को मारकर आप मुक्ति देते हैं । इसलिए जगत् के हित के लिए तथा दैत्यों को मारने के लिए आपका प्राकट्य है इससे अवतार के दो प्रयोजन भिन्न-भिन्न बताये । क्योंकि देवताओं का भिन्न रूप से आपने हित किया है। श्लोकस्थ चकार से यह भी कहा गया कि दैत्यों को कृतार्थ करने के लिए भी आपका प्राकट्य है। दैत्य देवताओं से द्वेष करने वाले हैं इसलिए उनकी स्वतः मुक्ति नहीं हो सकती । भगवान् मारकर उन्हें मुक्त करते हैं । इसलिए दैत्यों के हित चिन्तक होने से भगवान् में वैषम्य दोष नहीं आया । दैत्यों को मुक्ति देते हैं और विश्व का कल्याण करते हैं इसलिए दैत्यों को मुक्ति देना एवं विश्व का कल्याण करना ये दोनों भगवान् के कार्य हैं । दैत्य वध में उन्हें मुक्ति देना अभिप्रेत है । इसलिए भगवान् में वैषम्य दोष न आया अन्यथा दैत्यों का बुरा करने से भगवान् में वैषम्य दोष आता है ।।३२।।

आभास—अन्ये पुनः कालान्तरीयत्वाद्वसुदेवस्याऽपि **"अर्थो बलीयानि"** ति न्यायं पुरस्कृत्य कामप्रधाना भूमिभारहरणार्थं भगवानागत इत्याहुः । तदाह—

आभासार्थ—इस प्रकार 'किञ्चिदाहुरजं जातम्' 'अपरे वसुदेवस्य' इन दो श्लोकों से देह की मुख्यता मानकर वंशकर्त्ता एवं पिता को लेते हुए निरूपण किया गया । यहां बहुत से यह भी कहते हैं कि वसुदेवजी एवं देवकी का बीते दो जन्मों में भगवान् से सम्बन्ध रहा है। यदि कहे गये

प्रयोजनों को मान लिया जाता है तो भगवान् को वसुदेवजी के यहां पूर्वजन्म की तरह अंशरूप से ही प्रादुर्भूत होना चाहिये था। तो फिर पूर्ण रूप से क्यों प्रकट हुए इससे ज्ञात होता है कि भगवान् का अवतार लेने का पूर्वोक्त प्रयोजन नहीं है। अतः 'अर्थ द्रव्य विरोधे अर्थो बलीयान्' इस न्याय को मानकर जो धर्म, अर्थ, काम को प्रधान मानते हैं ऐसे लोग कहते हैं कि भगवान् पृथ्वी का भार हटाने के लिए आये हैं इसी बात को कहते हैं कि—

श्लोक—**भारावतरणायाऽन्ये भुवो नाव इवोदधौ।**
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवाऽर्थितः ।।३३।।

श्लोकार्थ—कोई यह कहते हैं कि समुद्र में डूबती हुई नाव की तरह अधिक भार से पीड़ित पृथ्वी का भार उतारने के लिए ब्रह्मा से प्रार्थना किये गये भगवान् प्रकट हुए ।।३३।।

सुबोधिनी—भारेति। ननु भगवति सपरिकरे समागते परमधिको भारो **भवति**। **न** तु भारावतरणम्। भारकर्तृषु भूमौ वा बलत्वेन प्रविष्टे भारनाश एव न तु भारोत्तारणम्। भारकर्तृणामधः पातने वैषम्यम्। मुक्तिदाने पूर्वोक्तपक्षाऽविशेषः। स्वतन्त्रफलता च स्यादिति चेत्? न। अयं भारो न दैहिकः किन्तूद्वृत्तचेष्टाहेतुको मानसः। सोऽप्यतिभावनया दैहिक इव भवति। तत्र भूमौ भगवति समागते तत्र चित्ते जाते उद्वेजकविस्मरणाद्भारोत्तारणम्। बुद्धया हि भार आरोपितः। शीघ्रं प्रतीकारकरणायाऽऽह—**नाव इवोदधाविति**। अनेन वैषम्यात्कालस्याऽपि मज्जनहेतुत्वं सूचितम्। यथा तरङ्गादिराधारदोषस्तथा धर्मक्षयादिरपि कालदोषः। तस्मात्कालाधारायाः पृथिव्या आधाराधेयोभयदोषसम्भवाच्छीघ्रं प्रतीकारः कर्तव्य इत्यर्थः। अन्यथा पुनर्भूमेरुद्धारः कर्तव्यः पतति सृष्टिश्च। अत एव ब्रह्मणः प्रार्थनेत्याह—**आत्मभुवाऽर्थित इति। आत्मभुवेति**। स्वस्याऽपि ब्रह्मजननं पततीति भावः। स्त्रीपुत्रप्रार्थनया कृतमिति कामत्वाद्भगवतोऽनभिप्रेतत्वं सूचितम्। अवसादनेन विशीर्णतायां पुनर्निर्माणञ्च कर्तव्यं स्यात्। तथा चैकदेशनिर्माणासम्भवान्नूतनब्रह्माण्डनिर्माणमप्यापतेत्। अतो भगवतैवं कृतमिति। एकपक्षे इतरप्रयोजनं प्रासङ्गिकमिति द्रष्टव्यम्। अन्यथा अर्थभेदादवतारभेदो भवेत् ।।३३।।

व्याख्यार्थ—शङ्का करते हैं कि अपने परिकर सहित भगवान् के पृथ्वी पर पधारने पर अधिक भार बढ़ेगा। भार उतरेगा नहीं। यदि भार करने वालों में अथवा भूमि में भगवान् का बल रूप से प्रवेश होने पर भार नाश समझा जायगा। भार का उतरना नहीं समझा जायगा। तो श्लोक में 'भारावतरणाय' कहना असंगत होगा। भार बढ़ाने वालों को नीचे गिरा देने पर भगवान् में वैषम्य दोष आयगा। उस वैषम्य दोष को मिटाने के लिए यदि कहें कि उन्हें मुक्ति देना है तो पहले कहे गये पक्ष में एवं इस पक्ष में कोई विशेषता न होगी। अर्थात् पहले कहे गये श्लोक के प्रयोजन में और इस प्रयोजन में एकता होने से दूसरे ऐसा प्रयोजन कहते हैं यह कहना ठीक नहीं होगा और भार का उतारना स्वतन्त्र फल रूप माना जायगा और सुख साधन को स्वतन्त्र फल मानने पर विरोध होगा। इस पर उत्तर देते हैं कि यह पृथ्वी का भार दैहिक नहीं होता है किन्तु असुरों के उद्वृत्ताचरण (असद् आचरण) से होने वाला पृथ्वी का मानस भार है। जहां अत्यधिक

उपर्युक्त बातों से यह कहा गया कि जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्र श्रवण एवं लक्ष्मी के मद वालों के हृदय में कभी भी भगवत्सान्निध्य नहीं होता इस अभिप्राय से उनको अनाधिकारी बताया है। ॥२५॥

आभास—ननु शिष्टैरपि न ज्ञायते? भगवतोऽचिन्त्यमहिमत्वात्। सत्यम्। तथापि न ज्ञायत इति ज्ञायते। तदाह–

आभासार्थ- शंका होती है कि केवल मत्त ही भगवान् को नहीं जानते यह कहना ठीक नहीं। भगवान अचिन्त्य महिमा वाले है। अतः शिष्ट लोग भी भगवान् को नहीं जान सकते इसका उत्तर देते है कि यद्यपि शिष्ट लोगों को भी भगवान् का ज्ञान नहीं होता। किन्तु वे शिष्ट लोग यह तो जानते है कि हम भगवान् को नहीं जानते मत्त लोगों को तो इसका भी ज्ञान नहीं। अथवा यह भी अभिप्राय हो सकता है कि 'विज्ञातमवि जानताम् के अनुसार जो हम नहीं जानते ऐसा मानते है उनके लिये वह ज्ञात हो जाता है इस बात को कहते है कि—

श्लोक— **नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये।**
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥२६॥

श्लोकार्थ—जिस भगवान् के निष्किञ्चन भक्त धन है अथवा जो निष्किञ्चन जनों का धन है और निर्गुणों के साथ व्यवहार रखने वाले अपनी आत्मा में ही रमण करने वाले शान्त, मोक्ष के पति भगवान् को नमस्कार करती हूं ॥२६॥

सुबोधिनी - **नमोऽकिञ्चनवित्तायेति**। अकिञ्चना वित्तं यस्य। अकिञ्चनानां वा वित्तम्। वित्तं हृदि बहिरपि तिष्ठति वित्तवताम्। तथा तेषु भगवान्भगवति च ते। अतस्त एव जानन्ति नाऽन्य इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—**निवृत्तगुणवृत्तय** इति। निवृत्ता गुणा येषां ते निवृत्तगुणाः। तैर्वर्तनं यस्य, तेषु वृत्तिर्यस्येति वा। "**हरिर्हि निर्गुण**"। "**मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतमि**"ति च भगवद्वाक्यात्। अतो निर्गुणगम्ये न सगुणगम्यत्वम्। यथा चक्षुर्गम्ये न रसनागम्यत्वम्। तत्राऽपि हेतुः—**आत्मारामायेति**। आत्मन्येवाऽऽरामो यस्य। अनेन स्वापेक्षाभाव उक्तः। परापेक्षायामपि— **शान्ताय**। शान्तरूपत्वान्न क्रूरैरपेक्ष्यत इत्यर्थः। किञ्च। यैरपेक्ष्यते तैर्मोक्षार्थमपेक्ष्यते। नियतफलत्वात्तस्य। अन्यत्तु काकतालीयं कथञ्चिद्भवति। अतो मोक्षपतित्वान्मुक्त्यधिकारिभिरेव सेव्यो नाऽन्यैरित्यर्थः ॥२६।

व्याख्यार्थ—श्लोकस्य 'अकिञ्चन वित्ताय' में अकिञ्चन वित्त के दो अर्थ है। पहला अकिञ्चन निर्धन ही जिनका धन है ऐसे भगवान् हैं। द्वितीय अकिञ्चनों (निर्धनों) के धन भगवान् है। धनिक लोग हृदय में धन का ही चिन्तन करते है और उनकी बाह्य क्रिया भी धन सम्बन्धिनी होती है। इसी प्रकार भगवान् के हृदय में भक्तों का ही चिन्तन रहता है तथा बाह्यक्रिया भी भक्तों के लिये ही होती है। ऐसे ही भक्त भी हृदय में भगवान् का ही चिन्तन करते है। और भक्तों की बाह्य क्रिया भी भगवत्सम्बन्धिनी ही होती है। अतः ऐसे भक्त ही उसे जानते है दूसरे नहीं इसमें हेतु कहते हैं कि 'निवृत्त गुण वृत्तये' जिनके गुण निवृत्त हो गये है। अर्थात् जो निर्गुण हैं उनके

ऐसी मानस भावना बढ़ती है उससे वह मानस भार दैहिक भार की तरह हो जाता है। भगवान् के पृथ्वी पर आने पर चित्त भगवान् में लग जाता है जिससे उद्वेग कराने वालों का विस्मरण हो जाता है तो भार उतरा हुआ माना जाता है। अर्थात् भगवान् में चित्त लग जाने से उपद्रुत करने वाले का पृथ्वी को भान नहीं रहता। इससे भार उतरना माना जाता है। बुद्धि से ही भार माना जाता है और वह बुद्धि यदि भार नहीं मानती है तो भार उतरा हुआ माना जाता है। शीघ्र प्रतीकार आवश्यक है इस बात को दृष्टान्त से कहते हैं कि 'नाव इवोदधौ' समुद्र में डूबती हुई नौका का शीघ्र भार उतारना आवश्यक होता है। इसी प्रकार यहां भी शीघ्र पृथ्वी का भार उतारना आवश्यक है। नाव और समुद्र के उदाहरण से यह बताया है कि काल विषम है वह भी पृथ्वी को डुबाने का कारण है। जैसे तरङ्ग आदि समुद्र आदि का (आधार का) दोष रूप है वैसे ही धर्मक्षय आदि होना काल का दोष है। पृथ्वी का काल आधार है। अतः काल के सम्बन्ध से पृथ्वी का भी सदोष होना सम्भव है। अतः शीघ्र प्रतीकार करना चाहिये। यदि शीघ्र प्रतीकार न किया गया तो पृथ्वी के मग्न हो जाने से उसका पुनः उद्धार करना पड़ेगा और ब्रह्मा को सृष्टि भी फिर से करनी होगी। इसी आशय से श्लोक में कहा गया है कि ब्रह्मा की प्रार्थना से आप पधारे हैं। अर्थात् ब्रह्मा को पुनः सृष्टि करने का आयास होगा। इससे ब्रह्मा ने प्रार्थना की और आप पधारे। 'आत्मभुवा' इस पद का तात्पर्य यह भी है कि भगवान् से ब्रह्मा पैदा होते हैं। यदि सृष्टि नहीं रहती है तो अपने से उत्पन्न होने वाला ब्रह्मा भी नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में भगवान् को भी ब्रह्मा को पैदा करना पड़ेगा। पृथ्वी स्त्री एवं ब्रह्मा पुत्र की प्रार्थना से पृथ्वी का भार उतारा है। इससे यह सिद्ध है कि भार को उतारने के लिए भगवान् को स्वयं अवतार लेना अभिप्रेत नहीं था। भार के दुःख से यदि पृथ्वी विशीर्ण हो जाती है तो पुनः इसका निर्माण करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में एक देश पृथ्वी का निर्माण होना असम्भव होने से पूर्ण रूप से नूतन ब्रह्माण्ड का निर्माण भी करना पड़ेगा। अतः भगवान् ने पृथ्वी का भार उतारा। शंका करते हैं कि पृथ्वी का भार उतारना ही भगवान् के पधारने का प्रयोजन नहीं है किन्तु देवताओं का हित करना आदि भी प्रयोजन है तो एक भूभारहरण ही प्रयोजन बताना कैसे संगत हो सकता है तो कहते हैं कि यह एक प्रधान प्रयोजन है और इतर प्रयोजन प्रासङ्गिक है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के होने से प्रयोजनानुसार भिन्न भिन्न अवतार माने जायेंगे। ३३।

आभास—एतेषां पक्षाणां पूर्वपक्षत्वान्न पर्यवसानकथनम्। केचन पुनर्भगवद्विचारेण त्रैवर्गिकार्थस्य हीनत्वं विचार्य भगवत्क्रियमाणेनैव हेतुना सर्वमुक्त्यर्थं भगवदवतार इत्याहुः। तदाह—

आभासार्थ—ऊपर के श्लोकों से बताये गये जो अवतार लेने के पक्ष हैं वे सब पूर्वपक्ष हैं इसलिए उनमें अन्तिम प्रयोजन नहीं कहा गया। कितने ही कहते हैं कि भगवान् के स्वरूप का विचार किया जाय तो भगवत्स्वरूप की अपेक्षा धर्म, अर्थ, काम जो हीन हैं उनके सम्पादन के लिए भगवान् अवतार लेते है ऐसा कहना ठीक नहीं होगा। इस विचार से भगवान् के किये गये कर्म उन से होने वाले ही श्रवण कीर्तन आदि हेतु से सबकी मुक्ति के लिए भगवान् का अवतार होता है कोई ऐसा कहते हैं। इसी बात को कहते हैं। आशय यह है कि भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं उनसे श्रवण कीर्तन आदि प्रारम्भ होते हैं। जिनसे सबकी मुक्ति होती है। यदि भगवान् अवतार

न लें तो श्रवण कीर्तन का कोई अवलम्बन न होने से सबकी मुक्ति नहीं होगी । अतः भगवान् अवतार लेकर सबकी मुक्ति के लिए लीला के द्वारा श्रवण कीर्तन आदि का प्रचार करते हैं यही कहते हैं—

श्लोक—**भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ।**
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ।।३४।।

श्लोकार्थ—कोई ऐसा कहते हैं कि स्वरूपाज्ञान विषयेच्छा एवं कर्मों से जिसमें उत्पत्ति आदि होते रहते हैं ऐसे जगत् में दुःख पा रहे जीवों के श्रवण स्मरण के योग्य चरित्र करने के लिए भगवान् अवतीर्ण होते हैं ।।३४।।

सुबोधिनी - **भवेऽस्मिन्निति** । स्वाभिप्रेतत्वं तु स्वरूपनिरूपण एवोक्तम् । **मुक्तिप्रकरणे** श्रवणादीनां धर्मत्वं न भक्तित्वमिति विशेषः । **भव इति** निरन्तरोत्पत्तिमार्गादुगमनेन । **अस्मिन्निति** । अनेकदुःखप्रदर्शनात्स्थित्या च क्लेशस्याऽसह्यता निरूपिता । अविद्या स्वरूपाऽज्ञानम् । ततः कामो विषयेच्छा । न हि परमानन्दे स्फुरति विषयेच्छा भवति । ततस्तदर्थं त्रिविधानि कर्माणि । श्रवणादेः कर्मणोऽविद्याकामकर्मनिवर्तकत्वं पञ्चमाध्याये निरूपितम् । श्रवणस्मरणयोर्भगवद्धर्मपरत्वे प्राकृतबाह्याभ्यन्तरसङ्गाभावान्न जन्मक्लेशः । अर्थविवक्षया च स्थितौ सर्वस्य भगवत्त्वेन ज्ञानान्न दुःखदर्शनक्लेशोऽपि । अन्यथा परमकारुणिको भगवान् कूपेऽन्धपातनन्यायेन लोकानां त्रैवर्गिकसिद्धये नाऽवतरेत् । दृढमूलत्वज्ञापनाय त्रिविधतापपदं परित्यज्याऽविद्यादिपदप्रयोगः कृतः । अहेतुकक्लेशप्रदर्शने तु निर्मूलकत्वात्स्वत एव दुःखनाशो भवेदिति श्रवणादीनां वैयर्थ्यं स्यात् । अतो भगवान्मुक्त्यर्थमेवाऽवतीर्ण इति सिद्धम् । अवतीर्ण एव भगवत्यर्हता भवति श्रवणादिविषयस्य ।३४।

व्याख्यार्थ—कुन्ती को जो प्रयोजन अभिप्रेत है वह 'तथा परमहंसानाम्' श्लोक से कहे गये भगवान् के स्वरूप के निरूपण में ही कह दिया । अर्थात् आप भक्तियोग के प्रचारार्थ पधारते हैं । ऐसा उस श्लोक में प्रयोजन बताया गया है । वह कुन्ती को अभिप्रेत है । तथा 'परमहंसानाम्' श्लोक में आये हुए भक्तियोग पद से श्रवण कीर्तन आदि ही विवक्षित है और यहां भी श्रवण कीर्तन आदि कहे गये हैं तो यहां भी कहे गये श्रवण कीर्तन आदि को पूर्वपक्ष में कैसे मान लिया ? इस आशंका पर कहते हैं कि यहां निरूपित हुए श्रवण स्मरण आदि मुक्ति के अङ्गभूत है अर्थात् यहां श्रवण स्मरण मुक्ति के लिए ही कहे गये हैं इसलिए धर्मरूप है । वे निष्काम न होने से भक्तिरूप नहीं कहे जाते । 'तथा परमहंसानाम्' में श्रवण स्मरण आदि को भक्तिरूप में कहा गया है और यहां धर्मरूप में उन्हें कहा है इसलिए यहां कहे गये श्रवण स्मरण आदि का पूर्वपक्ष कोटि में प्रवेश होता है । श्लोक में भवे पद दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि 'जायस्वम्रियस्व' इत्यादि से कहा गया जो निरन्तर उत्पत्ति का मार्ग है उसको प्राप्तकर निरन्तर जन्म लेने से दुःखी । श्लोक में 'अस्मिन्' पद देकर यह बताया कि यह जिसमें कि अनेक दुःखों की अनुभूति हो रही है 'क्लिश्यमानानाम्' में वर्तमानार्थक शानच् प्रत्यय है इसलिए उन दुःखों में उनको वर्तमान में रहना बताया । ऐसा कहने से क्लेश असह्य है ऐसा निरूपण किया गया । श्लोक में 'अविद्या' पद से स्वरूप का अज्ञान कहा गया है । स्वरूप भूल जाने पर विषयों की इच्छा होती है । जिसे श्लोक में काम पद से कहा गया

है। परमानन्द प्रभु की स्फूर्ति होने पर जिनमें साधारण एवं क्षणिक आनन्द है ऐसे विषयों की इच्छा नहीं होती। उन विषयों की इच्छा के लिए सात्त्विक राजस तामस कर्म किये जाते हैं। भगवान् के लिए होने वाले श्रवण स्मरण आदि कर्म अविद्या विषयेच्छा एवं कर्म की निवृत्ति करने वाले है। यह पञ्चमाध्याय 'एवं नृणां क्रियायोगाः' श्लोक में निरूपण किया गया है। श्रवण और स्मरण यदि भगवत्सम्बन्धी होते हैं तो श्रवण से प्राकृत बाह्य संग नहीं होता और स्मरण से भीतरी संग नहीं होता। जिसके न होने से जन्म लेने का क्लेश भी नहीं होता। भगवान् के अर्थ प्रयोजन) की विवक्षा से भगवान् के अवतीर्ण होने पर सभी को यह भगवान् है ऐसा ज्ञान हो जाता है जिससे दु.ख देखने का क्लेश नहीं होता। अवतार का प्रयोजन यह न होकर लोगों को धर्म अर्थ काम प्राप्ति कराना प्रयोजन हो तो कुए में अन्धे को गिराने की तरह धर्म, अर्थ, काम में फँसाने से भगवान् का भी उसी प्रकार का कार्य होगा। किन्तु वह परमदयालु है इसलिए धर्म, अर्थ, काम में फँसाने (आसक्ति कराने) के लिए अवतीर्ण नहीं होता। श्लोक में त्रिविध ताप न देकर 'अविद्या काम कर्मभिः' ऐसा कहा है इसलिए क्लेश दृढ़ मूल है क्योंकि वे दु.ख अविद्या काम कर्म से होते हैं। यदि बिना कारण के ही वे क्लेश होवे तो उनका कोई मूल न होने से उन दु.खों का स्वतः नाश हो जायगा। तो उस दुःख नाश के लिए श्रवण आदि करना व्यर्थ होगा। अतः भगवान् मुक्ति के लिए ही अवतीर्ण हुए हैं यह बात सिद्ध हुई। अर्थात् अवतार लेकर लीला करता है तो उसके श्रवण स्मरण सम्भव हो जाते हैं ।।३४।।

आभास—एव जन्मकारणनिर्द्धारमुक्त्वा फलनिर्द्धारमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के जन्म के कारण का निर्धार कर फल का निर्धार कहती है—

श्लोक—**शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।**
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ।।३५।।

श्लोकार्थ—जो मनुष्य आपके चेष्टित को बार-बार सुनते हैं, उपदेश देते हैं गाते हैं, स्मरण करते हैं तथा आनन्दित होते हैं वे ही जन्म परम्परा के निवर्तक आपके चरणारविन्द का जल्दी ही दर्शन करते हैं ।।३५।।

सुबोधिनी—शृण्वन्तीति। दास्ये हि फलनिर्णयः कर्तव्यः। धर्मादिवद्व्यभिचारिफलत्वे परापराफलत्वे अन्यफलत्वे वा स्वतः सेवां कः कुर्यात्? यद्यपि स्वरूपनिरूपणेनैवैतत्सिद्ध्यति परब्रह्मत्वे भगवतः स्वस्य च जीवत्वे दासत्वाद्दास्यसिद्धिरिति। तथापि योग्यतामात्रं सिद्ध्येन्न फलमुखतया। अतः श्रवणादिभिर्यदि पदं पश्येत्तदैव दास्यं कुर्यादिति युक्तं फलनिरूपणम्। ईहितं चेष्टितम्। भगवत्प्रयत्नमन्तनिष्पन्नामित्यर्थः। तवेत्यवतीर्णस्य। यथा सर्वे पदार्था जगति तत्र तत्र सिद्धास्तथा सन्तो भगवत्कथा च गङ्गावद्देशविशेषे नियताः। तथा च गङ्गायां स्नायादित्यत्र न गङ्गायामागतायां स्नायादिति किन्तु स्वयमुद्यम्य तीर्थमुद्धृत्य महता प्रयत्नेनाऽन्तः प्रविश्य स्नायादिति। एवमत्राऽपि वक्तरि सति शृण्वन्तीति न किन्तु सतां स्थाने गत्वा यथा वदन्ति तथोपायं

विधाय समनस्केन्द्रियैः सम्यक्शक्तितात्पर्यनिर्णयः कर्तव्य इत्यर्थः । कृते च निर्णये तदानन्दे हृद्याविर्भूते रसेन गायन्ति । ततो रसपरवशाः सन्तोऽन्यान्कांश्चित्पुरस्कृत्य गृणन्ति उपदिशन्ति । एतेषां हेतुहेतुमद्भावोऽग्रे वक्तव्यः । ततः सर्वेषां पदार्थानां भगवत्सम्बन्धित्वेन श्रुतत्वाद्यं कञ्चन पदार्थं दृष्ट्वा ईहितमेव स्मरन्ति । ततः स्वतन्त्रफलत्वादानन्दहेतुत्वाच्च स्वत एव नन्दन्ति । अन्तरानन्दयुक्ता भवन्तीत्यर्थः । एवं श्रवणकीर्त्तनानि सावान्तरफलानि निरूपितानि । अतो महाफलनिरूपणाय अवान्तरफलवतामेव महाफलमिति निरूपयति—त एव पश्यन्तीति । **अचिरेणेति** पदादेवाऽयोगो व्यवच्छिन्नः । कालस्याऽहेतुत्वादेव न कालविलम्बो बाधकः । यथा कश्चित्समुद्रे मज्जन् तीरं पश्येत्तथा भवप्रवाहस्योपरमो यत्र तादृशं तीरभूतं पदाम्बुजं पश्येत् ॥३५॥

व्याख्यार्थ— दास्य भक्ति का क्या फल होता है । इसका निर्णय करना है । जैसे धर्म आदि का फल कदाचित् होता है । कदाचित् नहीं । ऐसे ही दास्य भक्ति का फल कदाचित् हो कदाचित् न हो तो स्वतः पुरुषार्थ रूप सेवा को कौन करेगा । इसी प्रकार दास्य भक्ति का धर्मादि की तरह परम्परया फल होना माना जाय तथा भगवान् से अलग फल माना जाय तो स्वतः पुरुषार्थ रूप सेवा कौन करे । 'नमस्ये पुरुषं त्वाद्यम्' आदि से यद्यपि भगवान् के स्वरूप का निरूपण हुआ है उससे ही स्वतः दास्य भक्ति हो सकती है । क्योंकि स्वरूप ज्ञान करने पर यह ज्ञान हो जायगा कि भगवान् परब्रह्म हैं और मैं जीव होने से दास हूं तो इससे दास्य भक्ति सिद्ध हो सकती है । तो उसके लिए फल निरूपण करने की क्या आवश्यकता है । तो कहते हैं कि भगवान् को परब्रह्म एवं अपने को जीव समझने पर दास्य भक्ति की योग्यता मात्र होती है । किन्तु फल अवश्य मिल जाय ऐसी दास्य भक्ति नहीं होती । अतः श्रवण आदि से यह मानना चाहिये कि जब भगवान् के चरणारविन्द के दर्शन कर लेता है तभी दास्य भक्ति करता है । अतः यहां चरणारविन्द का दर्शन रूप फल कहा । श्लोकस्थ 'ईहितम्' का अर्थ है चेष्टित । अर्थात् भगवान् के प्रयत्न मात्र से होने वाली चेष्टा । श्लोक में आये हुए 'तव' का अर्थ है अवतीर्ण हुए आपका जो श्रवण गान आदि करते हैं वे ही आपके चरणारविन्द को देखते हैं । जैसे जगत् में सभी पदार्थ उस उस स्थान पर मिलते हैं इसी प्रकार संत (साधु पुरुष) और भगवत्कथा गङ्गा की तरह देश विशेष में मिलती है । तो 'गङ्गायां स्नायात्' गङ्गा में स्नान करे इसका अभिप्राय यह नहीं है कि गङ्गा स्वयं अपने पास आवे तब स्नान करे । किन्तु स्वयं प्रयत्न कर वहां जावे और बड़े प्रयत्न से उसमें प्रविष्ट होकर स्नान करे । ऐसे ही यहां यह नहीं होना चाहिये कि वक्ता मिले तब सुने नहीं तो नहीं सुने । श्रोता को स्वयं सत्पुरुषों के स्थान में जाना चाहिये और जैसे वे कहे वैसा उपाय कर मन सम्बद्ध इन्द्रियों से उन कथा आदि का भली प्रकार शक्ति तात्पर्य निर्णय करे । वाक्यों के शक्ति तात्पर्य के निर्णय के होने पर सुनी हुई लीलाओं का आनन्द हृदय में आविर्भूत होता है । तदनन्तर रस (आनन्द) के साथ गाने लगते हैं । उन लीलाओं के आनन्द से परवश हुए किन्हीं दूसरे श्रोताओं को आगे कर उन कथा आदि का उपदेश देते हैं वे ही भगवच्चरणारविन्द को देखते है । इन श्रवण आदि के हेतुहेतुमद्भाव को आगे कहेंगे । अर्थात् श्रवण होगा तब गान करेगा और गान होगा तब उपदेश होगा यह आगे कहेंगे । सब पदार्थों को भगवत्सम्बन्धी रूप में सुनने से जिस किसी पदार्थों को देखकर भगवान् के चेष्टित का ही स्मरण करते हैं । तदनन्तर स्वतन्त्र फल रूप होने से तथा आनन्द का कारण होने से स्वतः एव भीतर आनन्द युक्त होते हैं । इस प्रकार स्मरण आनन्द रूप जो अवान्तर फल है उनके सहित श्रवण, कीर्तन और गान आदि का निरूपण किया । श्रवणादि से बड़ा फल मिलता है इसका निरूपण

करने के लिए स्मरण एवं आनन्द रूप अवान्तर फल वालों को ही बड़ा फल मिलता है यह कहती है। 'त एव पश्यन्ति' वे ही भगवच्चरणारविन्द के दर्शन करते हैं। श्लोकस्थ 'अचिरेण' पद से उस महाफल का सम्बन्ध नहीं होता यह बात नहीं है किन्तु महाफल मिलता ही है। इसमें काल कारण नहीं है। इसलिए काल विलम्ब भी बाधक नहीं है। इस बात को भी अचिरेण यह पद सूचित करता है। जैसे कोई समुद्र में डूबता हुआ तीर को देखे इसी प्रकार जन्म प्रवाह का जहां उपरम (विश्रान्ति) होता है ऐसे तीर रूप भगवच्चरणारविन्द देखता है तात्पर्य यह है कि समुद्र में डूबते हुए को जब तीर दीख जाता है तब उसे जैसे शांति होती है उसी प्रकार भगवच्चरणारविन्द को देखने से भव प्रवाह का उपरम होने से शान्ति मिलती है ॥३५॥

आभास—एवं फलं निरूप्य दैन्यं निरूपयति **अप्यद्येति** चतुर्भिः—

आभासार्थ – इस प्रकार भगवच्चरणारविन्द को देखता है इस फल का निरूपण कर 'अप्यद्य' आदि चार श्लोकों से दीनता का निरूपण करती है—

श्लोक—अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः।
येषां न चाऽन्यद्भवतः पदाम्बुजात्परायणं राजसु योजितांहसाम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे भक्तों के कार्य करने वाले भगवन्! क्या आप हमें आज ही छोड़ना चाहते हैं? हे सर्वसमर्थ! आप समर्थ होने से छोड़े बिना भी कार्य कर सकते हैं। हम जो शुद्ध हृदय और दास हो गये हैं और हमने राजाओं का अपराध भी किया है इसके लिए आपके चरणारविन्द के सिवाय हमारा कोई आश्रय नहीं है ॥३६॥

सुबोधिनी—सख्ये हि दैन्यनिवृत्तिः। दैन्यं ह्यन्तःकरणधर्मः। स यदा स्फुरति स दीनः। स च त्वयि सति विषयाभावे न स्फुरितः। इदानीं पुनः प्राप्ते विषये त्वद्गमनं भावयन्नेव स्फुरितः। तस्मादस्मान्दीनान्मा त्यजेति प्रार्थयते। अन्यदा हि भगवान् कार्यं सशेषं कृत्वा गच्छति। इदानीं कार्यस्य निःशेषत्वात्पुनर्नाऽऽगमिष्यतीति प्रायेणाऽस्मांस्त्यक्त्वा गच्छति। **हे स्वकृतेहित!** स्वानामेव कृतं कार्यं तस्मिन्नेव ईहितं यस्य। भक्तकार्यकर्तेत्यर्थः। त्वदपरित्याग एवाऽस्मत्कार्यं तत्रैव तवेहितं भवत्विति भावः। **अपीति** सम्भावनायाम्। **अद्येति**। किमस्मत्त्यागदिनमित्यर्थः। नः अस्मान्। अथवा। नस्त्वमिति। परित्यागः सर्वथा भाव्य इति न वक्तव्यम्। अन्यथाऽपि त्वया कर्तुं शक्यत इति। **प्रभो! जिहाससि स्वित्?** स्विदिति किमित्यर्थे। एतावता कालेन वयं शुद्धहृदया जाताः। परिग्रहदशायां च कथं त्यागः। किञ्च। दासाश्च जाताः। अनु पश्चाज्जीवोऽस्याऽस्तीत्यनुजीवी। दूरे गते जीवनमेव न भविष्यतीत्यर्थः। किञ्च। येषामस्माकं तव पदाम्बुजव्यतिरेकेण नाऽन्यत्परायणमस्ति। तत्र हेतुः—राजसु सर्वेषु योजितांहसां योजितापराधानाम्। इदानीं वयं सर्वविरोधिनो जाताः। अतस्त्वद्रक्षाव्यतिरेकेण न जीवाम इत्यर्थः ॥३६॥

व्याख्यार्थ– सख्य भक्ति होने पर समानता होने के कारण दीनता नहीं रहती। दीनता अन्तःकरण का धर्म है। वह धर्म जब प्रकट होता है तब वह दीन कहलाता है। वह दीनता रूप

धर्म आपके पास रहने पर और दुःखों के नहीं होने पर स्फुरित नहीं हुआ । इस समय पुनः दुःखों के प्राप्त होने पर और आपके पधारने की भावना करने पर वह दैन्य धर्म स्फुरित हुआ । इसलिए हम दीनों को आप न छोड़ें यह प्रार्थना है । अन्य समय में आप कुछ कार्य को शेष रखकर जाते थे और इस समय कार्य को सम्पूर्ण करके जा रहे हैं इमलिए पुनः नहीं पधारेंगे । अतः प्रायः हमें छोड़कर जा रहे हैं । श्लोक में 'स्वकृतेहित:' यह भगवान् का मम्बोधन है । इसका अर्थ यह है कि अपने भक्तों के ही कार्य करने के लिए जिसकी चेष्टा है अर्थात् कुन्ती कहती है कि आप भक्तों के कार्य करने वाले हैं । आपके नहीं छोड़ने पर ही हमारा कार्य होता है । इसलिए आपकी भी चेष्टा इसी प्रकार की होनी चाहिये । श्लोकस्थ 'अपि' का अर्थ है सम्भावना । क्या मैं ऐसी सम्भावना करूं कि आप हमें छोड़ना चाहते हैं । 'अद्य' का अर्थ है क्या हमको छोड़ने का दिन आज है । श्लोकस्थ 'न:' का अर्थ है हमें जब त्वम् का अन्वय 'जिहाससि' में होता है तो क्या हमें तुम छोड़कर जाना चाहते हो । अथवा 'नस्त्वम्' का साथ में अन्वय रखते हैं तो आप हमारे हो तो क्या हमें छोड़ना चाहते हो ? यह अर्थ होता है । आप कहें कि किसी काम के लिए परित्याग तो सर्वथा होगा हो तो अभी परित्याग क्यो न किया जाय ? इस पर कुन्ती कहती है कि बिना परित्याग के भी तो आप सब कुछ कार्य कर सकते हैं । इसी बात को 'प्रभो' यह सम्बोधन कहता है । श्लोक में 'स्वित्' का अर्थ है क्या । श्लोकस्थ 'सुहृद:' का विग्रह यह है कि 'सुष्ठु हृदयानि येषां ते सुहृदः तान् सुहृद:' उक्त विग्रह से सुहृद का अर्थ है शुद्ध हृदय अर्थात् इतने समय बीतने पर अब हम शुद्ध हृदय बने हैं । शुद्ध हृदयों का परितः ग्रहण किया जाता है और स्वीकार किया जाता है तो ऐसी स्थिति में हमारा त्याग क्यों कर रहे हैं । श्लोकस्थ 'अनुजीविन:' का अर्थ है दास । अनुजीवी शब्द का तात्पर्य यह है कि जो अनुजीवी होते हैं उनका जीवन स्वामी के पीछे ही रहता है । अर्थात् स्वामी के रहने पर ही उनका जीवन रहता है और स्वामी के नहीं रहने पर उनका जीवन नहीं रहता । ऐसी स्थिति में आपके दूर पधार जाने पर हमारा जीवन ही नहीं रहेगा । क्योंकि हम आपके अनुजीवी हैं । आपके चरणारविन्द के अतिरिक्त हमारा कोई आश्रय नहीं है । इसमें कारण यह है कि सब राजाओं का हमने अपराध किया है इसलिए इस समय वे सब विरोधी हो गये हैं । अतः आपसे अरक्षित हम जीवित नहीं रह सकते ।।३६।।

श्लोक—**के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः ।**
भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः ।।३७।।
नेयं शोभिष्यते तत्र यथेदानीं गदाधर ।
त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः ।।३८।।

श्लोकार्थ—हे भगवन् ! आपके दर्शन के बिना यादवों सहित पाण्डवों का महत्व न रहने से उनकी कोई ख्याति नहीं रहती । जैसे प्राणों के नहीं रहने पर इन्द्रियों की कोई सत्ता नहीं रहती वैसे ही आपके दर्शनों के बिना हमारी कोई सत्ता नहीं है ।।३७।।

श्लोकार्थ—हे गदाधर ! जिस प्रकार वज्रादि चिन्हों से चिन्हित आपके चरणारविन्द से अङ्कित यह पृथ्वी इस समय जैसी शोभित हो रही है वैसी आपके पधारने पर शोभित नहीं होगी ।।३८।।

सुबोधिनी—न च वयं स्वभावत एव महान्त इति शङ्कनीयम् । त्वद्दर्शनेनैव हि महत्त्वम् । अन्यथा के वयं नाम्ना रूपेण च विख्याता यदुभिः सहिताः पाण्डवाः । यर्हि-भवतः अदर्शनम् । नाम च रूपं च गमिष्यतीत्यर्थः । यदुत्वं पाण्डवत्वं च । तत्र हेतुभूतं दृष्टान्तमाह । हृषीकाणामिन्द्रियाणा-मीशितुः प्राणस्याऽदर्शने । एकैकेन्द्रियव्यतिरेकेणाऽन्धा बधिरा इव जीवन्ति । प्राणे तु गते सर्वमेव गच्छेदित्यर्थः । किञ्च । अयं देशोऽपि न सुखदो भविष्यति । यथेदानीं त्वत्पदैरङ्किताऽतिशोभायुक्ता भाति । इयमेवाऽग्रे न शोभिष्यते । स्वानि असाधारणानि लक्षणानि ध्वजादीनि तैर्विशेषेण लक्षितैः । शोभा हि सर्वा त्वत्सम्बन्धाधीना । गदाधरेति भूमेः पादस्पर्शे सात्त्विकभावस्वेदोद्गमे कर्दमत्वं भवति । कर्दमे च क्षेत्रे सर्वोऽपि साधारो गच्छतीति गदाधरत्वमुक्तम् । इदमलौकिकं मया दृश्यत इति तथा सम्बोधनम् ।।३७।।३८।।

व्याख्यार्थ— आप यह विचार न रखें कि हम स्वभावतः महान् हैं । जिससे हम स्वतः अपनी रक्षा कर सकें । हम आपके दर्शन कर रहे हैं इसलिए महान् हैं । अन्यथा यादव और पाण्डव जो नाम तथा रूप से प्रसिद्ध हैं वे आपके दर्शनों के बिना कुछ भी नहीं हैं । अर्थात् आपके दर्शन नहीं होने पर हमारे नाम और रूप दोनों नहीं रहेंगे । यादवों का यदुत्व और हमारा पाण्डवत्व भी चला जायगा । उसमें हेतुभूत दृष्टान्त कहते हैं कि 'हृषीकाणामिवेशितुः' इन्द्रियों के स्वामी प्राणों के नहीं दीखने (नहीं रहने) पर किसी भी इन्द्रिय की सत्ता नहीं रहती । एक-एक इन्द्रिय के नहीं रहने पर अन्ध और बधिर की तरह जीवित रहते हैं । प्राणों के चले जाने पर तो सब कुछ चला जाता है । अर्थात् जीवन भी नहीं रहता । एक बात यह भी है कि आपके परित्याग के अनन्तर यह देश भी सुखद नहीं होगा । यह पृथ्वी जैसे इस समय आपके चरणारविन्दों से अति शोभायुक्त प्रतीत हो रही है । पीछे आपके परित्याग करने पर यह शोभित नहीं होगी । आपके असाधारण चिन्ह जो ध्वजा आदि हैं उनसे मालूम पड़ने वाले जो आपके चरणारविन्द उनसे अति शोभित यह पृथ्वी आपके सम्बन्ध से शोभायुक्त है । अर्थात् आपके सम्बन्ध से ही सब शोभा है । कुन्ती ने जो गदाधर सम्बोधन दिया है उसका अभिप्राय यह है कि हे भगवन् ! आपके चरणारविन्द का स्पर्श जब भूमि को होता है तो उसमें आपके पति होने के कारण पृथ्वी मे सात्त्विक भाव का उदय होने से स्वेद (पसीना) होता है जिससे कीचड़ हो जाता है । कीचड़ वाले प्रदेश में सभी लोग किसी लकड़ी आदि सहारे को लेकर ही चलते हैं । आपके चरणारविन्द के सम्बन्ध से पृथ्वी में कीचड़ हो गया है इसलिए आपको गदा का सहारा आवश्यक है यह बात मैं अलौकिक देख रही हूँ । अ [illegible] आपके चरणारविन्द का जहां-जहां स्पर्श हो रहा है वहां वहां कीचड़ हो रहा है और उसमें चलने के लिए आपने गदा धारण की है ।।३७।।३८।।

आभास— किञ्च । सर्वेऽपि शत्रुजयेन प्राप्ता देशा नाऽस्माकं सुखकरा भविष्यन्ति । अग्रे सस्याद्यभावात् । इदानीं तु सस्यादिसम्पत्तिर्भवद्दर्शनाधीनेत्याह—

आभासार्थ— और एक बात यह भी है कि शत्रुओं को जीतने से प्राप्त हुए सभी देश हमें सुखकर नहीं होगे । क्योंकि आपके नहीं विराजने पर सस्य (धान्य) आदि उत्पन्न नहीं होंगे । इस समय सस्यादि सम्पत्ति आपकी दृष्टि पड़ने से है इसी बात को कहती है—

श्लोक—**इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः ।**
वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षितैः ॥३९॥

श्लोकार्थ— आपके देखने से अच्छे पके हुए चावल आदि तथा द्राक्षादि से युक्त ये देश सुसमृद्ध हैं और वन, पर्वत, नदियाँ तथा समुद्र बढ़ रहे हैं ॥३९॥

सुबोधिनी—**इमे जनपदा इति** । इमे जनपदा देशाः सुष्ठु ऋद्धाः । सुष्ठु पक्वा ओषधयो व्रीह्यादयो वीरुधो द्राक्षादयश्च येषाम् । वनानि अद्रयो नद्य उदन्वन्तश्च तवैव वीक्षितैरेधन्ते । तस्मात्त्वत्परित्यागे न किञ्चिद्भविष्यतीत्यर्थः ॥३९॥

व्याख्यार्थ—आपके सम्बन्ध से देश अच्छे समृद्ध हैं । चावल आदि औषधियां तथा द्राक्षा आदि अच्छे पके हुए हैं । वन, पर्वत, नदियां तथा समुद्र आपकी दृष्टि पड़ने से बढ़ रहे हैं इसलिए आपके परित्याग करने पर ऊपर कही हुई ये बातें नहीं रहेगी ॥३९॥

आभास— एवं बहिर्मुखतया दैन्यं प्रतिपाद्य अन्तर्मुखतया भिन्नप्रक्रमेण द्वयं प्रार्थयते **अथेति** द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—इस प्रकार बाहरी बातों का चिन्तन करने से बहिर्मुख रूप से दीनता का प्रतिपादन कर अन्तर्मुख से भिन्न प्रकार से 'अथ' इत्यादि दो श्लोकों से दो बातों की प्रार्थना करती है—

श्लोक— **अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्त्ते स्वकेषु मे ।**
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु ॥४०॥

श्लोकार्थ—हे विश्व के स्वामी ! हे विश्वरूप ! हे विश्व के आधार ! अपने आत्मीय पाण्डवों में तथा यादवों में जो मेरा दृढ़ स्नेह पाश है उसे काटिये ॥४०॥

सुबोधिनी—द्वयमेव हि साध्यम् । असङ्ग आत्मव्यतिरिक्ते, भगवति रतिश्च । तत्राऽऽत्मव्यतिरिक्तेऽसङ्गो विचार्यते । किमात्मव्यतिरिक्तं किञ्चिदस्ति न वेति ? अस्तित्वे भगवतः सर्वात्मत्वं भज्येत । नास्ति चेत् ? केन सहाऽसङ्गः । ननु प्रतीतेनेति चेत् ? तत्प्रतीतं भगवानन्यो वा ? उभयथाऽपि पूर्वोक्त एव दोषः । अन्यथात्वेन प्रतीतेनेति चेत् ? यद्यपि तत्रापि पूर्ववद्विकल्पः सम्भवति तथाऽपि ज्ञानिनोऽसङ्गो न कर्तव्यः स्यात् । तस्मादेवमेकं रूपं वक्तव्यं, यथा शास्त्रार्थपरित्यागौ सङ्गतौ भवतः । तदाह—**विश्वेश विश्वात्मन्निति** । विश्वं कार्यम् । स्वयं सर्वकारणम् । अत ईशः । अनेन स्वार्थं सर्वं सृजतीति मुख्यसिद्धान्तो ज्ञापितो भवति । ततो भगवदर्थे कृते जगति

स्वस्याऽहन्ताममतायां भगवद्विरोधेन बन्धः स्यात् । "क्रीडार्थमात्मन" इति वाक्यात् । अतो यथा अक्ष्णोरिन्द्रेन्द्राण्योर्लक्ष्मीनारायणयो रमणार्थं निद्रा सृष्टा तथैव परित्यागः सृष्ट इत्यर्थः । इदानीं सर्वात्मत्वं साधयति **विश्वात्मन्निति** । विश्वस्याऽऽत्मा स्वरूपम् । यदेव आत्मत्वेन यदेव न स्फुरति तस्यैव परित्यागः । ननु वस्तुत आत्मत्वे किं स्फुरणेनेति चेत् ? न, यतोऽयमात्मा । उद्देश्यविधेयभावस्योक्तत्वादुद्देश्यस्फुरणे त्यागः । बोधतारतम्य एव सर्वसाधनानामुपयोगात् । न च विश्वात्मत्वमौपचारिकम् । भद्रसेनो ममाऽऽत्मेतिवत् । तत्राऽऽह—**विश्वमूर्त्ते इति** । विश्वं मूर्तौ यस्य । विश्वस्मिन्वा मूर्तिर्यस्य । विश्वं मूर्तिर्यस्य । त्रेधाऽपि नोपचरितं सर्वात्मत्वम् । अत उद्देश्यत्वेन पुत्रादेः स्फुरणात् । स्वच्छकतया च स्नेह उत्पादितः । विधेयदशायां शास्त्रेण स्नेहः क्रियते । तद्विरुद्धशास्त्रैर्नाश्यते । मायाकृतस्तु स्नेहो न भगवद्व्यतिरेकेण अन्यस्मादपगच्छति । **"मामेव ये प्रपद्यन्त"** इति वाक्यात् छेदने पुनर्योजनाभावः । दृढमिति । ग्रन्थित्वादविमोकः ॥४०॥

व्याख्यार्थ—आत्म निवेदन में कही जाने वाली दोनों ही बातें हेतु हैं। अतः दोनों ही सिद्ध करने योग्य हैं। इनमें एक भगवदतिरिक्त में संग न होना। दूसरा भगवान् में प्रीति होना है। इनमें भगवान् से अतिरिक्त में संग न होने का विचार किया जाता है। यहां यह शङ्का होती है कि भगवान् से अतिरिक्त कोई है या नहीं। यदि भगवान् से अतिरिक्त कोई वस्तु हो तो भगवान् सर्वात्मा नहीं कहला सकते। यदि सब भगवद्रूप है तो कुन्ती किसके साथ संग न होने की प्रार्थना कर रही है। भगवद्रूप मानने पर तो किसी का संग दूषित नहीं है। यदि कहें कि यह जो भगवान् से अतिरिक्त रूप में प्रतीत हो रहा है उससे संग नहीं चाहती। परन्तु यह कहना भी युक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रतीत होने वाला भगवद्रूप है या नहीं। यदि प्रतीत होने वाला यह भगवद्रूप नहीं है तो भगवान् सर्वात्मा नहीं हो सकते। यदि प्रतीत भगवद्रूप है तो फिर उससे संग नहीं करने की प्रार्थना संगत नहीं हो सकती। इस प्रकार दोनों पक्षों में दोष आता है। इस पर दोष के निराकरण के लिए यदि यह कहा जाय कि जो अन्यथा रूप (जगद्रूप) में प्रतीत हो रहा है उसके साथ संग न होना कुन्ती चाहती है तो ऐसी स्थिति में भी पूर्ववत् विकल्प का सम्भव है। अर्थात् अन्यथा रूप में प्रतीत होने वाला विश्व भगवद्रूप है या नहीं। यदि भगवद्रूप है तो उसका असंग क्यों चाहा जा रहा है। यदि भगवद्रूप नहीं है तो भगवान् सर्वात्मा कैसे होंगे। ऐसा विकल्प इस पक्ष में भी सम्भव है। ऐसी दशा में सबके भगवद्रूप होने से ज्ञानी के लिए बताया गया असंग भी नहीं होगा। क्योंकि उसके सम्मुख भी सब भगवद्रूप रहेगा। तो शास्त्रों में ज्ञानी को वैराग्य युक्त होना चाहिये इस कथन का विरोध होगा। इसलिए कोई ऐसी बात कहनी चाहिये कि जिससे शास्त्र का अर्थ अर्थात् सब भगवद्रूप है यह कहना तथा इसका परित्याग करना ये दोनों संगत हो सकें। इसी बात को सिद्धि के लिए कहती है कि 'विश्वेश विश्वात्मन्' विश्वकार्य है स्वयं भगवान् सबके कारण हैं। अतएव वे इस विश्व के स्वामी हैं। स्वामी भगवान् अपनी क्रीड़ा के लिए इस सब विश्व को उत्पन्न करते हैं। यह इस विश्वेश पद से बताया गया। जब भगवान् ने अपने लिए जगत् को उत्पन्न किया है तो मानव यदि उसमें अपनी अहंता ममता करता है अर्थात् अपना अधिकार स्थापित करता है तो भगवान् के साथ विरोध होने से जीव को बन्धन होगा क्योंकि भगवान् ने अपनी क्रीड़ा के लिए इसका निर्माण किया है। जैसा कि 'क्रीडार्थमात्मनमिदम्' इससे कहा है। दूसरे की वस्तु पर दूसरा यदि अधिकार स्थापित करता है तो विरोध होता ही है। अतः इन्द्र एवं इन्द्राणी के तथा लक्ष्मी एवं नारायण के रमण के लिए जैसे आँखों में निद्रा उत्पन्न की वैसे ही जीव अपना अधिकार

न करें इसलिए भगवान् ने परित्याग (वैराग्य) को भी उत्पन्न किया है इसलिए कुन्ती कहती है कि मैं पाण्डवों के स्नेह का परित्याग हो ऐसी प्रार्थना करती हूँ । अब कुन्ती भगवान् सर्वरूप हैं 'विश्वात्मन्' से यह सिद्ध करती है । कहती है कि आप विश्व के स्वरूप हैं । जिस किसी का भगवद्रूप से स्फुरण न हो उसी का परित्याग कर देना चाहिये । इस पर शङ्का होती है कि जब विश्व वस्तुत: भगवद्रूप है तो अन्यथा स्फुरण से क्या हो सकता है । वह तो भगवद्रूप ही रहेगा । क्योंकि 'इद सर्वं यदयमात्मा' इस श्रुति से सबको भगवद्रूप बताया है । इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि पुत्र आदि भगवान् हैं ऐसे कहने में पुत्र आदि उद्देश्य होते हैं और इनको भगवद्रूप कहना विधेय है । उद्देश्य तक ही अर्थात् पुत्र हैं ऐसी भावना रहने पर उसका परित्याग कहा है । जितने भी साधन हैं वे ज्ञान तारतम्य के लिए ही हैं । यदि कहें कि भगवान् का विश्वरूप होना औपचारिक (काल्पनिक) है । जैसे लोक में कहा जाता है कि यह भद्रसेन व्यक्ति मेरी आत्मा है । अर्थात् भद्रसेन के पृथक् रहते हुए भी अंत स्नेह से अपना आत्मा कहा जाता है जैसे यह लाक्षणिक प्रयोग है । वैसे ही यह विश्व भगवान् है ऐसा प्रयोग लक्षणा से हो सकता है । इसका उत्तर देते है कि 'विश्वमूर्त्ते' विश्वमूर्ति पद का तीन रूप में विग्रह हो सकता है । 'विश्व मूर्तौ यस्य' विश्व है स्वरूप में जिसके । 'विश्वस्मिन् मूर्तिर्यस्य' विश्व में है स्वरूप जिसका । 'विश्वं मूर्तिर्यस्य' विश्व है मूर्ति जिसकी । इन तीनों विग्रहों में भगवान् का सर्वात्मत्व लाक्षणिक ही आरोपित नहीं है परन्तु मुझे आपके रूप में (भगवद्रूप में पुत्र आदि की स्फूर्ति न होकर उद्देश्य रूप से पुत्र आदि की स्फूर्ति है इसलिए स्नेह पाश के छेदन की प्रार्थना करता हूं । यदि आप कहें कि यदि तुझे इस प्रकार का परिज्ञान है तो स्वत: परित्याग क्यों नहीं कर देती । मुझसे प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता है । इस पर कुन्ती कहती है कि आपकी माया ने पुत्रादि में स्नेह उत्पन्न किया है वह मेरे सामर्थ्य से नहीं मिट सकता अत: आपसे मिटाने की प्रार्थना करती हूं । विश्व भगवद्रूप है ऐसा ज्ञान हो जाने पर शास्त्र से विश्व को भगवद्रूप मानकर उससे स्नेह किया जाता है और पुत्रादि भावना होने पर पूर्व शास्त्रों से विरुद्ध शास्त्र उनमें प्रेम नहीं रखना चाहिये यह कहते हैं । माया से होने वाला स्नेह भगवान् के अतिरिक्त किसी से दूर नहीं हो सकता । मायाकृत दोष तो 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' इस वाक्य के अनुसार भगवच्छरण लेने वालों के ही दूर होते हैं । श्लोक में 'छिन्धि' पद इस तात्पर्य से दिया गया है कि मेरी स्नेह पाश उस रूप में काट दीजिये जिससे पुन: वह जुड़े नहीं । श्लोक में स्नेह पाश का 'दृढम्' यह विशेषण दिया गया हैं । स्नेह पाश की ग्रंथि इतनी दृढ़ है कि वह खुल नहीं सकती । इसलिए उससे छुटकारा पाने की मैं आपसे प्रार्थना करती हूं ।।४०।।

आभास— एवमुद्देश्ये वैराग्यमुक्त्वा विधेये भगवति साक्षादवतीर्णे स्नेहं प्रार्थयते—

आभासार्थ—इस प्रकार उद्देश्य रूप में माने गये पुत्रादि में वैराग्य होना चाहिये ऐसा कहकर विधेय रूप भगवान् के साक्षात् अवतीर्ण होने पर आत्म निवेदन का कारण जो स्नेह है उसको प्रार्थना करती है—

श्लोक—**त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।**
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ।।४१।।

श्लोकार्थ—हे मधुपते ! जैसे गङ्गा अपने प्रवाह का सम्बन्ध समुद्र में अविच्छिन्न रूप से कराती रहती है वैसे ही अन्य ओर न जाने वाली मेरी बुद्धि साक्षात् परमात्मा रूप आपसे अविच्छिन्न रूप से प्रेम करती रहे ॥४१॥

सुबोधिनी—**त्वयि मेऽनन्यविषयेति** । यद्यपि भ्रातृपुत्रत्वेन रक्षकत्वेन च स्नेहोऽस्त्येव । तथापि स देहसम्बन्धेनाऽन्यविषयकः । आत्मसम्बन्धी हि त्वनन्यविषयः । परमात्माऽयमात्माधिष्ठात्री देवतेति मतिः परमां प्रीतिमुद्वहतात् । ज्ञानेन भक्तिर्भवत्वित्यर्थः । प्रतिबन्धकागणनायां रतेर्भगवदभेदे च दृष्टान्तः परम्परासम्बन्धाभावे च । ओघं प्रवाहम् । उदन्वति समुद्रे ॥४१॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि आप भाई के पुत्र हैं तथा रक्षक होने से आप में स्नेह तो है ही तो भी वह स्नेह देह सम्बन्ध से है इसलिए अन्य विषयक है । अर्थात् देह जीवात्मा से भिन्न है । जो देह के सम्बन्धी हैं वे आत्म सम्बन्धी नहीं हैं । भाई बहिन का नाता देह से सम्बन्ध रखता है और रक्षक भी देह का ही होता है इसलिए भाई के पुत्र मानकर स्नेह करना अथवा रक्षक मानकर स्नेह करना देह विषयक होने से अन्य विषयक है । मैं आपको आत्मसम्बन्धी मानकर स्नेह करूं तो वह स्नेह अन्य विषयक न होगा । मैं यह मानूं कि यह परमात्मा आत्मा का अधिष्ठात्री देवता है ऐसा मान कर मेरी बुद्धि आपसे परम स्नेह करे । अर्थात् मैं आपको परमात्मा समझकर भक्ति करूं । मेरी माहात्म्य ज्ञान पूर्वक भक्ति हो । गङ्गा का प्रवाह जैसे समुद्र में मिलता रहता है उसी प्रकार मेरी बुद्धि आपसे सदा सम्बन्ध रखें । गङ्गाजी अनेक प्रतिबन्ध आने पर भी समुद्र में मिले बिना नहीं रहती वैसे ही अनेक बाधायें आने पर भी मेरी बुद्धि आपसे स्नेह विच्छेद न करें । जैसे गङ्गा और उसका प्रवाह एक है इसी तरह भगवान् और भगवान् का स्नेह अभिन्न है । यहां अभेद बताने के लिए गङ्गा और प्रवाह का दृष्टान्त रूप से उल्लेख किया है । गङ्गाजी के प्रवाह का दूसरी नदियों से सम्बन्ध न होकर सीधा समुद्र से ही सम्बन्ध होता है । वैसे ही मेरा सम्बन्ध परम्परया न होकर सीधा आपसे हो हों । इसलिए भी श्लोक में गङ्गा का दृष्टान्त दिया गया है । श्लोकस्थ ओघ का अर्थ है प्रवाह और उदन्वति का अर्थ है समुद्र में ॥४१॥

आभास—एवं नवधा भगवन्तं स्तुत्वा शास्त्रार्थत्वेन नवविधभक्त्यनन्तरं स्नेहे सञ्जाते माहात्म्ये च ज्ञाते पुनः पुनर्भगवदाविर्भावे किं कर्त्तव्यमित्याकांक्षायां माहात्म्यस्मरणपूर्वकं नमनं कर्त्तव्यमिति सिद्धान्तः । तदत्र सर्वं स्तुत्वा उपसंहारे माहात्म्यस्मरणाय बहुधा सम्बोधयन्ती नमस्यति—

आभासार्थ—इस प्रकार नौ प्रकार से भगवान् की स्तुति कर शास्त्र में बताई गई नवविध भक्ति के अनन्तर स्नेह होने पर और माहात्म्य ज्ञान होने पर पुनः पुनः भगवान् का आविर्भाव होता है तो फिर वैसी स्थिति में क्या करना चाहिये इस आकांक्षा पर माहात्म्य स्मरण पूर्वक नमन करना चाहिये । यह सिद्धान्त है । इसलिए भगवान् की स्तुति कर उपसंहार में माहात्म्य स्मरण के लिए अनेक प्रकार से सम्बोधित करती हुई कुन्ती भगवान् को नमस्कार करती है—

श्लोक—**श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभाऽवनिध्रुग्राजन्यवंशदहनाऽनपवर्गवीर्य ।**
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार योगेश्वराऽखिलगुरो भगवन्नमस्ते ।४२।

श्लोकार्थ—हे श्रीकृष्ण ! अर्थात् सुन्दर सदानन्द रूप ! हे अर्जुन के सखा ! हे यादवों में श्रेष्ठ ! हे पृथ्वी के द्वेषी राजाओं के वंश को दग्ध करने के लिए अग्नि रूप ! हे अक्षय वीर्य ! हे गाय आदि निःसाधनों के स्वामी ! हे गाय द्विज तथा देवताओं की पीड़ा को मिटाने के लिए अवतार लेने वाले ! हे योग के स्वामी ! हे सम्पूर्ण के गुरु ! हे भगवन् ! आपको नमस्कार हो ।।४२।।

सुबोधिनी—**श्रीकृष्णेति** नव विशेषणानि । **भगवन्निति** विशेष्यम् । तत्र **श्रीकृष्णेति** स्वरूपम् । "**कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते**" । "**साकारत्वात्तु सौन्दर्यं श्रीशब्देनाऽभिधीयते**" । **कृष्णसखेति** गुणाः । कृष्णो ऽर्जुनः । तस्य सखा । समानशीलव्यसनकथनाद्गाम्भीर्यादयो गुणाः सूचिताः । लीलामाह – **वृष्ण्यृषभेति** । कपटमानुषलीला सूचिता । दुष्टदुर्ज्ञेयत्वमाह—**अवनिध्रुग्राजन्यवंशदहनेति** । न हि भगवज्ज्ञाने इयमवस्था भवेत् । असाधारणं धर्ममाह—**अनपवर्गवीर्येति** । न विद्यते अपवर्गो यस्य तादृशं वीर्यं यस्य । इदं हि पुरुषोत्तमस्याऽसाधारणं चिन्हम् । जन्मकारणनिर्द्धारमाह – **गोविन्देति** । सद्रक्षा अवतारप्रयोजनम् । फलमाह—**गोद्विजसुरार्त्तिहरावतारेति** । गावो द्विजाः सुराश्च तेषामार्त्तिहरोऽवतारो यस्य । अनेन धर्मग्लानिनिवारितरुक्ता भवति । देवतोद्देशेन मन्त्रकरणको हविस्त्याग इति त्रयाणां निरूपणम् । धर्ममूलकत्वादन्येषां न पृथङ् निरूपणम् । दैन्यनिवृत्यर्थमाह—**योगेश्वरेति** । एतदतिदैन्यं यद्योगेन सर्वं क्रियते न स्वत इति । निजप्रार्थनामाह – **अखिलगुरो इति** । प्रमाणसिद्धं मह्यं देयमिति । पूर्वोक्तधर्मत्वान्न सगुणः किन्तु भगवन्निति । "**नमो नम एतावत्सदुपशिक्षितमि**"ति नमस्कारः ।४२।।

व्याख्यार्थ - श्लोक में 'भगवन्' यह विशेष्य है और श्री कृष्ण आदि नौ विशेषण हैं। श्री कृष्ण विशेषण से भगवान् का स्वरूप कहा । उपनिषद् में कहा है कि कृष्ण में जो कृष् है वह सत् अर्थ को बताता है और ण आनन्द अर्थ को बताता है । अर्थात् कृष्ण शब्द का अर्थ है सदानन्द। वह सदानन्द कृष्ण साकार है इसलिए उसके सौन्दर्य को बताने वाला श्री शब्द उसके साथ लगाया गया है । श्लोकस्थ 'कृष्णसख' पद से गुणों का निर्देश किया गया है। कृष्णसख शब्द में जो कृष्ण शब्द है उसका अर्थ अर्जुन है । उसके आप सखा (मित्र) हैं। सखा वही होता है जिसका समान स्वभाव एवं समान व्यसन हो । इसलिए आप दोनों में गाम्भीर्य आदि गुण है । कुन्ती लीला का वर्णन करती है कि 'वृष्ण्यृषभ' यादव वंश में आप श्रेष्ठ हैं इस सम्बोधन से यह सूचित किया कि यादवों में श्रेष्ठ तभी कहलायेंगे जब उनमें आप प्रकट होंगे बिना यादवों में पैदा हुए यादवों में श्रेष्ठ यह व्यवहार नहीं हो सकता है इसलिए यादवों में प्रकट होना आपकी कपटयुक्त मनुष्य लीला है । आप दुष्ट दुर्ज्ञेय हैं । यह 'अवनिध्रुग्राजन्यवंशदहम्' से कहती है । आप पृथ्वी से द्रोह करने वाले राजाओं के वंश को दग्ध (नष्ट) करने वाले हैं । यदि उन राजाओं को भगवान् का ज्ञान होता तो उनकी यह दशा न होती । परन्तु वे दुष्ट थे । इसलिए भगवान् का वे ज्ञान न कर सके । भगवान् के

असाधारण धर्म को 'अनपवर्गवीर्य' से कहती है । अर्थात् आपके पराक्रम की समाप्ति नहीं है । आप अनन्तवीर्य हैं । अनन्तवीर्य होना ही पुरुषोत्तम का असाधारण लक्षण है । जन्म के कारण को गोविन्द पद से बताती है । अर्थात् आप गो के स्वामी हैं इसलिए उनके रक्षक हैं । इस गोविन्द पद से यह सूचित हुआ कि सन्तों की रक्षा के लिए आपका अवतार है । अवतार का फल कहती है कि 'गोद्विजसुरार्त्तिहरावतार' गाय, ब्राह्मण और देवता इनकी पीड़ा मिटाने के लिए आपका अवतार है । इससे यह कहा गया कि जब-जब भी धर्म में ग्लानि होती है तब उसकी निवृत्ति के लिए आप अवतार लेते हैं । यज्ञरूप धर्म में देवता के उद्देश्य से मन्त्रों के द्वारा हवि दी जाती है । धर्मरूप यज्ञ में ये तीन ही प्रधान है । तात्पर्य यह है कि श्लोक में गाय ब्राह्मण और देवता इन तीनों का निर्देश इसलिए किया है कि गायें हवि देती है । ब्राह्मण मन्त्र बोलते हैं और देवता आकर ग्रहण करते हैं । इस प्रकार इन तीनों से यज्ञ सम्पन्न होता है । यदि इन तीनों की रक्षा न हो तो यज्ञरूप धर्म नहीं हो सकता इसलिए इनकी रक्षा के लिए अवतार लेते हैं । ये तीनों धर्म के मूल हैं । इसलिए इनसे अतिरिक्त फलों का पृथक् से निरूपण नहीं किया गया है । आपमें दीनता है यह बात नहीं है क्योंकि आप योगेश्वर हैं । योग के द्वारा चित्तवृत्ति रोकने पर उसमें प्रसन्नता नहीं होती । अतः अति दीनता होती है । भगवान् योग के नियामक हैं इसलिए उन्हें योग से चित्तवृत्ति का निरोध नहीं करना पड़ता है । इसलिए चित्त प्रसन्न रहने से दीनता नहीं रहती । यह यहां के योगेश्वर पद का अभिप्राय है । ऐसा प्रकाशकार पुरुषोत्तमजी मानते हैं । भगवान् योग के द्वारा सब कार्य करे स्वतः न करे तो भगवान् की अति दीनता होगी । यह श्री सुबोधिनीजी का भाव मालूम पड़ता है । कुन्ती अपने लिए प्रार्थना करती है कि 'हे अखिल गुरो !' आप सभी के गुरु हैं और गुरु प्रमाणसिद्ध वस्तु ही देता है । अतः मुझे भी प्रमाणसिद्ध वस्तु ही दें । पूर्व में कहे गये धर्मों से युक्त लौकिक गुणों वाला नहीं हो सकता । किन्तु वह भगवान् है इसलिए भगवन् सम्बोधन कहा । जीव नमस्कार ही कर सकता है । यह सत्पुरुषों ने शिक्षा दी है इसलिए मैं आपको नमस्कार करती हूं ।।४२।।

सूत उवाच — श्लोक—**पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताऽखिलोदयः ।**
मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया ।।४३।।

श्लोकार्थ – सूतजी कहते हैं कि कुन्ती के द्वारा इस प्रकार अव्यक्त मधुर शब्दों से सब ओर से स्फुरित हुई है महिमा जिसकी ऐसे भगवान् माया से मोहित करते हुए से मुस्कराये ।।४३।।

सुबोधिनी - एवं वस्तुते भगवत्कर्त्तव्यमाह । विषयभोगार्थमेव ह्येतावत्कृतम् । न तु वैराग्यभक्त्यर्थम् । अन्यथाऽरण्यादेव तथा कुर्यात् । तस्माद्यः कश्चिद्यत्किञ्चित्प्रार्थयतां नाम । भगवांस्तु प्रक्रान्तं स्वविचारितमेव प्रयच्छति । अतोऽद्भुतकर्मनिरूपणे मोहं दत्तवानित्युच्यते । कलपदैर्गद्गदकण्ठेनोच्चारितैरव्यक्तमधुरैः पदैः । परिणूताः परितः स्फुरिताः सर्वे उदया यस्य । गुणानामन्योन्यमिश्रण न तथा । तदभावादेकधेति । **"एकधा दशधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदि"**ति श्रुतिरप्येवमभिप्राया । तथा लीलाश्च । **णु** स्तुताविति धातुरूकारान्तः कविकल्पद्रुमे निरूपितः । अतो न दीर्घश्छान्दसः । **मन्दं जहास** । मोहनस्याप्यज्ञानार्थम् । **वैकुण्ठ इति** । साम्प्रतं रक्षायां स्थितः । जयविजयपातनाद्वा-**मोहयन्निवेति** । अद्भुतकर्मत्वात् - **इवेति** । **स्वरूपेण कृतार्थत्वं मायया च विमोहनम्** ।।४३।।

व्याख्यार्थ—सूतजी कहते हैं कि कुन्ती के इस प्रकार स्तुति करने पर भगवान् ने क्या किया यह कहते हैं। विषयों का भोग कराने के लिए ही भगवान् ने पाण्डवों के लिए इतना सब कुछ किया है। वैराग्य और भक्ति उत्पन्न हो इसके लिए यह नहीं किया। वैराग्य और भक्ति के लिए ही भगवान् को कुछ करना होता तो वन में रहते हुए ही कर देते। भक्त जो कुछ मांगे परन्तु भगवान् तो प्रक्रांत अपना विचारित ही फल देते हैं। भक्त वैराग्य, भक्ति भी चाहे किन्तु भगवान् की इच्छा विषय भोग देने की हो तो वे विषय भोग ही देते हैं। इसलिए यहां कुन्ती ने भगवान् के अद्भुत कर्मों का निरूपण किया है तो भगवान् ने उसे और कुछ न देकर मोह उत्पन्न किया। क्योंकि भगवान् अपना विचारित ही फल देते हैं। गद्गद् कण्ठ से उच्चारित अस्पष्ट और मधुर शब्दों से परितः स्फुरित हुए हैं सब[1] गुणों का उदय जिसके ऐसे भगवान् मन्द मन्द हंसे। गुणों को परस्पर मिला देने से नौ भेद हो जाते हैं और नहीं मिलाने पर एक भेद रहता है 'एकधा दशधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्' एक ही चन्द्रमा जल भेद से नाना प्रतीत होता है इसी प्रकार भगवान् एवं भगवान् के गुण अनेक प्रकार के ज्ञात होते हैं। उक्त श्रुति का अभिप्राय यह है कि एक ही भगवान् नाना बनता है। उसकी लीला भी ऐसी हीं है। यद्यपि 'गुस्तुतौ' धातु के ह्रस्व उकारान्त होने से परिणूत यह नहीं बन सकता। परन्तु कवि कल्पद्रुम में इसे दीर्घान्त भी बताया है। वह स्वतः दीर्घ है। इसलिए इसे छान्दस दीर्घ नहीं मानना। भगवान् मुझे मोहित कर रहे हैं। ऐसा भी ज्ञान कुन्ती को नहीं हो इसके लिए 'मन्दं जहास' कहा है। यद्यपि भगवान् वैकुण्ठ निवासी हैं तो भी सम्प्रति रक्षार्थ पृथ्वी पर पधारे हैं अथवा 'मोहयन्निव' का तात्पर्य यह है कि जय विजय की कुछ भी इच्छा रही हो। परन्तु भगवान् ने तो उन्हें स्वविचारित ही फल दिया। अर्थात् भगवान् को उनका गिराना अभीष्ट था वही किया। इसी प्रकार यहां कुन्ती ने भगवान् के अद्भुत कर्म निरूपण किये परन्तु उसे भगवान् ने ज्ञान न देकर मोह उत्पन्न किया। प्रभु अपने स्वरूप से भक्तों को कृतार्थ करते हैं और अपनी माया से मोहित करते हैं ।।४३।।

आभास—अन्तःकृतिमुक्त्वा बहिःकृतिमाह—

आभासार्थ—भगवान् ने भीतर मोह पैदा कर आन्तर कार्य किया यह कहकर बाहर का कार्य क्या किया सो कहते हैं—

श्लोक—**तां बाढमित्युपामन्त्र्य प्रविश्य गजसाह्वयम् ।**
स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन्प्रेम्णा राज्ञा निवारितः ।।४४।।

---

[1] प्रकाश भगवान् के गुण इतने ही हैं यह बात न होने से उनकी सम्पूर्ण गुणों की स्तुति कैसे कर सकती है तो ऐसी स्थिति में अखिल पद व्यर्थ होता है इस पर कहते हैं कि 'खिल' अर्थात् न्यून। अखिल अर्थात् अन्यून। तात्पर्य यह है कि भगवद्गुणों में स्वतः न्यूनता नहीं है। केवल उनके स्फुरण न होने से न्यूनता की प्रतीति होती है और स्फुरण होने पर न्यूनता की प्रतीति नहीं होती। अभिप्राय यह है कि कुन्ती को जितने भगवान् के गुण स्फुरित हुए उन सबको उसने कहा। इसलिए कुन्ती की बुद्धि से अखिलत्व कहा गया।

श्लोकार्थ— कुन्ती ने 'त्वयि मेऽनन्य विषया' से जो प्रार्थना की वह सिद्ध होगी। ऐसा भगवान् ने कहा और रथ के स्थान से पुनः हस्तिनापुर में प्रवेश किया और कुन्ती सुभद्रा प्रमुख स्त्रियों से पूछकर द्वारका की ओर जाने वाले भगवान् को युधिष्ठिर ने कुछ काल यहीं विराजिये ऐसा प्रेमपूर्वक कहकर जाने से रोका ॥४४॥

सुबोधिनी—तां बाढमिति । तां कुन्तीं प्रार्थनां वा । **बाढमि**त्यङ्गीकारे वचनम् । यत्त्वया कर्त्तव्यं वक्तव्यं वा तन्ममाऽपि सम्मतम् । न तु मया अपूर्वं किञ्चित्कर्त्तव्यमित्यर्थः । इत्येवं प्रकारेणोपामन्त्र्य, पूर्वगमने शकुनाभावमिव लक्षयित्वा पुनर्हस्तिनापुरं प्रविश्य, तत्रत्याः स्त्रिय आमन्त्र्य, चकारादन्यान्, द्वारकां यास्यन् भगवदिच्छया प्राकृतप्रेमोद्गमाद्विस्मृत्य माहात्म्यं, सम्बन्धस्नेहाद्युधिष्ठिरेण गमनान्निवारितः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'ताम्' पद से कुन्ती अथवा उसकी प्रार्थना ली गई है। अर्थात् भगवान् ने कुन्ती से कहा कि ठीक है। अथवा प्राथना ठीक है ऐसा कहा। जो तूं करती है अथवा कहती है वह मुझे भी सम्मत है। मुझे अपूर्व कुछ नहीं करना है। इस प्रकार कहकर पहले जाने में कुन्ती के रुकावट करने से भगवान् ने समझा कि शकुन ठीक नहीं है। अतः पुनः हस्तिनापुर में प्रवेश किया। अब जब द्वारका जाने लगे तो वहां की स्त्रियों से तथा औरों से अनुमति प्राप्त कर द्वारका पधारने वाले भगवान् को भगवान् की इच्छा से लौकिक प्रेम के उद्गत होने से भगवान् के माहात्म्य को भूलकर सम्बन्ध के स्नेह से युधिष्ठिर ने जाने से रोका। ४४॥

आभास— इयं ह्यद्भुतलीला भगवतो, मुक्तस्य बन्धो बद्धस्य मोक्ष इति । अतो युधिष्ठिरस्य मोहं प्रपञ्चयति सप्तभिः । व्यसनानां तथात्वात् । **स्वस्मिन्यदैव करणमुत्तमस्याऽधमस्य वा । तदैव मोहः कृष्णे तु ज्ञानमित्येष निश्चयः ।**

आभासार्थ— यह भगवान् की अद्भुत लीला है कि जुआ आदि व्यसन से मुक्त हुए युधिष्ठिर को शोक रूप बन्धन करा रहे हैं और बद्ध का मोक्ष कर रहे हैं। मुक्त हुए युधिष्ठिर का सात श्लोकों से मोह का निरूपण कर रहे हैं। द्यूत (जूआ), मांस, मदिरा, वेश्या, पाप से कमाई हुई सम्पत्ति, चोरी, परस्त्री सेवन ये सात व्यसन हैं। इसलिए सात श्लोकों से युधिष्ठिर का मोह कहते हैं। जब जो उत्तम अथवा अधम कार्य अपने लिए करता है तभी उसे मोह होता है। कृष्ण के लिए करने पर ज्ञान होता है मोह नहीं होता। यह निश्चय है। युधिष्ठिर के लिए कहा है कि 'यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञाति द्रोह जिहासया अर्थात् ज्ञाति द्रोह मिटाने की इच्छा से वह अश्वमेध यज्ञ करना चाहता था। यहां युधिष्ठिर का अपना प्रयोजन बताया गया है इसलिए उसे मोह हुआ।

श्लोक —**व्यासाद्यैरीश्वरेहाऽज्ञैः कृष्णेनाऽद्भुतकर्मणा ।**
प्रबोधितोऽपीतिहासैर्नाऽबुध्यत शुचाऽर्पितः ॥४५॥

श्लोकार्थ—ईश्वर की चेष्टा न जानने वाले व्यास आदि ने तथा अद्भुतकर्मा कृष्ण ने इतिहास के द्वारा युधिष्ठिर को समझाया तो भी वह नहीं समझा। प्रत्युत अधिक शोकग्रस्त हुआ ।।४५।।

सुबोधिनी— **व्यासाद्यै रिति**। ननु मोहोऽधिकारिणः प्रमाणान्निवर्तते। तत्र युधिष्ठिरोऽधिकारी अयथा अग्रेऽपि ज्ञानानुदयः स्यात्। प्रमाणं वेदाः। वक्तारो व्यासनारदादयः। तैर्बोध्यमानस्यापि ज्ञानं नोदेत। भीष्ममुखादेवाऽयं बोधनीय इति भगवदिच्छा। अतो योगजधर्मेण ज्ञानशक्त्या वा न भगवदिच्छा ज्ञायते। इच्छाजिज्ञासायां तु चित्तस्य भगवत्परत्वे विषयविस्मरणान्निमित्ताभावे जिज्ञासा नश्येदतः सर्वज्ञा अपि सत्त्वव्यवधानभगवदवताराश्च भगवदिच्छां न जानन्तीत्याह— **ईश्वरेहाऽज्ञैरिति**। भगवताऽपि बोधितो नाऽबुद्ध्यत। तत्र हेतुः- **अद्भुतकर्मणेति**। यथा सन्ध्यर्थं गतः सर्वसमर्थो विग्रहं कृत्वा आगत एव बोधनार्थं वाक्यानि वदन्नबोधं सम्पादितवानित्यर्थः। इतिहासैः पुरावृत्तकथनैः। न च तेषां वाक्यानामबोधकत्वम्। तत्राऽऽह - **प्रबोधितोऽपीति**। प्रबोधो दूरे प्रत्युत शोकेनार्पितः समर्पितः। भक्षित इत्यर्थः ।।४५।।

व्याख्यार्थ— शङ्का करते हैं कि अधिकारी का मोह प्रमाण से निवृत्त हो सकता है। युधिष्ठिर अधिकारी है। यदि अधिकारी न होता तो आगे भी ज्ञान न होता। प्रमाण वेद है। वक्ता व्यास, नारद आदि है। उनके समझाने पर भी युधिष्ठिर को ज्ञान न हुआ। भगवान् की इच्छा थी कि भीष्मजी के मुख से ही इसे समझना है इसलिए व्यास नारदादि के समझाने पर भी वह न समझा। यदि कहें कि व्यास नारद आदि यह जानते थे कि भीष्मजी से ही यह समझेगा ऐसी भगवदिच्छा है तो स्वयं उनने समझाने का प्रयत्न क्यों किया इस आशंका का उत्तर देते हैं कि योग से उत्पन्न होने वाले धर्म से अथवा ज्ञान शक्ति से भगवदिच्छा का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए व्यास नारद आदि को भगवदिच्छा का ज्ञान नहीं हुआ। भगवान् की इच्छा को जानने के लिए जब ही चित्त भगवत्परायण होता है तो लौकिक विषयों का विस्मरण होने से कि विषयक भगवान् की इच्छा है यह जिज्ञासा नहीं रहती। अतः सर्वज्ञ ऋषि भी तथा सत्त्व गुण का व्यवधान रख भगवदवतार रूप में आये। व्यास आदि भगवान् की इच्छा को नहीं जानते इसी बात को 'ईश्वरेहाज्ञैः' से कहा है अर्थात् वे भगवान् की चेष्टा को नहीं जानते। युधिष्ठिर को भगवान् ने समझाया। परन्तु वह न समझा। उसमें कारण यह है कि भगवान् अद्भुतकर्मा है। जैसे कौरव पाण्डवों में सन्धि कराने के लिए गये और सर्वसमर्थ होने से उस कार्य को कर भी सकते थे परन्तु अद्भुतकर्मा होने से विग्रह करा करके आये। इसी प्रकार युधिष्ठिर को समझाने के वाक्य कह रहे हैं किन्तु मोह (अज्ञान) पैदा कर रहे है। इतिहास के द्वारा उसे समझाया भी तो भी न समझा। उनके वाक्य से ज्ञान न हो यह बात नहीं थी क्योंकि उसे अच्छे रूप में समझाया। उसका समझना तो दूर रहा। किन्तु जैसे-जैसे उसे समझाया गया वैसे-वैसे उसका शोक बढ़ता गया। अर्थात् वह समझाने पर अधिक शोक मग्न हुआ।४५।।

आभास—अत एव शोकव्याप्तस्य वाक्यमाह—

आभासार्थ—इसलिए शोक व्याप्त युधिष्ठिर के वाक्य कहते हैं—

श्लोक—आह राजा धर्मसुतश्चिन्तयन्सुहृदां वधम् ।
प्राकृतेनाऽऽत्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः ।।४६।।

श्लोकार्थ—हे ब्राह्मणों ! देहात्म बुद्धि से धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने सम्बन्धियों के वध का चिन्तन करता हुआ स्नेह और मोह से अधीन होकर बोला ।।४६।।

सुबोधिनी - **आहेति** । राजा रजोगुणव्याप्तः । **धर्मसुतः** प्रार्थनया धर्माज्जातः । बहिर्मुखं धर्ममुररीकृतवान् । अत एव सुहृदां वधं चिन्तयन् पूर्वकृतं शोचति । अन्तःकरणमपि समीचीनं भगवता अपहृतमित्यभिप्रायेणाऽऽह —**प्राकृतेनेति** । देहात्मबुद्ध्या । **विप्रा इति** सम्बोधनं भगवतोऽद्भुतकर्मत्वभावनार्थम् । स्नेहो मृतेषु । मोहो जीवत्सु ।।४६।।

व्याख्यार्थ— राजा पद का यहां तात्पर्य यह है कि राजा रजोगुण व्याप्त होता है । 'धर्मसुत' का अर्थ है प्रार्थना से धर्म से उत्पन्न हुए । लौकिक शोक रखना बहिर्मुख धर्म है । उसे युधिष्ठिर ने स्वीकार किया । अतएव अपने सम्बन्धियों के वध का विचार करता हुआ पूर्व में किये हुए कार्य का शोक करता है । उसकी अन्तःकरण की समीचीनता को भी भगवान् ने अपहरण की । यही कहते हैं कि 'प्राकृतेन' अर्थात् देह में आत्म बुद्धि करने से उसका अन्तःकरण ठीक नहीं रहा । 'विप्राः' यह सम्बोधन यह बताता है कि जैसे तुम विशेष रूप से मनोरथ पूर्ति करते हो ऐसे ही भगवान् भी नहीं होने के कार्य कर देते हैं । अतः भगवान् अद्भुतकर्मा हैं । ऐसी भावना करनी चाहिये । अथवा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि सूतजी ने कहा कि हे शौनक आदि ऋषियों ! तुम ब्राह्मण हो इसलिए भगवान् अद्भुतकर्मा हैं यह जानते हो अतः ऐसी भावना करनी चाहिये । युधिष्ठिर का मरे हुओं में स्नेह है और जीवित रहे हुए व्यक्तियों में मोह है । यह 'स्नेहमोहवशंगतः' की व्याख्या है । तात्पर्य यह है कि स्नेह और मोह के परवश हुआ युधिष्ठिर इस प्रकार बोला ।।४६।।

आभास—विपरीतबुद्धिं विस्तारयति—

आभासार्थ—राजा युधिष्ठिर की विपरीत बुद्धि हुई इसे विस्तार से कहते हैं—

श्लोक—**अहो मे पश्यताऽज्ञानं हृत्प्ररूढं दुरात्मनः ।
पारक्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः ।।४७।।**

श्लोकार्थ—आश्चर्य की बात है कि दुष्ट चित्त वाले मेरे हृदय में अंकुरित हुए अज्ञान को देखो । मैंने पराये (कुत्ते, सियार आदि के) भक्ष्य इस देह के लिए मेरी बहुत सो अक्षौहिणी सेनाए मार दी ।।४७।।

सुबोधिनी - **अहो इति** देहोपभोगार्थं महतोऽन्यायस्य करणमज्ञानजन्यम् । हृदि प्ररूढम् । नाऽस्य प्रतिघातः शक्यो जातः । तत्र हेतुरन्तःकरणाशुद्धिः । तदेवाऽज्ञानमाह —**पारक्यस्येति** ।

श्वसृगालभक्ष्यस्य । **अक्षौहिणी:** । अक्षौहिण्य: । मे मदीया हता इत्यज्ञानम् । वस्तुतस्तु भगवता भूभारहरणार्थं लीलया वा हता ।४७।।

व्याख्यार्थ– देह के उपभोग के लिए बड़ा अन्याय करना अज्ञान है । जो मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ है । इसका प्रतीकार नहीं हो सकता । इसका कारण मेरी अन्त:करण की अशुद्धि है । युधिष्ठिर अपने में पैदा हुए अज्ञान को कहता है कि श्व (कुते) शृगाल से खाने योग्य परकीय इस मेरे शरीर के लिए मैंने अपनी अनेक अक्षौहिणी सेनाएं मार डाली । यह युधिष्ठिर का अज्ञान है । वास्तव में तो भगवान् ने पृथ्वी भार मिटाने के लिए लीला से ही उन्हें मार दिया है ।।४७।।

आभास—अनेन इहलोको गत इत्युक्तम् । परलोकोऽपि नास्तीत्याह—

आभासार्थ—इससे यह कहा कि यह लोक मेरा बिगड़ गया है और परलोक भी बिगड़ गया यही अब कहता है—

श्लोक—**बालद्विजसुहृन्मित्रपितृभ्रातृगुरुद्रुहः ।**
न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः ।।४८।।

श्लोकार्थ—मैं बालक, ब्राह्मण, सम्बन्धी, मित्र, पिता, भाई और गुरुओं से द्रोह करने वाला हूँ । इसलिए लाखों करोड़ों वर्ष तक भी मेरा नरक से छुटकारा नहीं होगा ।।४८।।

सुबोधिनी **बालेति** । बाला अभिमन्युप्रभृतयः । **द्विजा** द्रोणादयः । **सुहृदः** शल्यादयः । **मित्रं** कर्णादयः । **पितरो** भीष्मादयः । **भ्रातरो** दुर्योधनादयः । त एव वा गुरवः । अन्ये च । एकस्याऽपि महापातकस्य बुद्धिपूर्वकं कृतस्य न प्रायश्चित्तम् । तस्मान्नरके वासो यावदाभूतसम्प्लवमित्यर्थः।४८।

व्याख्यार्थ– बालक अभिमन्यु आदि, द्विज द्रोणाचार्य आदि । सम्बन्धी शल्य आदि मित्र कर्ण आदि, पितर भीष्म आदि, भाई दुर्योधन आदि, ये ही गुरुरूप में समझने लायक थे । और भी अन्य बहुत से थे जिनका मुझे सम्मान करना चाहिये था उन सबके साथ मैंने द्रोह किया । बताये गये इनमें यदि ज्ञानपूर्वक एक को भी मार डालें तो महापातक होता है और उसका प्रायश्चित्त नहीं है । मैंने तो इन्हें मारकर अनेक महापातक किये हैं इसलिए प्रायश्चित्त से मेरी शुद्धि हो ही नहीं सकती । इसलिए प्रलय पर्यन्त मुझे नरक में ही रहना पड़ेगा ।।४८।।

श्लोक—**नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मयुद्धे वधो द्विषाम् ।**
इति मे न तु बोधाय कल्पते शासनं वचः ।।४९।।

श्लोकार्थ—प्रजा पालन करने वाले राजा को धर्मयुद्ध में शत्रुओं को मारना पाप नहीं है यह नीति वचन मुझे नहीं समझा सकता ।।४९।।

सुबोधिनी - ननु युध्यमानानां वधः को वा दोषाय ? सत्यम् । **"श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञामि"** ति प्रजारक्षार्थं शत्रुवधश्चेत्तदा न दोषः । प्रकृते तु दुर्योधनेन प्रजापालने क्रियमाण एव मया स्वलोभार्थमेव सर्वे हताः । अतो राज्ञो धर्मयुद्धे द्विषां वधः प्रजाभर्त्तुर्नैनः न दोष इति नीतिवचनं मां बोधयितुं न शक्नोतीत्यर्थः । ४६॥

व्याख्यार्थ—शंका होती है कि जो लड़ने वाले हैं इनके मारने में कोई दोष नहीं है तो कहते हैं कि ठीक है किन्तु 'श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञाम्' प्रजा का पालन करना ही राजाओं के लिए श्रेय रूप है इस कथन से प्रजा की रक्षा के लिए कौरवों का वध होता तो कोई दोष नहीं था । परन्तु प्रकृत में तो दुर्योधन प्रजा का पालन कर रहा था और मैंने अपने लोभ के लिए ही उन सबको मारा अतः प्रजा के पालन करने वाले राजा को धर्मयुद्ध में शत्रुओं को मारना पाप नहीं है । यह नीति वचन मुझे नहीं समझा सकता । ४६॥

आभास— ननु प्रायश्चित्तं क्रियतां किं शोकेन ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ— शंका करते हैं कि इस पाप की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित कर लिया जाय शोक करने की क्या आवश्यकता है इसके समाधान में कहता है कि –

श्लोक— **स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः ।**
कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाऽहं कल्पो व्यपोहितुम् ॥५०॥

श्लोकार्थ—मेरे द्वारा जिनके पति मारे गये वे स्त्रियां प्रतिदिन मर रही हैं । यह द्रोह जो हो रहा है वह गृहस्थाश्रम से होने वाले यज्ञादि से नहीं मिटाया जा सकता ॥५०॥

सुबोधिनी-स्त्रीणामिति । पापस्य हि रोगवत्प्रतीकारः । स च प्रत्यग्रोत्पन्नस्य प्रथमं कर्त्तव्यः । पश्चात्पुरातनानाम् । प्रत्यहं च सहस्रं स्त्रियो मद्धतान् भर्तृन् गृहीत्वा शोचन्त्यो म्रियन्ते । स द्रोह इहैव महाननुपस्थितः । **नन्वस्यैव** तर्हि प्रायश्चित्तं क्रियताम् ? तत्राऽऽह **कर्मभिरिति** । अस्त्यत्र प्रायश्चित्तं सर्वपरित्यागः शरीरपरित्यागो वा । न तु गृहमेधीयैः कर्मभिर्द्रव्यमयैर्भूतहिंसात्मकैः ।५०।

व्याख्यार्थ - रोग की तरह पाप का प्रतीकार किया जाता है । वह प्रतीकार नवीन उत्पन्न हुए का प्रथम करना चाहिये । तदनन्तर पुराने पापों का प्रतीकार करना चाहिये । प्रतिदिन हजारों स्त्रियां मेरे से मारे गये अपने पतियों को लेकर शोक करती हुई मर रही हैं । वह द्रोह यहां ही बड़े रूप में उपस्थित हो गया है । यदि कहें कि इस द्रोह का प्रायश्चित्त कर लिया जाय तो कहते हैं कि इसका प्रायश्चित्त सर्व परित्याग एवं शरीर परित्याग ही है । गृहस्थ में होने वाले जिनमें प्राणियों की हिंसा होती है । ऐसे यज्ञ प्रायश्चित्त रूप नहीं हो सकते । अतः यज्ञादि द्वारा मैं इस पाप से मुक्त नहीं हो सकता । इसका प्रायश्चित्त तो उपर्युक्त ही है ॥५०॥

आभास— यद्यपि प्रायश्चित्तत्वेन वेदेन बोध्यते तथापि मम नाऽधिकारः । तथा-

विधसाधनाऽभावात् । अयथाविधसाधनैस्त्वजीर्णे भोजनवत्सर्वनाशक इति न तादृशयज्ञेन निस्तार इति सदृष्टान्तमाह—

आभासार्थ—यद्यपि ऐसे दोषों का वेद ने प्रायश्चित्त बताया है परन्तु उसमें मेरा अधिकार नहीं है। क्योंकि ठीक यज्ञ के उपयोगी साधन नहीं है। साधनों के ठीक न होने पर अजीर्ण में भोजन की तरह वह यज्ञ सर्वनाशक हो जाता है। इसलिए वैसे यज्ञ से मेरा निस्तार नहीं है। यह दृष्टान्त-पूर्वक कहता है—

श्लोक—**यथा पंकेन पंकाम्भः सुरया वा सुराकृतम् ।**
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति ।।५१।।

श्लोकार्थ—जैसे कीचड़ से गंदला जल साफ नहीं होता और मदिरा का बिन्दु मदिरा से पवित्र नहीं हो सकता वैसे ही हिंसा प्रधान यज्ञों से एक भी प्राणी की हत्या का मार्जन नहीं हो सकता ।।५१।।

सुबोधिनी - **यथेति** । कर्दमजलक्षालनार्थं यथा पङ्कलेपो भित्त्यादिलेपनवदधिकमृत्सम्पादको भवति । अस्य दृष्टान्तस्य न परलोकनाशकत्वमित्याशङ्क्य दृष्टान्तान्तरमाह— **सुरया वेति** । यथा सुराबिन्दुस्पर्शे महत्या सुरया प्रक्षालनं परलोकनाशकं भवति । एवमेवैकामपि स्त्रीहत्यां बहुभिरपि यज्ञैः पशुमारकैर्दूरीकर्तुं कोऽपि नाऽर्हतीत्यर्थः । वस्तुतः पूर्वकाण्डविचारकैर्निर्मथितं ज्ञानं मोहज्ञानमिति निरूपितम् । एवं भगवतोऽद्भुतकर्मत्वं सिद्धम् ।।५१।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-
विरचितायां प्रथमस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः ।।८।।

व्याख्यार्थ—कीचड़ के जल के धोने के लिए जैसे कीचड़ का लेप हो तो भीत आदि पर लेपन की तरह अधिक मिट्टी बढ़ाने वाला ही होगा। यह दृष्टान्त परलोक नाशक रूप में नहीं दिया गया। इसलिए युधिष्ठिर परलोक को नाश करने वाला दूसरा दृष्टान्त कहता है 'सुरया वा' जैसे मदिरा के बिन्दु के स्पर्श होने पर अधिक मदिरा से धोना परलोक का नाश करने वाला है। इसी प्रकार एक भी स्त्री हत्या जिनमें पशु मारे जाते हैं ऐसे अनेक यज्ञों से दूर नहीं की जा सकती। वास्तव में वेद के पूर्वकाण्ड के विचार करने वालों ने जो ज्ञान बताया है वह मोह करने वाला ज्ञान है यह निरूपण किया गया है। इस प्रकार भगवान् का अद्भुत कर्मत्व सिद्ध हुआ। अर्थात् भगवान् जैसे जैसे उसे समझा रहे हैं वैसे वैसे उसका शोक बढ़ ही रहा है। प्रत्यक्ष में यह दीख रहा है कि समझा रहे हैं परन्तु उसका फल विपरीत ही हो रहा है। इसलिए भगवान् अद्भुतकर्मा है यह सिद्ध हुआ ।।५१।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण प्रथम स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का
अष्टम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत संहिता ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका

हिन्दी अनुवादात्मक व्याख्या सहित

प्रथम स्कन्ध—अधिकार लीला

तृतीय प्रकरण—उत्तमाधिकार

अध्याय—९

❀ भक्तराज भीष्म पितामह को दर्शन और उनकी स्तुति ❀

कारिका—**लोकप्रतीत्या कृष्णस्य यदा कार्यसमापनम् ।**
तदा भागवतश्रोतुर्देहरक्षा निरूप्यते ॥१॥
ऐहिकाऽऽमुष्मिकफले भक्तानां स्थानभार्ययोः ।
सर्वेष्टापूरणं चैव भगवत्कार्यसंग्रहः ॥२॥
श्रीमद्भागवतश्रोतू रक्षापूर्वक्रियाऽखिला ।
निरूपिता ततो मध्ये भगवत्कार्यवर्णनम् ॥३॥

कारिकार्थ—अष्टम अध्याय से लेकर एकादश अध्याय तक परीक्षित राजा की रक्षा नहीं करने में तथा बारहवें अध्याय में उस परीक्षित राजा की रक्षा के निरूपण करने में हेतु कहते हैं। लोक प्रतीति से जब कृष्ण का कार्य समाप्त हुआ अर्थात् भगवान् का कार्य तो नित्य है सदा होता रहता है किन्तु लोगों को यह प्रतीति हुई कि भगवत्कार्य समाप्त हुआ। तब भागवत श्रोता परीक्षित की देह रक्षा का निरूपण किया गया। अर्थात् हस्तिनापुर में भगवान् के सब कार्य समाप्त होने पर बारहवें अध्याय में परीक्षित की देहरक्षा का निरूपण किया गया है। बीच में भक्तों को ऐहिक

पारलौकिक फल दिया है और स्थान एव स्त्रियों की सम्पूर्ण इष्ट पूर्ति की । यह भगवान् ने जो कार्य किये उनका संग्रह है । अष्टम अध्याय में श्रीमद्भागवत के श्रोता परीक्षित की रक्षा के पूर्व में जो सम्पूर्ण क्रिया होनी चाहिये उसका निरूपण हुआ । बीच में अर्थात् नवम से लेकर एकादश अध्याय पर्यन्त भगवान् के कार्य का निरूपण है ।।१—३।।

आभास—एवं परीक्षितः शरीररक्षाप्रस्तावे रक्षापूर्वकार्यं मायावेष्टनमुक्त्वा इतरकार्यानिरूपणे ऐकाग्र्येण रक्षाऽसम्भवान्मध्ये भगवत्कार्यं निरूपणीयम् । तच्च कार्यं चतुर्विधम् । सर्वभक्तानामैहिकसर्वफलदानपूर्वकं भक्तिदानमैहिकाऽऽमुष्मिकयोरेकसम्बन्धाय निर्वेदश्च प्रथमम् । ज्ञानसन्देशपूर्वकपरमभक्तिप्रादुर्भावेन मुक्तिर्द्वितोयम् । सर्वभक्तचित्तसमाधानपूर्वकस्वस्थानप्राप्तिस्तृतीयम् । तत्रत्यानां सर्वसुखदानोपसहारश्चतुर्थम् । तत्र मुक्तिदानमेवोत्तमतत्कार्यमैहिकफलदानादि तत्पूर्वाङ्गमिति निश्चित्य रक्षापूर्वाङ्गेन सहैकस्मिन्नध्यायेऽष्टमे निरूपितम् । नवमे द्वितीयं कार्यं निरूप्यते ।

आभासार्थ—इस प्रकार परीक्षित की शरीर रक्षा के प्रसङ्ग में रक्षा का पूर्वकार्य परीक्षित को माया से वेष्टित करना कहकर भगवान् के दूसरे कार्य यदि निरूपित न हों तो एकान्ततः उस परीक्षित की रक्षा नहीं हो सकती इसलिए अष्टम अध्याय में और द्वादश अध्याय के बीच के नवम से एकादश तक तीन अध्याय हैं उनमें भगवान् के कार्य का निरूपण है । भगवान् का कार्य चार प्रकार का है । सब भक्तों को ऐहिक सम्पूर्ण फल देते हुए भक्ति देना और ऐहिक और पारलौकिक कार्यों का एक सम्बन्ध जोड़ने के लिए प्रथम युधिष्ठिर के निर्वेद (वैराग्य) का वर्णन अष्टम अध्याय में है । नवम अध्याय भे भीष्म द्वारा ज्ञान का सन्देश देना तथा उससे भीष्मजो में परमभक्ति प्रादुर्भूत होने से मुक्ति देना भगवान् का द्वितीय कार्य है। सब भक्तों के चित्त का समाधान कर अपने स्थान द्वारका में पहुँचना यह भगवान् का तृतीय कार्य है । जो कि दशम अध्याय में निरूपित है । द्वारका वासियों को सब सुख देना भगवान् का चतुर्थ कार्य है । यह एकादश अध्याय में निरूपित है । भीष्मजी को मुक्ति देना ही उत्तम कार्य है और ऐहिक फल देना उसका पूर्वाङ्गभूत है । ऐसा निश्चय कर रक्षा पूर्वक ऐहिक फल दान देना अष्टम अध्याय में ही निरूपित हुआ है। नवम अध्याय में दूसरा कार्य जो युधिष्ठिर को भीष्मजी के द्वारा ज्ञान दिलाना और भीष्मजी को परमभक्ति देकर उन्हें मुक्ति देना इस कार्य का निरूपण किया जाता है ।

कारिका—**नवमे स्वस्य भिन्नत्वं प्राप्तस्याऽभावसंशये ।**
स्वच्छन्दमृत्योस्तच्छान्त्यै मुक्तिर्भीष्मस्य वर्ण्यते ।।
पुरस्कृतोऽघमुत्सृज्य जह्याद्देहमितीरितः ।
राज्ञो मोहप्रसङ्गाय निवृत्तिश्चोपदेशतः ।।

भक्तोऽपि भगवद्द्रोहमाचरन्नरकं व्रजेत् ।
इति दर्शयितुं भीष्मशरपञ्जरसंस्थितिः ।।
तस्याऽप्युद्धारकः कृष्णो निजदत्तधिया स्तुतः ।
इति स्तुतिस्तथाऽप्यस्य तादृग्रूपेण वर्ण्यते ।।

कारिकार्थ—शंका करते हैं कि ऐहिक पारलौकिक फलों के एक सम्बन्ध के लिए पाण्डवों की मुक्ति का ही निरूपण करना चाहिये था सो न कर भीष्मजी की मुक्ति के कहने का कौनसा प्रसङ्ग है इस पर कहते हैं कि 'नवमे स्वस्य भिन्नत्वम्' अर्थात् उद्योग पर्व में भगवान् के वाक्य हैं कि 'यस्तान्द्वेष्टि स मां द्वेष्टि' मेरे भक्त जो पाण्डव हैं उनसे जो द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है । इस वाक्य के अनुसार पाण्डवों से द्वेष करने से स्वकीय से भिन्न हुए अर्थात् अभगवदीय हुए भीष्म को मुक्ति न होगी यह भगवान् को संशय था । उस संशय को मिटाने के लिए अपने अधीन मृत्यु वाले भीष्मजी की मुक्ति का वर्णन किया जाता है । कारिका गत स्वशब्द से स्वकीय अर्थ लिया गया है । अतएव उपर्युक्त अर्थ हुआ । भीष्मजी के पास भगवान् इसलिए गये कि भीष्मजी के भक्त द्रोह रूप पाप तथा भगवदपराध दूर हो जाय इसलिए भगवान् उनके पास पधारे । राजा युधिष्ठिर को जो मोह हो गया है उसकी निवृत्ति भीष्मजी के उपदेश से करनी है । यदि युधिष्ठिर का क्लेश नहीं मिटाते हैं तो यह क्लेश मरण पर्यन्त रहेगा जिससे राजा की भी 'अन्ते मतिः सागतिः' इस न्याय से उसकी भी मुक्ति नहीं होती । इसलिए भी भीष्मजी के पास जाना आवश्यक था ।

भक्त भी भगवद्द्रोह करता है तो नरकगामी होता है इसी बात को बताने के लिए भीष्मजी का बाण-शय्या पर मरण कहा गया । तात्पर्य यह है कि पृथ्वी पर मरने पर मुक्ति होती है और भूमि का स्पर्श नहीं करते हुए मरने पर मुक्ति नहीं होती । इसलिए भगवान् से दी गई बुद्धि से स्तुत हुए श्रीकृष्ण भीष्म के भी उद्धारक बने । अतएव भगवान् श्रीकृष्ण मुझ जैसे आततायी के भी उद्धारक हैं इस रूप में भीष्मजी ने भगवान् की स्तुति की है।

आभास—सङ्गतिमाह—

आभासार्थ अब सङ्गति कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—इति भीतः प्रजाद्रोहात्सर्वधर्मविवित्सया ।
ततो विनशनं प्रागाद्यत्र देवव्रतोऽपतत् ।।१।।

श्लोकार्थ—सूतजी बोले—इस प्रकार प्रजाद्रोह से डरे हुए युधिष्ठिर भीष्मजी से सम्पूर्ण धर्मों को जानने की इच्छा से कुरुक्षेत्र में गये । जहां बाण-शय्या पर भीष्मजी पड़े हुए थे ।।१।।

सुबोधिनी—इति भीत इति । जातेऽपि प्रजाद्रोहे किमस्मत्कृतं न वा, अधर्मजनकत्वमस्ति न वेति सन्देहात्प्रजाद्रोहस्य भयहेतुत्वम् । अत एव सर्वज्ञस्यैव सर्वसन्देहनिवृत्तिरिति सर्वतत्त्वज्ञानार्थं सर्वेषां धर्माणां वेदितुमिच्छया । **ततो** हस्तिनापुरात् । **विनशनं** कुरुक्षेत्रं **प्रागात्** । तत्रापि **यत्र देवव्रतोऽपतत्** । देववद्व्रतं यस्य । भगवतो यथा प्रतिज्ञा ब्रह्मचर्यादि । सोऽपि भगवतोऽद्भुतचरित्रत्वादपतत् ।।१।।

व्याख्यार्थ - सूतजी कहते हैं कि प्रजाद्रोह होने पर भी वास्तव में वह प्रजाद्रोह हमसे हुआ या नहीं और वह प्रजाद्रोह अधर्मजनक है या नहीं इस सन्देह से प्रजाद्रोह भय का कारण है ऐसा युधिष्ठिर मानता है । अतएव सब कुछ जान लेने पर ही सब सन्देह की निवृत्ति होती है । इससे सम्पूर्ण तत्वों के ज्ञान के लिए सर्व धर्मों के जानने की इच्छा से हस्तिनापुर से युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र गया । जहां देवव्रत (भीष्मजी) बाण-शय्या पर पड़े हुए थे । भीष्मजी देवव्रत इसलिए थे कि भगवान् की ब्रह्मचर्यादि के पालन की जैसी प्रतिज्ञा है, भीष्मजी की भी वैसी हो प्रतिज्ञा थी । क्योंकि वे देव (भगवान्) की तरह व्रत (नियम) वाले थे । ऐसे वे इस स्थिति में कभी नहीं गिर सकते । किन्तु भगवान् अद्भुत चरित्र हैं इसलिए भीष्मजो गिर गये ।।१।।

आभास—तदा भीष्मपुरस्कारार्थं सर्वे गता इत्याह—

आभासार्थ—तब भीष्मजो के पुरस्कार के लिए सब गये यह कहते हैं—

श्लोक—**तदा ते भ्रातरः सर्वे सदश्वैः स्वर्णभूषितैः ।**
अन्वगच्छन् रथैर्विप्रा व्यासधौम्यादयस्तथा ।।२।।

श्लोकार्थ—हे विप्रो ! उस समय युधिष्ठिर के सब भाई अच्छे घोड़ों से युक्त स्वर्ण जटित रथों में बैठकर चले तथा व्यास धौम्य आदि ब्राह्मण भी उनके साथ हो लिये ।।२।।

सुबोधिनी - **तदा त इति** । ये भ्रातरः प्रजाद्रोहादि कृतवन्तस्त इति । **सर्वे** अन्येऽपि । **विप्रा** अपि गताः । ते वेदव्यासपाण्डवकृतपुरोहितधौम्यादयः ।।२।।

व्याख्यार्थ—युधिष्ठिर के जो भाई थे। जिनने यह समझ रखा था कि हमने प्रजाद्रोह आदि पाप किये हैं। वे सब और दूसरे भी सभी तथा ब्राह्मण भी गये ब्राह्मणों में वेदव्यास और पाण्डवों के बनाये हुए पुरोहित धौम्य आदि मुख्य थे ॥२॥

आभास—भगवानपि मुक्तिदानार्थमवश्यगमनेऽपि युधिष्ठिरप्रियार्थं सहैव गत इत्याह—

आभासार्थ—भगवान् को भी भीष्मजी को मुक्ति देने के लिए वहां जाना आवश्यक था तो भी युधिष्ठिर को भी प्रिय लगे इसलिए उसके साथ ही गये यह कहते हैं—

श्लोक—भगवानपि विप्रर्षे रथेन सधनञ्जयः ।
स तैर्व्यरोचत नृपः कुबेर इव गुह्यकैः ॥३॥

श्लोकार्थ—हे विप्रर्षे! अर्जुन के सहित भगवान् भी एक रथ पर चढ़कर चले। उन सबसे परिवेष्टित युधिष्ठिर ऐसे शोभित हुए जैसे यक्षों से युक्त कुबेर ॥३॥

सुबोधिनी—भगवानपीति । विप्रर्षे इति सम्बोधनं भगवतोऽनुवृत्तिर्लीलात्वान्न दोषायेति ज्ञापनार्थम्। **रथेन सधनञ्जय इति**। गरुडध्वजमारुह्याऽर्जुनेन सारथिनाऽन्वगच्छदिति लक्ष्यते। तेषां भ्रात्रादीनां गमनेऽपि राज्ञो बहिरेव सुखं नाऽन्तरित्याह—**स तैरिति**। नृपत्वात्परं तैः रोचनम्। वस्तुतस्त्वन्तररोचनं सदृष्टान्तमाह। यथा गुह्यकैः सह कुबेरः। कुत्सितं वेरमक्षि यस्य। अनेन बहिः प्रकाशो महान्। अन्तस्त्वन्धतुल्यः। तथाऽयमपि शोकग्रस्त इत्यर्थः ॥३॥

व्याख्यार्थ—सूतजी ने शौनक के लिए विप्रर्ष सम्बोधन देकर यह बताया कि तुम ब्राह्मणों में ऋषि हो अतः तुम मेरी अपेक्षा महान् हो परन्तु महान् होते हुए भी आपने जैसे मेरा अनुसरण कर रहे हो उसी तरह भगवान् ने युधिष्ठिर का अनुवर्तन किया यह उनकी लीला थी। लीला में सब कुछ हो सकता है इसलिए भगवान् के बड़े होने पर भी युधिष्ठिर का अनुसरण करना दोष वह नहीं है। गरुड़ के चिन्ह वाली जिसकी ध्वजा है। ऐसे रथ पर बैठकर उस समय सारथि का कार्य करने वाले अर्जुन के साथ युधिष्ठिर पीछे गये। यह बात 'रथेन सधनञ्जयः' पदों से ज्ञात होती है क्योंकि सधनञ्जयः की व्युत्पत्ति यह है कि 'धनञ्जयेन सहितः स धनञ्जयः' धनञ्जयेन यह तृतीया अप्रधान में है। अर्जुन अप्रधान तभी कहा जायगा कि जब वह सारथि का काम करे। रथी प्रधान होता है और सारथि गौण होता है। युधिष्ठिर भाई आदि के साथ गया तो भी उसे बाहरी सुख है आन्तर सुख नहीं है। बाहरी सुख को लेकर ही राजा होने से उनके साथ वह शोभित हुआ यह कहा गया है। वास्तव में भीतर सुखी नहीं था यह दृष्टान्त सहित कहते हैं। जैसे गुह्यकों के साथ कुबेर शोभित होता है। कुबेर शब्द की व्युत्पत्ति यह है कि 'कुत्सितं वेरं यस्य स कुवेरः।' वेर का अर्थ है चक्षु अर्थात् ज्ञान चक्षु जिसके ठीक नहीं हैं। कुबेर के बाहर तो बहुत प्रकाश है अर्थात् बाह्य शोभा अधिक है भीतर अन्धे के समान है वैसे ही यह युधिष्ठिर भी बाह्य शोभा वाला है और भीतर शोकग्रस्त है ॥३॥

आभास—एव सर्वैः सह गमनमुपपाद्य सम्भाषणव्यतिरेकेणैव दर्शनमात्रेण नमस्कारं कृतवन्त इत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार सबके साथ युधिष्ठिर का जाना बताकर बिना बातचीत के ही दर्शन मात्र से ही पाण्डवों ने भीष्मजी को नमस्कार किया यही बात कहते हैं—

श्लोक—**दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवाऽमरम् ।**
प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा ।।४।।

श्लोकार्थ—पाण्डवों ने स्वर्ग से गिरे हुए देवता के समान पृथ्वी पर पड़े हुए भीष्मजी को देखकर अपने अनुगामियों और कृष्ण के सहित उन्हें प्रणाम किया ।४।

सुबोधिनी—दृष्ट्वेति । पतितस्याऽपि महती कान्तिरिति सदृष्टान्तमाह । भूमौ तस्य स्पर्श एवाऽयुक्तः किं पुनः पातः । तथा भीष्मस्य पराजय एवाऽशक्यः किं पुनरेवम्भावः । तादृशोऽपि देवो मनुष्याणां नमस्करणीयः । तथा भीष्मोऽपि भगवद्विरोधाचरणेऽपि नमस्करणीयः । यथा देवः स्वपदच्युतोऽपि अन्येषां भजनीयः । बुद्ध्यादीनां विद्यमानत्वात् । तथा भीष्मोऽपगतदेहोऽपि ज्ञानपूर्णत्वान्नमस्करणीय इत्यर्थः । **पाण्डवा इति** । भ्रात्रेयपुत्रत्वान्नमस्कारयोग्यता सूचिता । भीष्मोपदिश्यमानधर्मस्य सर्वेषां ग्रहणसिद्ध्यै समागतानां सर्वेषां नमनमिति—**सानुगा इति** । **आगत्य नमनं यत्तु लोकाद्भक्तस्तथा न चेत्** । **विपरीतत्वमापन्नः कथमेवं भवेदिति** । **सर्वैः सह नमस्कारस्ततो भगवता** कृतः । **चक्रिणेति** पदं घातकरूपज्ञापनार्थमद्भुतकर्मत्वाय ।।४।।

व्याख्यार्थ—पृथ्वी पर गिरे हुए भीष्मजी की बड़ी कान्ति है यह दृष्टान्त सहित कहते हैं। जैसे स्वर्ग से गिरे हुए देवता की महती कान्ति रहती है वैसे ही भीष्मजी की कान्ति थी। देवता को भूमि का स्पर्श करना ही युक्त नहीं है। क्योंकि देवता पृथ्वी का स्पर्श नहीं करते तो उसका गिरना कैसे हो सकता है। वैसे ही भीष्मजी का पराजित करना ही अशक्य है तो फिर उनकी यह स्थिति कैसे हो सकती है। स्वर्ग से गिरा हुआ भी देवता मनुष्यों के लिए नमस्करणीय होता है वैसे ही भीष्मजी भी भगवान् से विरोध करने पर भी नमस्करणीय हुए। जैसे देवता अपने पद से च्युत होने पर भी दूसरों से सेव्य होता है क्योंकि उसमें देवता जैसी बुद्धि आदि विद्यमान होती है। वैसे ही देह की स्थिति बिगड़ने पर भी ज्ञानपूर्ण होने के कारण भीष्मजी नमस्करणीय हैं। पाण्डव भीष्मजी के भाई के पौत्र हैं इसलिए वे भीष्मजी को नमस्कार कर सकते हैं। भीष्मजी से उपदिष्ट होने वाला धर्म सबको समझने में आवे इसके लिये आये हुए सभी ने भीष्मजी को प्रणाम किया। यही बात 'सानुगाः' पद से कही है। भगवान् सहित सबने आकर भीष्मजी को प्रणाम किया। वह प्रणाम ' भक्त प्रणम्य होता है।" इस प्रकार की लोगों को शिक्षा देने के लिए किया है। यदि भक्त न हो, द्रोह करने वाला हो तो वह नमन करने योग्य नहीं होता। भक्त कैसा भी हो नमन योग्य होता है यहां व्याख्यान में दी गई कारिका में जो 'लोकात्' यह पञ्चमी है। वह ल्यप् लोप में है अर्थात् लोकात् का अर्थ है लोक का आश्रय करके। तात्पर्य यह है कि लोग भी भक्त को प्रणाम करे इस लोक सग्रह के लिए भगवान् ने भीष्म को प्रणाम किया। श्लोक में 'चक्रिणः' पद है यह इस

बात को सूचित करता है कि चक्र लेकर आये हैं इसलिए भगवान् अवश्य मारेंगे यही भगवान् की अद्भुतकर्मता है कि प्रणाम भी करते हैं और भीष्मजी को मारना भी चाहते हैं ।।४।।

आभास—सर्वज्ञा ऋषयो भीष्मो गूढं तत्त्वं वक्ष्यतीति समागता इत्याह—

आभासार्थ—सर्वज्ञ ऋषियों ने सोचा कि भीष्मजी गूढ तत्त्व कहेंगे अतः वे आये यही कहते हैं—

श्लोक—**तत्र ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षयश्च सत्तमाः ।**
राजर्षयश्च तत्राऽऽसन्द्रष्टुं भरतपुङ्गवम् ।।५।।

श्लोकार्थ—उस समय वहां सभी ब्रह्मर्षि एवं अत्यन्त श्रेष्ठ देवर्षि और राजर्षि भरतवंश में श्रेष्ठ भीष्मजी को देखने के लिये आये ।।५।।

सुबोधिनी – तत्रेति । ब्रह्मर्षयो भृग्वादयः । देवर्षयो नारदादयः । राजर्षयो मन्वादयः । ते हि त्रिविधधर्ममन्त्रद्रष्टारः । सर्वथा देहेन्द्रियादिस्वास्थ्ये शुद्धो धर्मादिः स्फुरति नाऽन्यथेति धर्मतत्त्वं ज्ञात्वा भीष्मे धर्मः परिनिष्ठितो न वेति द्रष्टुमागताः । "**दौष्यन्तिरत्यगान्मायामि**"ति भरतस्य मायापगमनाद्देहदृष्टया धर्मं न वक्ष्यति । तद्वंशोद्भवश्रेष्ठत्वात् । स्वार्थदर्शनाच्च भवति सन्देहः । अत एव ऋषीणां मतेषु बाधकविषयत्वम् ।।५।।

व्याख्यार्थ—ब्रह्मर्षि भृगु आदि हैं । देवर्षि नारद आदि हैं और राजर्षि मनु आदि हैं । वे तीन प्रकार के धर्म एवं तीन प्रकार के मन्त्रों के द्रष्टा हैं । क्योंकि वे ऋषि हैं । देह इन्द्रियादिकों के सर्वथा स्वस्थ होने पर शुद्ध धर्म आदि की स्फूर्ति होती है । अन्यथा नहीं । ऐसा धर्मतत्त्व है यह जानकर भीष्मजी के देहेन्द्रियादि स्वस्थ प्रतीत नहीं होते हैं तो उनमें धर्म की स्थिति है या नहीं यह जानने के लिए ऋषिगण आये । 'दौष्यन्तिरत्यगान्मायाम्' अर्थात् दुष्यन्त के पुत्र भरत ने माया का अतिक्रमण किया तो भीष्मजी भी उसी वंश में हैं । इसलिए माया सम्बन्ध का गन्ध न होने से देह को लेते हुए किसी धर्म को नहीं कहेंगे अर्थात् आत्म धर्म कह सकते हैं । दैहिक धर्म नहीं कहेंगे । क्योंकि भरतवंश में ये श्रेष्ठ हैं । ऋषियों को भीष्मजी में इसलिए सन्देह हुआ कि मृत्यु के समय में भगवान् में उनने मन लगाया इसलिए स्वार्थी है । यदि माया सम्बन्ध नहीं होता तो स्वार्थ भावना नहीं होती । स्वार्थ भावना उनमें देखी गई । इसलिए सन्देह हुआ । अतएव ऋषियों के मतों में दैहिक धर्म की मुख्यता बताने वाली युक्ति आदि भीष्मजी में रहेगी यह उन्होंने समझा ।।५।।

आभास—राजसादिविभेदेन एते भेदाः । तान् गणयति त्रिभिः । **सात्त्विकाः प्रथमं प्रोक्ता राजसास्तदनन्तरम् । तामसा दोषनिर्हारात्तुल्यास्ते राजभिर्मताः ।।**

आभासार्थ - नीचे गिनाये जाने वाले ऋषियों का जो भेद है वह राजस तामस एवं सात्त्विकता से है । उन भेदों को तीन श्लोकों से गिनाते हैं । निम्न श्लोकों में सात्त्विक ऋषियों को प्रथम कहा । तदनन्तर राजसों को कहा । दोषों के नहीं रहने से राजाओं के समान माने गये तामसों का पश्चात् निरूपण है ।

श्लोक—**पर्वतो नारदो धौम्यो भगवान् बादरायणः ।**
बृहदश्वो भरद्वाजः सशिष्यो रेणुकासुतः ।।६।।

वसिष्ठ इन्द्रप्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः ।
कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः ।।७।।

अन्ये च मुनयो ब्रह्मन् ब्रह्मरातादयोऽमलाः ।
शिष्यैरुपेता आजग्मुः कश्यपाङ्गिरसादयः ।।८।।

श्लोकार्थ— पर्वत मुनि, नारदजी, महर्षि धौम्य, भगवान् व्यास, बृहदश्व, भरद्वाज. शिष्यों के सहित परशुराम, वसिष्ठ, इन्द्र प्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, सुदर्शन तथा और भी शुकदेव आदि शुद्ध चित्त महात्मा गण एवं शिष्यों के सहित कश्यप, बृहस्पति आदि मुनिगण वहां आये ।।६।।७।।८।।

सुबोधिनी— पर्वत इति । न देवर्षित्वमात्रं भगवानित्युक्तम् । रेणुकासुतः परशुरामः । **सोऽपि** सशिष्यः । एते सप्त सात्त्विका देवर्षयः । वसिष्ठादयो दश राजसा ब्रह्मर्षयः । वस्तुतस्तु नवैव । अथेति भिन्नक्रमेण । सुदर्शनस्याऽग्रे कथनात् । सुदर्शनः । **अन्ये च** राजर्षिभेदाः ब्राह्मणा अपि तत्त्वेन निर्दिष्टाः । ब्रह्मरातः शुकः । तेषां तामसत्वादिदोषाभावमाह—**अमला इति** । बहिरेव ते तामसा अन्तस्तु निर्गुणा इति । तन्मध्ये ब्रह्मरातादयः श्रेष्ठाः । कश्यपादयो मध्यमाः । आङ्गिरसो बृहस्पतिः । ६ ।। ७ ।। ८ ।।

व्याख्यार्थ—व्यास केवल देवर्षि नहीं हैं किन्तु भगवान् भी हैं इसलिए व्यास के लिए भगवान् यह विशेषण दिया । श्लोक में 'रेणुकासुतः' का अर्थ रेणुका के पुत्र परशुराम है । परशुरामजी शिष्यों सहित आये : पर्वत, नारद, धौम्य, वेदव्यास, बृहदश्व, भरद्वाज, परशुराम ये सात सात्त्विक देवर्षि हैं । वसिष्ठ, इन्द्र प्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, सुदर्शन ये दस राजस हैं और ब्रह्मर्षि है । वास्तव में राजस ब्रह्मर्षि नौ ही हैं । क्योंकि सुदर्शन के पहले 'अथ' यह पद आया है । वह भिन्न क्रम को बताता है । अर्थात् इन नौ ऋषियों में सुदर्शन नहीं है । श्लोक में आये 'अन्य' पद से राजर्षि लिये गये और ऊपर गिनाये गये ब्रह्मर्षियों के अलावा जितने भी ब्राह्मण आये उन्हें भी लिये गये हैं जिनका समावेश ब्रह्मर्षि में किया गया है । श्लोक में आये हुए ब्रह्मरात पद का अर्थ शुकदेवजी है । उनमें तामस आदि दोष नहीं है । क्योंकि वे अमल हैं । अर्थात् दोषरहित हैं । इनमें बाहर ही तामसत्व भासित होता हैं । भीतर तो निर्गुण है । इनमें शुकदेव आदि श्रेष्ठ है । कश्यप आदि मध्यम है । श्लोकस्थ 'आङ्गिरस' पद का अर्थ बृहस्पति है । अर्थात् शुकदेव, कश्यप, बृहस्पति आदि भी वहां आये ।।६।।७ ।८।।

आभास—अत्रोत्तमाधिकारे धर्मनिर्णये तदुक्तेषु तरतमभावज्ञानार्थं गणना । एवं त्रयः समागताः । पाण्डवा भगवानृषयश्चेति । तत्र ऋषिषु कृतमाह—

आभासार्थ—यहां उत्तमाधिकारक धर्म का निर्णय करना है इसलिए सात्विक राजस तामस बताये । अर्थात् सबका ज्ञान समान नहीं है । किन्तु ज्ञान में तारतम्य है । क्योंकि कई सात्विक हैं कई राजस एवं कई तामस हैं । इस प्रकार पाण्डव भगवान् और ऋषि लोग ये तीनों आये । ऋषियों के लिए भीष्मजी ने जो कुछ किया उसे कहते हैं—

श्लोक—**तान्समेतान्महाभाग उपलभ्य वसूत्तमः ।**
पूजयामास धर्मज्ञो देशकालविभागवित् ।।९।।

श्लोकार्थ—धर्मज्ञ देशकाल के विभाग को जानने वाले वसु श्रेष्ठ (वसु देवताओं में श्रेष्ठ) महाभाग भीष्म ने उन आये हुए मुनीश्वरों और राजाओं को देखकर मन वाणी से यथा योग्य सत्कार किया ।।९।।

सुबोधिनी—तान्समेतानिति । महान् भागो यस्येति । धर्मज्ञानादिसमूहो भागः । वसूत्तमो भीष्मः । भूमौ हि वसवो मोच्यन्ते । तथाऽन्येऽन्यत्र तद्गृहे । पुष्टिभक्तत्वव्यावृत्यर्थमाह । देशकालयोर्विभागः । देशकालविभागा वा । प्राकृतत्वादृषीणामनुत्तमस्याऽपि पूर्वस्य प्रथमं पूजनमित्यादि । **विधानविदिति** पाठेऽपि स एवाऽर्थः ।। ९ ।।

व्याख्यार्थ—बड़ा है भाग जिसका । भाग का अर्थ है धर्म ज्ञानादि समूह । अर्थात् भीष्मजी धर्म ज्ञानादि समूह युक्त थे । श्लोकस्थ 'वसूत्तमः' का अर्थ है भीष्म । क्योंकि वे वसु देवताओं में उत्तम है । पृथ्वी पर वसु मुक्त किये जाते हैं । दूसरे अन्यत्र उनके घर में मुक्त किये जाते हैं । भीष्मजी पुष्टि भक्त नहीं थे । क्योंकि देश काल का विभाग जानते थे । अर्थात् देश काल का अनुसरण करके जो कुछ करता है वह पुष्टि भक्त नहीं होता । पुष्टि भक्त देश काल की अपेक्षा नहीं रखता । भीष्मजी प्राकृत है इसलिए ऋषियों में जो उत्तम नहीं है और प्रथम गिनाये गये हैं उन पर्वत ऋषि का प्रथम पूजन किया । देश काल विभागवित् की जगह देश काल विधानवित् ऐसा पाठ यदि रखते हैं तो भी पूर्वोक्त ही अर्थ है । ९।।

आभास—एवं मुनीन् मनसा वचसा धर्मोपयोगित्वेन पूजयित्वा भगवन्तमपि तथैव पूजितवानित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार मुनियों के धर्मोपयोगी होने से भीष्मजी ने उन ऋषियों का मन वाणी से पूजन किया और भगवान् का भी उसी रूप में पूजन किया यह कहते हैं—

श्लोक—**कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम् ।**
हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम् ।।१०।।

श्लोकार्थ—और जगदीश्वर जो हृदय स्थित है तथा जिनने अपनी शक्ति से देह धारण किया है ऐसे बैठे हुए श्रीकृष्ण का उनके प्रभाव को जानकर भीष्मजी ने मन वाणी से पूजन किया ॥१०॥

सुबोधिनी—कृष्णं चेति। ननु भगवन्तं कथं पूजितवानित्याकांक्षायामाह—**तत्प्रभावज्ञ** इति। पूर्वोक्तानुत्थितानेव दर्शनमात्रेण पूजितवान्। भगवन्तं तु आसीनम्। पूजायां भावनया सर्वोत्तमत्वप्रकारं ज्ञापयितुं **जगदीश्वरमित्युक्तम्**। **हृदिस्थमित्यन्तर्यामिणम्**। तस्य बहिर्भाने हेतुः—**माययोपात्तविग्रहमिति**। मायया शक्त्या स्वीकृतो विग्रयो येन। प्राकृतगणेनेन्द्रियादिना अहङ्कारेण च जीवानां देहग्रहणम्। भगवतस्तु स्वशक्त्यैव देहनिर्माणमपि। मायात्वादन्यथा भासयति। बीजसम्बन्धित्वेन पुत्रत्वादिना केचिद्बीजमेव मायया गृहीतमित्याहुः एवं लोकानुसारेण भीष्मबुद्ध्यनुसारेण स भगवान्निरूपितः वस्तुतस्तु यथा भगवान् तदुत्तरत्र निरूपयिष्यते ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ—शका होती है कि भीष्मजी ने भगवान् की किस भावना से पूजा की। अर्थात् भीष्मजी ने सम्बन्धी समझ के अथवा ज्ञाति के मानकर अथवा ईश्वर मानकर पूजन किया। इस आकांक्षा पर कहते हैं कि तत्प्रभावज्ञः' अर्थात् भगवान् के प्रभाव को जानकर उनका पूजन किया। पहले के श्लोक में कहे गये जो ऋषि है उनका खड़े हुओं का ही देखने मात्र से ही पूजन किया और भगवान् का पूजन बैठे हुए का किया। भगवान् की पूजा में भावना से सर्वोत्तम प्रकार रहा। इस बात को बताने के लिए 'जगदीश्वरम्' कहा। अर्थात् जगदीश्वर मानकर भगवान् का पूजन किया और हृदिस्थम्' अर्थात् अन्तर्यामी रूप में मानकर भी पूजन किया। हृदय में स्थित अन्तर्यामी का बाहर भान होने में कारण कहते हैं कि 'माययोपात्तविग्रहम्' बाहर इसलिए भान हो रहा है कि अपनी शक्तिरूपा माया से श्री विग्रह धारण किया है। जीव प्राकृत समुदाय रूप जो इन्द्रियादि हैं उनसे तथा अहङ्कार से देह ग्रहण करता है। भगवान् में प्राकृत इन्द्रियां एवं अहङ्कार नहीं है। इसलिए वे जीव की तरह देह ग्रहण नहीं करते। वे तो अपनी शक्ति से ही अपने देह का निर्माण भी करते हैं। बीज सम्बन्धी होने से माया वहीं भगवान् को पुत्ररूप में पितृरूप आदि में अन्यथा भान कराती है। कोई कहते हैं कि माया ने बीज को ही ग्रहण कर लिया। इस प्रकार लोकानुसार एवं भीष्म बुद्धि के अनुसार सूतजी ने भगवान् का निरूपण किया। वास्तव में जैसे भगवान् हैं उनका निरूपण कौरवेन्द्रपुर की स्त्रियों के वाक्यों में होगा ॥१०॥

आभास—एवमुभयोः पूजनमुक्त्वा प्रथमोक्तान् पाण्डवानपूजयित्वैव स्वोक्तार्थग्रहणसिद्धये, शोकापनोदनपूर्वकस्वदोषाभावकथनेन सह भगवन्तं निरूप्य फलं प्रार्थयते **पाण्डुपुत्रानित्यादिचतुर्दशभिः**—

आभासार्थ—इस प्रकार ऋषि एवं भगवान् का पूजन कहकर प्रथम कहे गये पाण्डवों का पूजन छोटे होने से न कर भीष्मजी ने समझा कि मेरी कही गई बात को ये (पाण्डव) ग्रहण करें। अर्थात् मेरे में दूषित भावना होने पर मेरे कहे अर्थ का ग्रहण नहीं करेंगे। इसलिए उनका शोक दूर करते हुए और अपने को निर्दोष कहते हुए भगवान् का निरूपण कर फल की प्रार्थना करते हैं। यह बात पाण्डुपुत्रान् इत्यादि चतुर्दश (चौदह) श्लोकों से कही है।

श्लोक—**पाण्डुपुत्रानुपासीनान् प्रश्रयप्रेमसङ्गतान् ।
अभ्याचष्टाऽनुरागास्रै रन्धीभूतेन चक्षुषा ।।११।।**

श्लोकार्थ—प्रेम के आंसुओं से नहीं देखने वाले नेत्रों से प्रेमी मालूम होने वाले भीष्मजी ने विनय एवं प्रेम से युक्त अपने पास बैठे पाण्डवों को कहा ।।११।।

सुबोधिनी—भ्रातृ (?) पुत्रत्वेन स्नेहशिक्षायोग्यता । **उपासीनानिति** । **धर्मयुक्तान्** । **प्रश्रयप्रेमसङ्गतानिनि** ज्ञानोपदेशे हेतुः । विनीतेषु स्निग्धेषु हि ज्ञानमुपदिश्यते भगवद्दर्शनात्क्रूरभावेऽपगते । स्निग्धभावेन वदतीत्याह—**अनुरागास्रै रिति** । अन्धीभूतेन चक्षुषा सहितो, लक्षितो वा स्निग्ध इति । स्वक्लेशेन सहितं परदुःखं रोदने हेतुः । सर्वे हि भगवता व्यामोहिताः । एतेऽपि क्लेशं प्राप्तवन्तो वयमपीति भावः ।।११।।

व्याख्यार्थ—पाण्डव भीष्मजी के भतीजे के पुत्र हैं इसलिए उनमें भीष्मजी का स्नेह है। अतः स्नेह से शिक्षा देने योग्य है । पास में बैठने से वे धर्मयुक्त हैं । अर्थात् उपदेश ग्रहण करने वाले को पास में बैठना चाहिये इस धर्म को पाण्डव समझते हैं इसलिए वे भीष्मजी के पास बैठे हैं । वे विनयी एवं प्रेम करने वाले हैं इसलिए उन्हें ज्ञान का उपदेश दिया जा सकता है । विनीत एवं प्रेमी को ही ज्ञान का उपदेश दिया जाता है । भगवान् के दर्शन होने से पाण्डवों के प्रति होने वाला भीष्मजी का क्रूर भाव नहीं रहा और वे प्रेमभाव से बोले । यह बात 'अनुरागास्रै' से कही है । अनुराग के आंसुओं से अन्धीभूत नेत्रों से युक्त है । अर्थात् आंखों में अनुराग के आंसू भर जाने से वे देख नहीं रहे हैं । अथवा अनुराग के आंसू आने से भीष्मजी हमसे प्रेम करने वाले हैं यह मालूम पड़ा । भीष्मजी को अपना क्लेश तथा पाण्डवों का जो दुःख याद आया वह रोने का कारण है । भीष्मजी विचार रहे हैं कि भगवान् ने सबको व्यामोहित कर लिया जिससे इनने भी क्लेश पाया और हमने भी क्लेश पाया । ११।।

आभास—तेषां क्लेशमनुवदति द्वयेन—

आभासार्थ - पाण्डवों के क्लेश का दो श्लोकों से भीष्मजी अनुवाद कर रहे हैं—

भीष्म उवाच—श्लोक—**अहो कष्टमहोऽन्याय्यं यद्यूयं धर्मनन्दनाः ।
जीवितुं नाऽर्हथ क्लिष्टं विप्रधर्माच्युताश्रयाः ।।१२।।**

श्लोकार्थ—भीष्मजी बोले-आश्चर्य की बात है कि ब्राह्मण, धर्म एवं भगवान् के आश्रित रहने वाले तुम लोग ऐसे दुःखमय जीवन के योग्य नहीं थे । क्योंकि तुम धर्मराज के पुत्र हो । तो भी तुम्हें इतने क्लेश सहन करने पड़े यह बड़े कष्ट और अन्याय की बात है ।।१२।।

सुबोधिनी – अहो कष्टमिति । अहो इत्याश्चर्यं । तेषां वनवासक्लेशं स्मृत्वा निरन्वयमेतत्प्राप्तमित्यहो कष्टम् हेलनकचग्रहणादिक स्मृत्वा अहो अन्याय्यमिति पूर्ववत् । **बीजस्वभावक्षेत्राणां धर्माधर्मैस्तथा पुमान् । सुखं दुःखं च लभते कर्ममार्गेण नाऽन्यथा** । तत्र यद्भवद्भिः प्राप्तं दुःखं क्लेशाच्छारीरमन्यायान्मानसं, तत्कर्मजन्यं न भवति । यस्मात् यूयं धर्मनन्दनाः । यद्यपि युधिष्ठिर एव धर्मपुत्रस्तथापि तत्प्राधान्येन स्थिता इति सर्वे तत्त्वेन व्यपदिश्यन्ते । अतो बीजदोषाभावाद्दुःखं न युज्यते । किञ्च । **विप्रधर्माच्युताश्रयाः** । भवत्सु स्वाभाविको दोषो नास्ति । स्वभावदुष्टा हि त्रेधा धर्मं नाऽऽश्रयन्ते । धर्मो हि त्रिविधः । नीत्यविरुद्धः, स्वभावशुद्धः, ईश्वरसम्बन्धी च । तत्र विप्राश्रितानां सर्वनीतिज्ञानान्नीतिविरोधाभावः । धर्मश्च स्वाश्रितं शुद्धं स्थापयति । अच्युताश्रयत्वाच्चेश्वरसम्बन्धी धर्मः स्फुरति । एकैकाश्रितोऽपि न क्लेशं प्राप्नोति । किमुत त्रितयाश्रितः । त्रयाणामेकभावात् । धर्ममार्गे चेयं व्यवस्था । कालमार्गेण भिन्नतया वक्ष्यति, भगवन्मार्गेण च ।।१२।।

व्याख्यार्थ— श्लोक में अहो पद का अर्थ आश्चर्य है । पाण्डवों के वनवास के क्लेश को याद कर बिना प्रसिद्ध कारण के यह क्लेश तुम्हें प्राप्त हुआ । इसीका आश्चर्य है और दुःख भी है । अपमान एवं द्रौपदी के क्लेश ग्रहण आदि को याद करके भीष्मजी कहते हैं कि आश्चर्य है कि तुम्हारे साथ अन्याय हुआ । बीज स्वभाव एवं क्षेत्रों के धर्म अधर्म से मनुष्य कर्म मार्ग के द्वारा सुख दुःख प्राप्त करता है । अन्यथा नहीं । तुम्हें क्लेश से जो शारीर दुःख हुआ और अन्याय से मानस दुःख हुआ । वह बीज स्वभाव तथा क्षेत्रों के कर्म से नहीं हुआ । क्योंकि तुम धर्म के पुत्र हो । यद्यपि युधिष्ठिर ही धर्म का पुत्र है तथापि उसे ही सब भाई प्रधान रूप से मानते थे इसलिए सभी धर्मनन्दन पद से कहे गये । धर्म पिता है । इसलिए बीजगत दोष न होने से तुम्हें बीज के कारण दुःख होना युक्त नहीं है । और तुममें स्वाभाविक दोष भी नहीं है । स्वाभाविक दोष होता तो वह तुम्हारे दुःख का कारण बनता । जो स्वभाव दुष्ट होते हैं । वे तीन प्रकार के धर्म का पालन नहीं करते । पहला नीति के अविरुद्ध । दूसरा भाव शुद्ध । तीसरा ईश्वर सम्बन्धी । तुम ब्राह्मणों के आश्रित हो । इसलिए सब नीति का ज्ञान होने से तुममें नीति के अविरुद्ध धर्म है । तुमने धर्म का आश्रय लिया है । इसलिए धर्म अपने आश्रित को शुद्ध रखता है । अतः आप स्वभाव शुद्ध भी हैं । आप लोग भगवान् के आश्रय में हैं इसलिए आप लोगों को ईश्वर सम्बन्धी धर्म की स्फूर्ति है । इनमें से एक एक का भी आश्रय लेने वाला क्लेश नहीं पाता । तो तीनों धर्मों का पालन करने वाला कैसे क्लेश पायगा । क्योंकि तीनों धर्मों की एकत्र सत्ता है । यह व्यवस्था धर्म मार्ग में है । काल मार्ग से तथा भगवन्मार्ग से तुम्हें क्लेश मिला यह भिन्न रूप से भीष्मजी कहेंगे ।।१२।।

आभास—एव स्वभावबीजदोषौ परिहृत्य क्षेत्रदोषाभावायाऽऽह—

आभासार्थ—इस प्रकार पाण्डवों में स्वभाव एवं वीर्यगत दोषों का परिहार कर उनमें क्षात्रज दोष भी नहीं है यह कहते हैं—

श्लोक—**संस्थितेऽधिरथे पाण्डौ वृथा बालप्रजा वधूः ।**
युष्मत्कृते बहून्क्लेशान् प्राप्ता तोकवती मुहुः ।।१३।।

श्लोकार्थ—महाबली पाण्डु के देह त्याग करने पर छोटे बालक वाली कुन्ती ने तुम्हारी तथा माद्री के अत्यन्त छोटे पुत्र नकुल सहदेव की रक्षा के लिए बार-बार कष्ट उठाये ।।१३।।

सुबोधिनी—संस्थित इति । संस्थितिः शरीरत्यागः । **अधिरथ इति** शौर्यं क्षत्रियधर्मः । **पाण्डुरिति** राजत्वम् । बालाः प्रजा यस्याः । अनेन रक्षकान्तराभावः सूचितः । **वधूरिति** स्वधर्मपरिपालनं सूचितम् । अत एव **युष्मत्कृते** धर्ममार्गेण भवद्रक्षार्थं बहून् क्लेशान् प्राप्तवती । माद्रीपुत्रौ तोकौ यमलजातावतिबालकौ पदचलनेऽप्यशक्तौ । अत एव मुहुः । तस्मात्सर्वथा स्वधर्मपरिपालनान्न क्षेत्रदोषः । दृष्टं त्वदृष्टसापेक्षमित्यदृष्टाभावे दृष्टमप्यरमदादिरूपं न हेतुरिति ज्ञापितम् ।।१३।।

व्याख्यार्थ—श्लोक में संस्थिति पद से शरीर त्याग अर्थ लिया गया है । अधिरथ पद से शौर्य रूप क्षत्रिय का धर्म कहा है । अर्थात शौर्य वाले पाण्डु राजा के शरीर त्याग करने पर इससे यह सूचित हुआ कि पाण्डु के मर जाने से पाण्डवों का रक्षक दूसरा नहीं था । छोटी है सन्तान जिसकी ऐसी वह कुन्ती वधू थी । वधू पद से कुन्ती अपने धर्म का परिपालन करने वाली थी । यह सूचित हुआ । स्वधर्म पालन करने वाली थी । इसीलिए धर्ममार्ग से तुम्हारी रक्षार्थ बहुत क्लेश पाई । माद्री के पुत्र जो दोनों साथ उत्पन्न हुए थे और बहुत छोटे बालक थे । पैरों से नहीं चल सकते थे । उनके पालन करने से कुन्ती को बार-बार दुःख हुआ । कुन्ती सर्वथा अपने धर्म का पालन करने वाली थी । इससे क्षेत्र दोष से पाण्डव दुःख पाये यह भी बात नहीं है । देखी गई बात अदृष्ट को लेकर ही होती है । तुम्हारा अदृष्ट यदि ऐसा नहीं होता तो दृष्ट हम लोग भी दुःख के कारण नहीं होते । इसलिए दुःख में तुम्हारा अदृष्ट (भाग्य) ही कारण है यह भीष्मजी ने पाण्डवों को कहा ।।१३।।

आभास—अकारणककार्योत्पत्त्यभावात्किं कारणमित्याकांक्षायामाह—

आभासार्थ—बिना कारण के कार्य नहीं होता तो तुम्हारे दुःख में क्या कारण है ऐसी आकांक्षा पर कहते हैं कि—

श्लोक—**सर्वं कालकृतं मन्ये भवतां यद्यदप्रियम् ।**
सपालो यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिः ।।१४।।

श्लोकार्थ—तुम्हें जो-जो भी दुःख हुए हैं उन सबको मैं काल से किये हुए मानता हूं । जैसे मेघ पंक्ति वायु के अधीन होती है । वैसे ही इन्द्रादि सहित लोक काल के वश में है ।।१४।।

सुबोधिनी—सर्वं कालकृतमिति । सर्वमाध्यात्मिकादि । अस्मत्कृतमन्यकृतं वा सर्वं कालकृतं कालकर्तृकम् । न तु निमित्तमात्रत्वं कालस्य । ज्योतिःशास्त्रे तथैव प्रतिपादनात् । ननु बहूनां हेतुत्वेन प्रतिपादनाल्लोककालकर्मस्वभावेश्वराणां मध्ये कथं कालस्यैव हेतुत्वम् ? तत्राऽऽह—**मन्य**

इति । ममैवं प्रतिभाति । "**प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तय**" इति वाक्यात्स्वमनसि निश्चितं यदेतेषां काल एव दुःखहेतुः । ज्योतिश्शास्त्रसंवादाल्लोककर्मणोर्निराकरणाच्च । ज्ञानिनोऽपि क्लेशात्स्वभावान्तःपाति न मायादि हेतुः । ईश्वरस्य च सहवृत्त्या भक्तत्वाच्च नेश्वरकृतं दुःखम् । अतः पारिशेष्यात्कालकृतमेव मन्ये । **यद्यदिति** प्रसिद्धया नैतादृश कर्म भवतां जन्मान्तरेऽपीति सूचितम् । प्रकृतोपयोगाय कालस्य सामर्थ्यमाह—**सपाल इति** । स्वाधारवश्यत्वाल्लोकानां वयसा च व्याप्तत्वात्कालाधीनत्वम् । कालमित्या भोगाच्च । ब्रह्माण्डस्थितिरपि कालमिता । **सपालो लोकः** इन्द्रादिसहितो लोकः । न केवलमुत्पत्तौ कालवशत्वम् । किन्तु स्थितिकार्यकरणनाशेऽपीति दृष्टान्तमाह—**वायोरिति** । यथा वायोर्वशे घनपंक्तिः । सर्वमासेषु समागच्छन्तोऽपि मेघा वायुनैव भवन्ति न भवन्ति च ॥१४॥

व्याख्यार्थ—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक ताप हमसे किया गया अथवा दूसरे से किया गया । वह सब काल का किया हुआ है । अर्थात् काल ने ही तुम्हारे ऊपर विपत्ति आदि उत्पन्न की । ऐसा मैं मानता हूँ । काल केवल निमित्त ही नहीं है क्योंकि ज्योतिष शास्त्र में काल से ही सब कुछ होता है ऐसा प्रतिपादन किया गया है इसलिए काल से ही तुम्हारे ऊपर क्लेश आये । शङ्का होती है कि दुःखादि के कारण बहुत से बताये गये हैं । जैसे लोक, काल, कर्म, स्वभाव एवं ईश्वर है तो इनमें काल को ही दुःखादि का कारण कैसे बताया इसका उत्तर देते हैं कि मुझे ऐसा मालूम पड़ता है इसमें 'प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः' अन्तःकरण की प्रवृत्तियां हो प्रमाण हैं । इसके अनुसार मैंने अपने मन में निश्चय किया है कि पाण्डवों में दुःख में काल ही कारण है । ऐसा मानने पर ज्योतिष शास्त्र से अनुकूलता हो जाती है । 'अहो कष्टम्' इस पूर्व में आये हुए श्लोक में 'धर्मनन्दनाः' 'विप्रधर्माच्युताश्रयाः' ये दो पद बताते हैं कि युधिष्ठिर के धमपुत्र होने से वह धार्मिक ही कार्य कर सकता है । अधार्मिक नहीं । तो कर्म के कारण तुम्हें दुःख हुआ यह मैं नहीं मान सकता । धर्माश्रय होने से लोक भी तुम्हारे दुःख के कारण नहीं हो सकते । माया से मुक्त ज्ञानी भी क्लेश पाते हैं इसलिए स्वभाव के भीतर आई हुई माया आदि भी तुम्हारे दुःख के कारण नहीं हो सकते । ईश्वर तुम्हारे साथ थे और तुम भक्त थे इसलिए ईश्वर कृत दुःख भी तुम्हें नहीं हो सकता । अतः शेष रहा काल ही तुम्हें दुःख देने वाला रहा यह मैं मानता हूं । जो-जो प्रसिद्ध बड़े-बड़े दुःख आये उनका कारण तुम्हारे जन्मान्तर के कर्म भी नहीं हो सकते । यह 'यद्यत्' पद से सूचित हुआ । प्रकृत में उपयोगी काल का सामर्थ्य कहते हैं । 'सपालो यद्वशेलोकः' काल सबका आधार है और आधार के वश में सभी होते हैं । अवस्था भी काल से होती है इसलिए काल के अधीन सब है । काल मान से हो सुख-दुःखों का भोग प्राप्त होता है । अर्थात् अमुक अमुक समय तक ही सुख-दुःखादि होता है । ब्रह्माण्ड की स्थिति भी अमुक काल तक ही रहती है । इन्द्रादि सहित लोक की उत्पत्ति स्थिति नाश काल के कारण ही होते हैं । इसमें दृष्टान्त कहते हैं कि वायोरिव घनावलिः' जैसे मेघ पंक्ति वायु के अधीन होती है । सब महिनों में आते हुए भी मेघ वायु से ही रह पाते हैं और वायु के कारण ही नहीं रह पाते । ऐसे ही सब कुछ कालकृत है । ऐसा मानना चाहिये ॥१४॥

आभास—कालकृते पूर्वोक्तकर्मादिनिराकरणे च तर्कमाह—

आभासार्थ—काल ने ही सब कुछ किया है लोक, कर्म, स्वभाव और ईश्वर तुम्हारे दुःख में कारण नहीं है । इसमें भीष्मजी तर्क कहते हैं—

श्लोक—**यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः ।**
कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपत् ॥१५॥

श्लोकार्थ—जहां धर्मराज का पुत्र युधिष्ठिर राजा हो । गदा धारण किये हुए भीमसेन हो । अस्त्रों को जानने वाला गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन हो और हित चाहने वाले भगवान् कृष्ण हो वहां भी विपत्ति रहे यह कालकृत ही मानता हूं ॥१५॥

सुबोधिनी—यत्रेति । सर्वा दृष्टसामग्री वर्तते दुःखाभावहेतुः । धर्मः पुत्रं पालयति । स च राजा । स्वयं पालितोऽन्यान् पालयेत् । **वृको** दशविधः प्राण उदरे यस्य । स च बलाधिष्ठात्री देवता । **गदापाणिः**। ससाधनः । **कृष्णोऽर्जुनः** । नाम्ना समानधर्मत्वं प्राप्तः । **अस्त्री** । गाण्डीवधनुषा ब्रह्मास्त्रादिप्रयोगसमर्थः । चापस्याऽक्षयत्वं नाम्ना सूचयति । अन्यत्तु नाशयोग्यम् । भगवांश्च **सुहृत्** हितान्वेषी । एत एव विचार्यमाणे दुःखहेतवो जाताः । तथाहि । पाण्डुना पूर्वमेव पुत्रं पार्श्वे स्थापयित्वा राज्यत्यागः कृतश्चेत्तदा न दुःखशङ्का । भीमस्य वा महाबलत्वाभावे न दुःखं भवेत् । अर्जुनस्य वा राधावेधाद्यकरणे मात्सर्याभावान्न दुःखं भवेत् । अग्निना वा साधनानि न दत्तानि चेदिन्द्रेण सह कलहाभावाद्देवद्रोहो न भवेत् । भगवता साहाय्यं न कृतं स्यात्तदा दीनदयया दुःखदातृभिर्दुःखं न दत्तं स्यात् । तस्मात्सुखसाधनत्वेन ये गृहीतास्तैश्चेद्दुःखं तदा कालकृतमित्येव निश्चयः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—देखी गई सब सामग्री पाण्डवों को दुःख न होने का कारण है अर्थात् पाण्डवों के पास ऐसी सामग्री थी । जिससे उन्हें कभी दुःख नहीं हो सकता था क्योंकि युधिष्ठिर धर्म का पुत्र है इसलिए अपने पुत्र का पालन धर्म करता है और वह धर्मपुत्र युधिष्ठिर राजा है । राजा होने से स्वयं धर्म से पालित हुआ। अन्य की रक्षा करता है । भीमसेन वृकोदर है । वृकोद का अर्थ यह है कि दस प्रकार के प्राण जिसके उदर में हो । वह दस प्रकार का प्राण जो वृक शब्द से कहा गया है वह बल की अधिष्ठात्री देवता है । भीमसेन के गदा हाथ में है अतः वह गदा रूप साधन सहित है । श्लोक में पहले के कृष्ण पद से यहां अर्जुन लिया गया है । अर्जुन को कृष्ण पद से बोधित कर यह बताया है कि भगवान् के समान धर्म उसमें भी है । वह अर्जुन अस्त्र वाला है अर्थात् गाण्डीव धनुष से ब्रह्मास्त्र आदि चलाने में समर्थ है । धनुष का नाम गाण्डीव है इसलिए यह अक्षय है । अन्य धनुष नाश योग्य है । पाण्डवों के हित के चाहने वाले भगवान् हैं । ऐसी स्थिति में पाण्डवों को दुःख होना ही नहीं चाहिये परन्तु दुःख हुआ तो विचार करने पर श्लोक में जिनका उल्लेख है वे ही दुःख के कारण बने हैं । यदि पाण्डु राजा ने अपने पुत्र को युवराज बनाकर राज्य त्याग कर दिया होता तो दुःख की शंका नहीं रहती । राज्य में भीमसेन यदि महाबली न होता तो दुर्योधन को ईर्ष्या न होने से पाण्डवों को दुःख न होता । अर्जुन यदि राधावेध आदि कार्य न करता तो दुर्योधन को अर्जुन के शौर्य से मात्सर्य नहीं होता और वह पाण्डवों को दुःख नहीं देता । अग्नि यदि गाण्डीव धनुष आदि साधन न देता तो इन्द्र के साथ कलह न होने से देवताओं के साथ द्रोह नहीं होता । भगवान् सहायता न करते तो पाण्डवों को दीन समझकर दुःख देने वालों को दया रहती और वे दुःख न देते । इसलिए जो सुख के साधन रूप श्लोक में बताये गये भीमसेन आदि से दुःख हुआ वह सब कालकृत ही था । अर्थात् जिनसे सुख मिलना चाहिये उनसे ही दुःख हुआ । तो यह निश्चय है कि यह सब कुछ काल ने ही किया था । १५॥

आभास—नन्वेवं सति कालस्य बलिष्ठता सूचिता । तथाच कथं भगवन्तं कालोऽतिक्रामेत् ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—शङ्का करते हैं कि इस प्रकार मानने पर काल की बलिष्ठता सूचित होती है । परन्तु काल भगवान् का अतिक्रमण कैसे कर सकता है । अर्थात् यदि भगवान् दुःख देना न चाहे तो काल दुःख कैसे दे सकता है इसका उत्तर देते हैं कि—

श्लोक—**नह्यस्य कर्हिचिद्राजन्पुमान्वेद विधित्सितम् ।**
यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! इन भगवान् को क्या करना इष्ट है यह कभी कोई नहीं जानता । भगवान् क्या करना चाहते हैं इसकी जानने की इच्छा वाले ज्ञानी भी मोहित हो जाते हैं ॥१६॥

सुबोधिनी— नह्यस्येति । अस्य भगवतो विधित्सितं कोऽपि न वेद । यद्यपि कालो भगवदाज्ञाकारित्वाद्भगवदिच्छायां सत्यां न प्रवर्तते । परं भगवदिच्छैव ज्ञातुमशक्या । भगवान्न सुखदुःखहेतुः । तथा सति सर्वत्र सर्वस्य स्यात् । किन्तु भगवदिच्छा सा कार्यैकोन्नेया न कार्यात्पूर्वमवगन्तुं शक्या । नन्वेवं सति भगवान् कथं विश्वसनीयः ? तत्राऽऽह—**यद्विजिज्ञासयेति** । भगवान् पाण्डवेभ्यः किं दुःखं दत्तवान्, निर्वेदार्थं वा सुखं दत्तवान्, भगवत्परिपालितत्वज्ञानेन भक्तिं वा दत्तवान्, कौरवाणां वा हितं कृतवानिति विचारे क्रियमाणे सर्वत्र युक्तिसम्भवात् । अत एव कवयोऽपि मुह्यन्ति । अवाङ्मनोगोचरे युक्तिर्न प्रवर्तत इति **हिशब्दार्थः** ॥१६॥

व्याख्यार्थ—ये भगवान् क्या करना चाहते हैं यह कोई नहीं जानता । यद्यपि काल भगवान् का आज्ञाकारी है तो पाण्डवों को दुःख देने की भगवान् की इच्छा न हो तो काल दुःख नहीं दे सकता । परन्तु भगवान् की इच्छा क्या है यह ही ज्ञात नहीं हो सकता । भगवान् सुख-दुःख देने के कारण नहीं हैं । यदि वे कारण हों तो सबको सब जगह सुख-दुःख मिलना चाहिये । इसलिए सुख दुःख का कारण भगवदिच्छा है । उसका कार्य के द्वारा ही ज्ञान हो सकता है । कार्य के प्रथम नहीं अर्थात् अमुक कार्य के होने पर भगवान् की इच्छा ऐसे कार्य करने की थी यह ज्ञात हो सकता है । शङ्का करते हैं कि ऐसी स्थिति में भगवान् का कैसे विश्वास किया जाय । अर्थात् पाण्डवों के भक्त होने पर भी भगवान् की इच्छा उनको दुःख देने की रहे तो भगवान् का कौन विश्वास करेगा । इस पर कहते हैं कि "यद्विजिज्ञासया" भगवान् ने पाण्डवों को दुःख दिया । अथवा वैराग्य के लिए सुख दिया । भगवान् ने हमारा पालन किया ऐसा पाण्डवों को ज्ञान होने से उनको भक्ति दी । यदि पाण्डवों पर विपत्ति न आती तो भगवान् विपत्ति से नहीं बचाते ऐसी स्थिति में पाण्डवों को माहात्म्य ज्ञान नहीं होता तो भक्ति भी नहीं होती । अथवा कौरवों को मोक्ष देकर उनका हित किया । ऐसे विचार करने पर ऊपर कही गई सब बातों में युक्ति हो सकती है । अतएव भगवान् के कार्य में कवि ब्रह्मादि ज्ञानी भी मोहित हो जाते हैं । वाणी एवं मन के अविषय भगवान् में युक्ति काम नहीं देती इसी बात को श्लोक में आया हुआ 'हि' शब्द कहता है ॥१६॥

आभास—तर्ह्यतः परं कः प्रतीकार इत्यत आह—

आभासार्थ—तो आगे अब कौनसा प्रतीकार हो सकता है इसका उत्तर देते हैं कि—

श्लोक—**तस्मादिदं दैवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ ।**
तस्याऽनुविहितोऽनाथा नाथ पाहि प्रजाः प्रभो ।।१७।।

श्लोकार्थ—हे भरत श्रेष्ठ ! इसलिए यह सब कुछ कालरूप भगवान् के अधीन है ऐसा निश्चय कर हे नाथ ! हे प्रभो ! उन भगवान् के आज्ञाकारी होते हुए अनाथ प्रजा की रक्षा करिये ।।१७।।

सुबोधिनी—तस्मादिति । यस्मात्सर्वं कालाधीनम् । स च कालो भगवान् । तदेव च देवशब्दवाच्यम् । कालातिक्रमश्च प्रकारान्तरेण न सम्भावनीयः । तस्मादेतदनुविहितः एतदाज्ञाकारी सन् अनाथाः प्रजाः पाहि । आज्ञाकरणेन स्वधर्मेण च भगवान्परितुष्यतीति मर्यादा । यद्यपि विशेषतः प्रमेयबलविचारेण भगवान् केन तुष्यतीति न ज्ञायते तथापि प्रमाणबलविचारेणैतदुक्तम् । पूर्वं दुर्योधनादयो नाथाः स्थिताः । इदानीमनाथाः प्रजाः । अथवा । त्वयि नाथेऽपि नाथत्वाभिमानाभावाद्दयया केवलं ताः प्रजाः पालनीयाः । समर्थत्वात् ।।१७।।

व्याख्यार्थ—सब काल के अधीनं है । वह काल भगवान् है । उसे ही दैव शब्द से कहा जाता है । काल का अतिक्रमण दूसरे प्रकार से नही हो सकता । अतः भगवान् का आज्ञाकारी होता हुआ तू अनाथ प्रजा की रक्षा कर । आज्ञा पालन से तथा प्रजा पालन रूप स्वधर्म से भगवान् राजी होते हैं । यह मर्यादा है । यद्यपि विशेष रूप से प्रमेय बल का विचार किया जाय तो भगवान् किससे सन्तुष्ट होते हैं यह नहीं ज्ञात होता । तथापि प्रमाण बल के विचार से यह सिद्ध होता है कि भगवदाज्ञा पालन से एवं स्वधर्म पालन से भगवान् प्रसन्न होते हैं । पहले इस प्रजा के दुर्योधन आदि स्वामी थे । इस समय यह प्रजा अनाथ है । इसका पालन मुझे करना चाहिये । अथवा तुम्हारे स्वामी होते हुए भी तुममें स्वामित्व का अभिमान नहीं है । इसलिए अनाथ इस प्रजा का केवल दया से पालन करो । क्योंकि तुम समर्थ हो ।।१७।।

आभास—ननु "**तस्याऽनुविहित**" इति पूर्वपरामर्शात्पूर्वं कालस्य निरूपितत्वात् "**दैवतन्त्रमि**" त्यनेन ततोऽपि पूर्वं कृष्णस्य निरूपितत्वात्कस्याऽनुविहितो भवेदिति सन्देहे, कालस्य सर्वाधीनत्वकथनात्तदधीनत्वमनूद्य प्रजापालनं विधीयत इत्यायाति । "**न ह्यस्येति**" वाक्ये च पूर्वं कृष्णस्य निरूपणात्कालाधीनत्वे निरूपिते तन्निवारणार्थं तद्विधित्सितसन्देहो निरूपितः । तत्र किं कृष्णः कालाधीनो न भवतीति निरूप्यते ? कालकारणत्वं वा निवार्यते ? कालकृष्णयोर्वा सहभावेन दुःखकारणत्वं निरूप्यते ? त्रिष्वपि पक्षेषु कालात्कृष्णस्य भेदः समायाति । ततश्च कालपक्षः पूर्वापरविरुद्ध

इत्याशङ्क्य तन्निराकरणार्थं काल एव कृष्णः स च भगवानिति कृष्णस्य भगवत्त्वं विस्तरेण निरूपयति—

आभासार्थ—शङ्का होती है कि 'तस्यानुविहित' यहां तत्पद पहले कहे को बताता है। पहले 'दैवतन्त्रम्' से काल का निरूपण है। उससे पूर्व 'न ह्यस्य कर्हिचिद् राजन्' से कृष्ण का निरूपण किया गया है। तो संदेह होता है कि काल का आज्ञाकारी हो अथवा भगवान् का। काल के अधीन सब है इसलिए उसके अधीन रहता हुआ प्रजा पालन कर यह काल की अधीनता में अर्थ होता है। 'न ह्यस्य' इस वाक्य में कृष्ण का निरूपण कालाधीन बताने पर उस काल का निवारण हो इसलिए भगवान् के कैसे कार्य करने की इच्छा है यह सन्देह निरूपित हुआ है। वहां यह सन्देह होता है कि क्या कृष्ण कालाधीन नहीं होता यह निरूपण करना है। अथवा काल दुःख सुख का कारण नहीं होता यह कहना है। अथवा काल और कृष्ण दोनों मिलकर दुःख के कारण होते हैं। यह कहना है इन तीनों पक्षों में काल से कृष्ण का भेद है यही सिद्ध होता है। तो काल पक्ष पूर्वा पर विरुद्ध है ऐसी आशङ्का के निराकरण के लिये कहते हैं कि काल ही कृष्ण है और वह भगवान् है, कृष्ण भगवान् हैं इसका विस्तार से निरूपण करते हैं—

श्लोक—**एष वै भगवान् साक्षादाद्यो नारायणः पुमान्।**
मोहयन् मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु ॥१८॥

श्लोकार्थ—ये भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् आदि पुरुष नारायण ही हैं। जो कि अपनी माया से लोक को मोहित करते हुए वृष्णि वंश में गूढ भाव से विचर रहे हैं ॥१८॥

सुबोधिनी- **एष वै भगवानिति**। एषः कालरूपः कृष्णः, **वै** निश्चयेन, उपचाराभावेन ज्ञानद्वाराभावेन च **साक्षाद्भगवान्**। ननु किमस्य कृष्णस्य कालरूपस्य भगवत्त्वे? तत्राऽऽह—**आद्यो नारायणः पुमानिति**। य **आद्यः** पुरुषोत्तमः स एव **नारायणो** ब्रह्माण्डविग्रहः। स **पुमान्** स्वराट्। अनेन कालस्य कृष्णत्वं कृष्णस्य भगवत्त्वं भगवतः पुरुषोत्तमत्वं पुरुषोत्तमस्य नारायणत्वं नारायणस्य स्वराट्पुरुषत्वमिति। स च स्वशरीरे भारप्रतिभाने तन्निवारणार्थं समागतो यदुषु प्रविष्टो वर्त्तते। यथाऽऽत्मानं कोऽपि न जानाति तथा **मायया नरचेष्टाभिर्लोकं** व्यामोहयन् सर्वथा भगवत्त्वं सङ्गोप्य सर्वान् भक्षयितुं चरतीत्यर्थः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—यह जो कालरूप कृष्ण है यह निश्चय ही भगवान् है। कालरूप इस कृष्ण में भगवत्त्व औपचारिक (आरोपित) नहीं है और ज्ञान द्वारा भावना करने पर यह सिद्ध है कि साक्षात् भगवान् है। शङ्का होती है कि कालरूप कृष्ण भगवान् है यह कैसे समझा जाय तो कहते हैं कि 'आद्यो नारायणः पुमान्' पहले होने वाला जो पुरुषोत्तम है वही ब्रह्माण्ड देह वाला नारायण है। उसे ही स्वराट् भी कहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि काल कृष्णरूप है। कृष्ण भगवान् है और भगवान् पुरुषोत्तम है और पुरुषोत्तम नारायण है और नारायण स्वराट् पुरुष है। अर्थात्

स्वयं प्रकाश होने वाला पुरुष है । उस भगवान् को अपने शरीर में भार मालूम होने पर उसे दूर करने के लिए यादवों में आये हैं । जैसे अपने को कोई न जाने उस रूप में भगवान् मनुष्य की चेष्टाओं से लोकों को व्यामोहित करते हुए अपने में रहे भगवत्व को सर्वथा छिपाने हुए सबको खाने के लिए भ्रमण कर रहे हैं ।।१८।।

आभास—ननु कथमयमेवम् ? कथं वा कोऽपि न जानाति ? इत्यत आह **अस्याऽनुभावमिति** द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—शङ्का करते हैं कि, ये भगवान् इस प्रकार के कैसे हैं इन्हें कोई भी क्यों नहीं जानता । इसका उत्तर 'अस्यानुभावम्' इन दो श्लोकों से देते हैं—

श्लोक—**अस्याऽनुभावं भगवान् वेद गुह्यतमं शिवः ।**
देवर्षिर्नारदः साक्षाद्भगवान्कपिलो नृप ।।१६।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! इन भगवान् के अत्यन्त गुप्त प्रभाव को भगवान् शिव, देवर्षि नारद तथा साक्षात् भगवान् कपिलदेवजी जानते हैं ।।१६।।

सुबोधिनी—अयमेवमेव । एतस्यैवंविधस्यैवमनुभावः सर्वमारणलक्षणः सर्वगोप्यः । तं शिव एव जानाति । यस्तं स्मरन्सर्वान्भक्षयन्नपि शिवः कल्याणरूपो भवति । तथा देवर्षिर्नारदः सर्वत्र प्रविश्य सर्वान्मारयन्सर्वहितत्वेन प्रतिभातः । तथा साक्षाद्भगवान् कपिलो यः प्रकृतेरेव कारणत्वं निरूप्य पुरुषकारणत्वं निवार्य सर्वहेतुः सन् सर्वहेतुत्वं निवारयति । अतः सात्त्विकेषु राजसेषु तामसेषु गुणातीतत्वेनोक्तास्त्रय एव जानन्ति ।।१६।।

व्याख्यार्थ—यह भगवान् इस प्रकार का ही है । इस प्रकार के इसका सबके मारने का प्रभाव सर्व गोप्य है । उसके प्रभाव को शिवजी ही जानते हैं । जो उन भगवान् का स्मरण करते हुए सबको भक्षण करते हुए भी कल्याण रूप है । वैसे ही नारदजी सर्वत्र प्रविष्ट होकर सबको मारते हुए भी स्मरण करने के कारण सबके हितैषी ज्ञात होते हैं तथा साक्षात् भगवान् कपिल देवजी जिनने प्रकृति को ही विश्व का कारण बताकर पुरुष की कारणता को निराकृत किया है । वे कपिलदेवजी पुरुष रूप होने से सबके कारण रूप होते हुए भी अपने आप को पुरुष रूप से किसी का कारण नहीं मानते अतः सात्त्विक राजस तामसों में जो निर्गुण शिव नारद कपिल हैं ये तीन ही भगवान् के प्रभाव को जानते हैं । शिवजी तामस होते हुए भी गुणातीत कहे गये हैं । इसी प्रकार नारदजी राजस होते हुए कपिलजी सात्त्विक होते हुए गुणातीत कहे गये हैं ।।१६।।

आभास—अन्ये तु बहुधा श्रुत्वाऽपि न जानन्ति, यथा भवन्त इत्याह—

आभासार्थ—दूसरे तो अनेक प्रकार से उनके प्रभाव को सुनकर भी नहीं जानते हैं । जैसे तुम लोग (पाण्डव) नहीं जानते हो यही कहते हैं—

श्लोक—**यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम् ।**
अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथसारथिम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—जिस कृष्ण को मामा का पुत्र, प्रीति का विषय, मित्र, अत्यन्त हितैषी मानता है। जिसको तू ने मंत्री बनाया कभी दूत कभी सौहृद से रथ का सारथि बनाया था ॥२०॥

सुबोधिनी—यं मन्यस इति । वसुदेवगृहेऽवतारान्मातुलपुत्रं मन्यसे । किञ्च । **प्रियं** प्रीतिविषयं मन्यसे सम्बन्धेनाऽऽत्मीयत्वेन । **मित्रमु**पकारित्वेन । गुह्यनिरन्तरोपकारित्वेन द्रौपद्यादिदानात्सुहृत्तमं च । **सुहृत्** सद्भावयुक्तः कदाऽप्यकपटः परोक्षे प्रत्यक्षे च साक्षात्परम्परया च तद्धितमेव विचारयति । न केवलं ज्ञानमात्रं, किं त्वयुक्तानि बहून्येव कृतवान् । तदाह । **अकरोः सचिवम्** । सचिवो मन्त्री । दूतो हीनतया कार्यसाधकः । व्यवहारे समस्याऽपि हीनत्वकरणं सौहार्दात् अत एव रथस्य सारथिं कृतवान् । रथस्य रक्षकः सारथिर्नियतः केवलसारथ्यव्यावृत्त्यर्थः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी के घर में अवतीर्ण हुए हैं इसलिए तुम इनको मामा के पुत्र मानते हो सम्बन्ध से और आत्मीयता से इन्हें प्रिय मानते हो । द्रौपदो आदि के दिलाने से गुप्त रूप से निरन्तर उपकारी होने के कारण मित्र मानते हो और सुहृत्तम मानते हो । जो सद्भावना युक्त हो कभी कपट नहीं करता हो परोक्ष और प्रत्यक्ष में साक्षात् एवं परम्परया अपने का हित ही विचारता हो वह सुहृद है । तुमने भगवान् को इस रूप में समझा ही हो यह नहीं किन्तु ऐसा समझकर इनसे अनेक अयुक्त कार्य भी कराये हैं । यही कहते है कि 'अकरोः सचिवम्' आदि तुमने इन्हें मन्त्री बनाया हीन होकर कार्य सिद्ध करने वाला दूत बनाया व्यवहार में समान भी व्यक्ति सौहार्द से हीन कार्य करता है इसलिए यह देखा गया है भगवान् ने सौहार्द से दूत कार्य भी कर दिया । तुमने इन्हें रथ का सारथि बनाया । श्लोक में सारथि न देकर रथ सारथि देने का तात्पर्य यह है कि भगवान् केवल सारथ्य ही नहीं करते थे किन्तु रथ के रक्षक होते हुए सारथि थे ॥२०॥

आभास—नन्वन्ये भगवन्तं मा जानन्तु । भगवांस्त्वात्मानं जानन् कथं हीने कर्मणि प्रवर्तते ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—शङ्का करते हैं कि दूसरे (पाण्डवादि) भगवान् के स्वरूप को न जाने किन्तु भगवान् तो अपने आपको जानते हैं तो फिर हीन कर्म में कैसे प्रवृत्त हुए इसका उत्तर देते हैं कि—

श्लोक—**सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्याऽनहंकृतेः ।**
तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित् ॥२१॥

श्लोकार्थ—जिस भगवान् का स्वरूप सब में है। जिसकी शत्रु, मित्र, उदासीन में समबुद्धि है जो अपने से भिन्न को देखता ही नहीं और अहङ्कार रहित है तथा जो

सर्वत्र सदा पाप रहित है उसकी ऊँच-नीच कर्म से होने वाली वैषम्य बुद्धि नहीं हो सकती ।।२१।।

सुबोधिनी—सर्वात्मन इति । सर्वस्मिन्नात्मा यस्य । अनेन स्वार्थमेव करोति । कथं वैषम्यं स्यात् । वेदादिप्रणेतृत्वाच्च शत्रुमित्रोदासीनेषु समबुद्धिः । अतोऽपि न **वैषम्यम्** । **किञ्च** । भेददर्शने सत्येवं **भवति** । तस्य तु **सर्वत्राऽऽत्मैव** भासते । अतो न विद्यते द्वैतं यस्य । तादृशस्य कथं वैषम्यम् । **स्वरूपेण प्रमाणेन प्रमेयेण निराकृतम्** । **वैषम्यमवतारे तु निरहंक्रियया तनौ** । न विद्यते अहंकृतिर्यस्य । **तत्कृतमुच्च**नीचकर्मकृतम् । सर्वमेव किञ्चित्कर्तव्यमिति **करोति** । न तूत्कृष्टमिति । ननु होनकर्मणा कथं न दोषः स्यात् ? अत आह—**निरवद्यस्येति** । अपहतपाप्मन इत्यर्थः । अपहतपाप्मत्वं न **देशकालावच्छिन्न**मित्याह—**न क्वचिदिति** ।।२१।।

व्याख्यार्थ—जिसका स्वरूप सब में है। अतः वह जो कुछ कार्य **करता** है वह अपने हो लिए करता है । तो उसमें **वैषम्य** (हीन उच्च) कैसे हो सकता है । वेद **आदि** के **निर्माता** होने से शत्रु मित्र **उदासीन में उनकी समान बुद्धि है इसलिए इनमे** वैषम्य नहीं है। विषमता भेद देखने में होता है । भगवान् तो **सर्वत्र अपने** आपको **ही देखते** हैं । अतः वे अपने से भिन्न किसी को नहीं देखते । तो इस प्रकार के भगवान् में वैषम्य कैसे रह सकता है । श्लोक में आये हुए 'सर्वात्मनः' पद से स्वरूप कृत वैषम्य नहीं है यह कहा । 'समदृशः' पद से प्रमाणतः 'अद्वयस्य' पद से प्रमेयतः भगवान् में वैषम्य नहीं है । अवतार दशा में अपने श्री अङ्ग में अहङ्कार न होने से वैषम्य नहीं है । उच्च-नीच कर्म से इनमें **वैषम्य** नहीं है । कुछ करना चाहिये इसलिए ये सब कुछ करते रहते हैं । उत्कृष्ट है इसलिए करना **चाहिये ये बात** इनमें नहीं है । यदि कहें कि होन **कर्म** के कारण भगवान् में दोष क्यों नहीं लगेगा तो कहते हैं कि 'निरवद्यस्य' वह पाप रहित है । इसलिए उन्हें किसी प्रकार का दोष नहीं लगता । अमुक स्थल में अथवा अमुक काल में ही थे अपहतपाप्मा है यह बात नहीं किन्तु सर्वत्र सर्वदा ये पापमुक्त हैं यहो बात श्लोक में आये हुए 'न क्वचित्' पद से कही गई है । २१।।

आभास—तस्मादयमेव सर्वभक्षकोऽज्ञानादुपचरित एवं कृतवानित्युक्ते भयमसेव्यता च प्रतिभाता । तन्निराकरणार्थमाह—

आभासार्थ—इसलिए यही भगवान् सर्वभक्षक हैं यह अज्ञान से भगवान् में आरोप है । इस प्रकार यदि भगवान् ने किया ऐसा कहते हैं तो भगवान् से भय होगा **और** ऐसा **प्रभु** सेव्य नहीं होगा । इस शङ्का के निराकरण के लिए कहते हैं कि—

श्लोक—**तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपाऽनुकम्पितम् ।**
यन्मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात्कृष्णो दर्शनमागतः ।।२२।।

श्लोकार्थ— यद्यपि यह भगवान् सम है अथवा सर्वभक्षक है । तथापि हे राजन् ! अनन्य भक्तों पर इनकी अनुकम्पा को देखो जो कि स्तुति करने वाला मैं हूं । उसका

भक्त्याभास मानकर अर्थात् हृदय की भक्ति न समझ मेरे प्राण त्याग करने के समय मुझे मुक्ति देने के लिए इन कृष्ण ने साक्षात् दर्शन दिये हैं ।।२२।।

सुबोधिनी—तथापीति । यद्यप्येवमेव तथाप्येकस्तस्मिन्नसाधारणो गुणोऽस्ति यद्भक्तकृपा भजनीयत्वे हेतुरभये कारणं च । स चाऽव्यभिचारी नित्यफलश्च । **भूपेति** सम्बोधनं राज्ञामप्येवं कदाचिद्भवतीति संवादार्थम् । कृपाया अव्यभिचारित्वं स्वदृष्टान्तेनाऽऽह—**यन्म इति** । न हि मत्सदृशोऽपराधी कश्चिदस्त्यवहेलनकर्त्ता भक्तद्रोही द्विष्टपक्षपाती च । तथापि कदाचिन्नामग्रहणाद्भक्त्याभास पुरस्कृत्य प्राणत्यागसमये भक्तो न मुक्तो भवेद्दुष्ट इति शङ्कया स्वयमागत्याऽऽत्मसाक्षात्कारं कारयित्वा कृतार्थं कृतवानित्यर्थः । तस्मादन्ये भक्ताः कृतार्था भविष्यन्तीति किं वक्तव्यमिति भावः ।।२२।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि ये सर्व भक्षक ही हैं तो भी इनमें एक साधारण गुण है कि भक्त पर कृपा रखना । भक्त पर कृपा रहती है इसलिए ये भजनीय भी होते हैं और भगवान् से भक्त को किसी प्रकार का भय नहीं होता । इसमें भक्त पर भगवान् की कृपा होना कारण है । भक्त कृपा रूप गुण सदा रहता है और सदा फल देने वाला है । भीष्मजी ने युधिष्ठिर को भूप इस रूप में सम्बोधित इसलिए किया है कि राजाओं की भी कृपा उसकी सेवा में एवं उससे नहीं डरने में कारण बनती है और वह फल वाली भी होती है । यह राजा में कदाचित् होता है । अर्थात् तुम्हारे में जैसे ये बातें होती हैं उसी प्रकार भगवान् में भी यह बात है । भगवान् की कृपा सदा रहती है । इस बात को अपने दृष्टान्त से भीष्मजी कहते हैं 'यन्मे' भीष्म जी कहते हैं कि भगवान् की अवहेलना करने वाला भक्तों का द्रोह करने वाला भक्तों के शत्रुओं का पक्षपात करने वाला होने से मेरे समान अपराधी कोई नहीं है । तथापि मेरे भगवन्नामोच्चारण करते हुए भी यह कार्य हृदय से न होकर प्रेम से न होकर भक्त्याभास के रूप में होता होगा । तो प्राण त्याग के समय यह मेरा भक्त भीष्म मुक्त नहीं होगा । इस शंका से भगवान् ने स्वयं आकर भक्तों पर सदा कृपा रहती है इससे मुझे अपना साक्षात्कार कराकर कृतार्थ किया जब मेरे जैसे अपराधी भी कृतार्थ हो जाते हैं तो अन्य भक्त कृतार्थ हो इसमें क्या कहना ।।२२।।

आभास—ननु दूरे भगवत्साक्षात्कारान्मुक्तिरिति । भगवदाविर्भावव्यतिरेकेणाऽपि भगवदङ्गैर्मानसरूपनामभिर्मुक्तिर्भवतीत्याह—

आभासार्थ—भगवान् के साक्षात्कार से मुक्ति हो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं किन्तु भगवान् के प्रकट हुए बिना भी भगवदङ्गभूत मानस रूप से तथा नाम से भी मुक्ति होती है इसे कहते हैं—

श्लोक—**भक्त्याऽऽवेश्य मनो यस्मिन्वाचा यन्नाम कीर्त्तयन् ।**
त्यजन्कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः ।।२३।।

श्लोकार्थ—जिस श्रीकृष्ण में मन लगाकर और वाणी से भगवान् का नामोच्चारण कर देह त्याग करता हुआ भक्तियोग वाला पुरुष नाना कामनाओं से होने वाले कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है तब यदि अन्त समय में भगवान् के दर्शन हो जाय तो क्या नहीं हो सकता ॥२३॥

सुबोधिनी— भक्त्याऽऽवेश्येति । भक्त्येति विहितभक्त्यधिकारिणः प्रत्युक्तम् । वस्तुतस्तु यथा कथञ्चिन्मनोनिवेशनमेव मुक्तिहेतुः । इन्द्रियव्यापारमपि भगवन्नाम्ना कुर्वन्पूर्वं योगाभ्यासरतोऽपि इदानीं भक्तिमार्गेण शरीरं त्यजन्कायवाङ्मनोभिस्तामसराजससात्त्विकमपि कर्म कुर्वन्पूर्वं कामकर्मभिः कृतैर्मुच्यते । एभिः कर्मभिरतानि कर्माणि स्वभावं प्रापितानि मुक्तिहेतवो भवन्तीति वाऽर्थः ॥२३॥

व्याख्यार्थ— जिन् भगवान् में भक्ति से मन को लगाकर यह जो कहा है वह मर्यादा भक्ति के अधिकारी के विचार से कहा है । वास्तव में किसी प्रकार के भी भगवान् में मन का लग जाना भी मुक्ति का कारण होता है । पहले योगाभ्यास में लगा हुआ भी इस समय इन्द्रियों से जो भी कार्य करता है वह भगवन्नाम के साथ करता है तो भक्तिमार्ग से शरीर को छोड़ता हुआ कायवाङ् मन से तामस राजस सात्त्विक कर्म करता हुआ भी विषयों के लिए किये गये कर्मों से मुक्त हो जाता है । अथवा भगवत्सम्बन्ध मे होने वाले इन कर्मों से पूर्व में किये गये जो कर्म हैं वे भगवत्सम्बन्धी बना दिये जाते हैं और वे मुक्ति के कारण बन जाते हैं ॥२३॥

आभास—एवं भजनीयभगवद्गुणानुक्त्वा स्वस्य मानसीमूर्तिकल्पनाशक्तेरन्तिमोच्छ्वासपर्यन्तं भगवत्स्थितिमेव प्रार्थयते—

आभासार्थ—इस प्रकार भजनीय भगवान् के गुणों को कहकर भीष्मजी भगवान् की मानसी मूर्ति की कल्पना करने में अशक्त है इसलिए अन्तिम श्वास तक मेरे पास रहें यही प्रार्थना करते हैं—

श्लोक—**स देवदेवो भगवान्प्रतीक्षतां कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम् ।**
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लसन्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः ॥२४॥

श्लोकार्थ—अपने प्रसन्न हास्य एव अरुण नेत्रों से शोभित मुखारविन्द वाले देवताओं के पूज्य जो कि दूसरों के लिए ध्यानगम्य है वे चतुर्भुज भगवान् जब तक मैं शरीर न छोड़ू तब तक मेरे सम्मुख ही बिराजे ॥२४॥

सुबोधिनी—स देवदेव इति । अस्मत्कृपायामन्योऽपि हेतुरस्ति । न केवलमिदानीन्तना भक्तिः । यतो देवानां वस्वादीनां देवः सर्वदा पूज्यः । किञ्च । स्वतश्च पूर्णः । भगवानिति । स यावदिदं शरीरं मया त्याज्यं तावत्तिष्ठतु । न तु मध्ये शरीरं गृह्णातु मारयतु वा । **इदमिति** जीर्णम् । **अहमिति** सामर्थ्यम् । **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते''** इति वाक्यानुसारेण मा तिष्ठतु किन्तु प्रसन्नहासः

अरुणे च लोचने ताभ्यामुल्लसन्मुखाम्बुजं यस्य । हासस्य प्रसन्नत्वान्न मायामोहः । लोचनयोररुणत्वान्मत्पापदूरीकरणम् । तयोरपि प्रसादे विशेषणे मयि सर्वगुणनिधानम् । मुखाम्बुजस्य तादृशत्वेन स्वपदप्राप्तिः । ध्यानपथत्वेनाऽणिमादयः । चतुर्भुजत्वेन पुरुषार्थचतुष्टयसिद्धिः । एवं सर्वपुरुषार्थदानाय सर्वाभिव्यक्तिं कुर्वन् विषयान्तरसञ्चाराभावाय प्रकटस्तिष्ठत्विति प्रार्थना ।।२४।।

व्याख्यार्थ—हमारे ऊपर भगवान् की कृपा होने में अन्य भी कारण है। केवल इस समय की भक्ति ही कारण नहीं है । अन्य कारण यह है कि वसु आदि देवताओं के आप देव हैं । अर्थात् सर्वदा पूज्य है । इसलिए मैंने पहले भी पूजन किया है । और भगवान् होने से स्वतः पूर्ण है । वह भगवान् जब तक मैं इस शरीर को न छोड़ूं तब तक यहीं विराजे । मैं जब तक अपनी इच्छा से प्राणों का परित्याग करूं तब तक मेरे सम्मुख स्थित रहे मुझे बीच में हो सशरीर मुझे अपने में लीन न करें अथवा न मारें । 'इदम्' पद से भीष्मजी अपने शरीर की ओर इङ्गित करके कहते हैं कि यह जीर्ण शरीर 'अहम्' पद देकर भीष्मजी ने अमुक काल में ही अपने शरीर छोड़ने का सामर्थ्य मेरे में है यह कहा । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' अर्थात् जो जिस प्रकार ने मुझे प्राप्त होता है मैं भी उसी प्रकार उसे प्राप्त होता हूं । इस वाक्य के अनुसार मैं जिस प्रकार दुःखी हूं इस प्रकार दुःख के साथ मेरे सामने न रहे किन्तु प्रसन्न हास्य वाले रक्त नेत्रों से शोभित मुखारविन्द से युक्त रहे । आपका हास्य मायामोह करने वाला है । परन्तु वह आपका हास्य प्रसन्न होने के कारण मुझे माया मोह नहीं करेगा । इसीलिए हास्य का प्रसन्न यह विशेषण दिया है । नेत्रों में रक्तिमा होने से मेरे पापों को आप दूर करेंगे । नेत्र की रक्तिमा दो रूप से होती है । क्रोध से एवं अनुराग से परन्तु यहां रक्तिमा पापों को दूर करने के लिए क्रोध को लिए हुए होनी चाहिये । जिससे कि पापों को दूर कर सके इसी आशय से लोचन का अरुण विशेषण दिया है । प्रसन्न पद को हास्य एवं अरुण लोचन की ओर लगाते हैं तो यह अर्थ होता है कि प्रसन्न हास्य एवं प्रसन्न अरुण लोचन से शोभित मुखारविन्द वाले । अर्थात् आपने प्रसन्न हास्य एवं प्रसन्न लोचनों से देखकर मेरे में सब गुणों को स्थापित कर दिया । आपका मुख कमल प्रसन्न हास्य एवं अरुण लोचन युक्त होने से मुझे आप अपना पद (मोक्ष) देंगे । योगी के ध्यान में स्थित रहने पर अणिमादि सिद्धि मिलती है इसलिए मेरे ध्यान स्थित होने से अणिमा आदि सिद्धि मिलेगी । 'चतुर्भुजः' यह कहकर भीष्मजी ने बताया कि चार भुजाएं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को देने वाली है । इसलिए चतुर्भुज रूप में आप मेरे सम्मुख विराजे । इस प्रकार सब पुरुषार्थों के देने के लिए कही हुई सभी बातों को अभिव्यक्त कर दूसरा विषय मेरे में स्थिति न करले इसके लिए आप प्रकट होकर रहें जिससे आप में ही मेरा मन रहे और विषयान्तर में न जावे यही प्रार्थना है । २४।।

आभास—मध्ये सावकाशं ज्ञात्वा युधिष्ठिरः स्वसन्देहं वारयितुं पृष्टवानित्याह—

आभासार्थ—बीच में भीष्मजी को अवकाश है ऐसा जानकर युधिष्ठिर ने अपने सन्देह को दूर करने के लिए पूछा यही कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—**युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य शयानं शरपञ्जरे ।**
अपृच्छद्विविधान्धर्मानृषीणामनुश्रृण्वताम् ।।२५।।

श्लोकार्थ—सूतजी कहते हैं कि युधिष्ठिर ने पूर्वोक्त बात सुनकर बाणशय्या पर सोते हुए भीष्मजी को ऋषियों के सुनते हुए नाना प्रकार के धर्म पूछे ।।२५।।

सुबोधिनी – युधिष्ठिर इति । ननु युधिष्ठिरः पूर्वोक्तं ज्ञात्वा सर्वं भगवता कृतमित्यवगत्य स्वस्य कारणत्वाभावाद्वधादिदोषाभावं विनिश्चित्यापि कथं पृच्छति ? इत्यत आह—**तदाकर्ण्येति** । **शरपञ्जरे शयानमिति** । यदि भगवानेव करोति किमिति भीष्मः शरपञ्जरे पतितस्तिष्ठति ? न ह्यकृतं भोजयति भगवान् । तथा सत्यतिप्रसङ्गः स्यात् । दुःखस्य च सार्वजनीनत्वाद्भगवतः सर्वकर्तृत्वस्य च श्रौतत्वात्सर्वेषामेव ऋषीणां सन्देहः । अतस्तेषामपि सन्देहनिवृत्त्यर्थमृषीणामेवानुशृण्वतां पृष्टवानित्यर्थः । धर्माणामेव नानाविधत्वात्प्रबलदुर्बलभावोऽस्ति राजसेवकवन्न वेति सन्देहादपि प्रश्नः । तदाह – **विविधानिति** ।।२५ ।

व्याख्यार्थ—शङ्का करते हैं कि युधिष्ठिर ने सब कुछ भगवान् ने किया है ऐसा समझकर मेरे इसमें कारण न होने से मुझे वध आदि का दोष नहीं है । ऐसा निश्चय होने पर भी क्यों पूछा जा रहा है इसका समाधान करते हैं कि 'शरपञ्जरे शयानम्' यदि भगवान् ही सब कुछ करते हैं तो अपने भक्त भीष्मजी बाणशय्या पर कैसे पड़े हुए हैं क्योंकि भगवान् तो अपने भक्त के लिए ऐसा करना नहीं चाहते अतः यह सिद्ध होता है कि कर्म के अनुसार भगवान् फल देते हैं । यदि भगवान् ही स्वतन्त्र रूप से सुख-दुःख के कारण बन जाय तो या तो सभी सर्वदा सुखी या सभी सर्वदा दुःखी होने चाहिये परन्तु ऐसा नहीं देखा गया है । इससे ज्ञात होता है कि भगवान् कर्मों के अनुसार फल देते हैं । यहां भीष्मजी को दुःख है यह प्रसिद्ध है और भगवान् सब कुछ करने वाले हैं । यह वेद सिद्ध है तो सभी ऋषियों को इस विषय में सन्देह था । अतः उनके सन्देह की निवृत्ति के लिए उनके सुनते हुए युधिष्ठिर ने भीष्मजी से पूछा । अथवा धर्म नाना प्रकार के हैं तो उन धर्मों में राजा और सेवक की तरह प्रबल दुर्बल भाव है अथवा नहीं इस सन्देह से भी युधिष्ठिर ने पूछा । अथवा जिस प्रकार राजा के सेवकों में कोई बड़ा होता है कोई छोटा होता है इसी तरह कोई धर्म प्रबल है अथवा कोई धर्म उसकी अपेक्षा दुर्बल है यह बात है या नहीं इस सन्देह से भी युधिष्ठिर ने पूछा इसी बात को 'विविधान्' पद से सूचित किया है ।।२५।।

आभास— धर्मास्त्रिविधाः । श्रौताः पौराणिकाः पुरुषार्थसाधनत्वेनाऽन्वयव्यतिरेकसिद्धा लौकिकाश्च । तान्सर्वान् भीष्मः क्रमेणाऽऽहेत्याह **पुरुषस्वभावेति** त्रिभिः—

आभासार्थ—धर्म तीन प्रकार के हैं एक श्रौत (वैदिक) दूसरा पौराणिक धर्म जिन धर्मों के करने से पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) मिलते हैं और उनके न करने से नहीं मिलते । ऐसे लौकिक धर्म उन सबको भीष्मजी 'पुरुषस्वभाव' इत्यादि तीन श्लोकों से क्रमशः कहते हैं—

श्लोक—**पुरुषस्वभावविहितान्यथावर्णं यथाऽऽश्रमम् ।**
वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोभयलक्षणान् ।।२६।।
दानधर्मान्राजधर्मान्मोक्षधर्मान्विभागशः ।
स्त्रीधर्मान्भगवद्धर्मान्समासव्यासयोगतः ।।२७।।

धर्मार्थकाममोक्षांश्च सहोपायान् यथा मुने ।
नानाख्यानेतिहासेषु वर्णयामास तत्त्ववित् ।।२८।।

श्लोकार्थ—पुरुष स्वभाव से कहे गये धर्म, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों के धर्म, अध्ययन आदि आश्रम धर्म, वेद में पूर्वकाण्ड में कहे गये अनुराग से होने वाले प्रवृत्ति धर्म तथा उत्तरकाण्ड में कहे गये वैराग्य से होने वाले निवृत्ति धर्म पौराणिक दानधर्म, राजधर्म, मौन आदि मोक्षधर्म, पाति व्रत्यादि स्त्रीधर्म कार्तिक व्रत इत्यादि भगवद्धर्म पुरुषार्थ का स्वरूप तथा उनके साधन प्रकार आख्यान इतिहास यथावत् हे मुने ! तत्ववेत्ता भीष्मजी ने कहे ।।२६।।२७।।२८।।

सुबोधिनी– तत्र वैदिकास्त्रिविधाः । शरीराधिकारेण प्रवृत्ता वर्णाश्रमरूपेण **बाह्यधर्मेण** च प्रवृत्ता वैराग्याद्यान्तरधर्मेण च । तत्र **पुरुषस्वभावविहिताः** स्वतन्त्रा रक्षादय. । **वर्णधर्मा ज्ञानादयः**। **आश्रमधर्मा** अध्ययनादयः । **रागोपाधयः** पूर्वकाण्डोक्ताः । **वैराग्योपाधय उत्तरकाण्डोक्ताः** । **दानधर्माः** पौराणिका गोदानादयस्तुलापुरुषादयो वा । **राजधर्माश्चारादिभिर्हेत्वादिदर्शनादयः** । **मोक्षधर्मा** मौनानीहादयः । तेषामवान्तरभेदाश्च । **स्त्रीधर्माः** पातिव्रत्यादयः । **भगवद्धर्माः कार्त्तिक**-व्रतादयः । **समासव्यासकथनाद्बुद्धिर्भवति वै स्थिरा** । अतः सक्षेपविस्ताराभ्यामाह—**समासेति** । पुरुषार्थचतुष्टयसाधनीभूतधर्मानाह— **धर्मेति** । पुरुषार्थानां स्वरूपं साधनानि प्रकाराश्च **यथा** यथावत् । **मुने इति** सम्बोधनान्न विस्तरेणोच्यते । मननविघ्नत्वादिति । **आख्यानं** शब्दप्रधानम्—तैरेवमुक्तमित्यादि । **इतिहासः** पुरावृत्तम्–तैरेव कृतमेवं जातमिति । पुराणार्थवादसिद्धं **लौकिकं** न केवलभ्रान्तप्रतिपन्नमित्यर्थः । सर्वेषां तत्त्वं जानातीति तथा निःशङ्ककथने हेतुः । **एतावता** सर्वे सन्देहा निवारिता इत्युक्तं भवति । सगुणकर्मणा बन्धः । निर्गुणकर्मणा मोक्षः । **लोके कर्मण** एव फलसाधकत्वं ज्ञातं भवत्विति यमधः उपरि वा निनीषति तमसाधु साधु वा **कर्म कारयतीति** **ईश्वरस्य** सर्वकर्तृत्वं जीवस्य दुःखाद्यनुभवश्चोक्तो भवति ।।२६।।२७।।२८।।

व्याख्यार्थ—त्रिविध धर्मों में वैदिक धर्म तीन प्रकार के हैं शरीराधिकार से प्रवृत्त वर्णाश्रम रूप बाह्य धर्म से प्रवृत्त तथा वैराग्य आदि आन्तर धर्मों से प्रवृत्त ये तीन प्रकार के वैदिक धर्म हैं। पुरुष के स्वाभाविक स्वतन्त्र धर्म रक्षा करना आदि है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र वर्णों के धर्म ज्ञान आदि है । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यासाश्रम के धर्म अध्ययनादि है । किसी कार्य में अनुराग रखकर किये जाने वाले धर्म पूर्वकाण्ड में कहे गये हैं । जिनको प्रवृत्ति धर्म कहा है। वैराग्य से होने वाले धर्म उत्तरकाण्ड में कहे गये हैं । गोदानादि तुला पुरुषादि दान धर्म पौराणिक हैं। दूतों के द्वारा हेतु आदि जानना राजधर्म है । मौन लौकिक निष्क्रियता आदि मोक्षधर्म हैं और उनके अवान्तर धर्म । पातिव्रत्य आदि स्त्रीधर्म । कार्त्तिक व्रत आदि भगवद्धर्म । इनका संक्षिप्त रूप से तथा विस्तृत रूप से भीष्मजी ने वर्णन किया । सक्षिप्त एवं विस्तृत रूप में कहने से बुद्धि स्थिर हो जाती है । इसी बात को 'समासव्यासयोगतः' से कहा है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टय के साधनरूप धर्मों का वर्णन किया । अर्थात् पुरुषार्थों के स्वरूप को साधनों को तथा प्रकार को

यथावत् कहा। ये बात 'धर्मार्थं काममोक्षांश्च' से कही है। सूतजी शौनक को 'मुने' यह सम्बोधन देकर यह सूचित करते हैं कि आप मनन करने वाले हो इसलिए मैं पूर्वोक्त धर्मों को विस्तार से नहीं कह रहा हूं। विस्तार से कहने पर तुम्हारे मनन में विघ्न होगा। अतः केवल उनका निर्देश मात्र किया है। इन सबको आख्यान और इतिहासों में वर्णित किया है। उनने ऐसा कहा इत्यादि रूप जो शब्द प्रधान वाक्य है वह आख्यान शब्द से लिया जाता है। उनने इस प्रकार किया एवं इस प्रकार हुआ इस रूप का पुरावृत्त इतिहास कहा जाता है। अर्थात् पुराण एवं अर्थवाद से सिद्ध लौकिक बात ही केवल भ्रान्ति से स्वीकृत लौकिक धर्म नहीं कहा। भीष्मजी सभी तत्वों को जानते थे इसलिए उनने निःशङ्क होकर धर्मों का वर्णन किया। यही 'तत्ववित्' पद कहता है। इन सबसे यह कहा गया कि युधिष्ठिर के सब सन्देह को भीष्मजी ने निवृत्त किये। भीष्मजी ने समझा हो कि सगुण कर्मों से बन्धन होता है और निर्गुण कर्मों से मोक्ष होता है। कर्म ही सब फल देने वाले हैं। यह बात लोक समझे इसके लिए जिसको नीच की ओर भगवान् ले जाना चाहते हैं। अर्थात् जिसका पतन करना चाहते हैं उससे बुरे कर्म कराते हैं और जिसे उच्च बनाना होता है उससे अच्छे कर्म कराते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ही सब कुछ करता है और जीव को अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःखों का अनुभव होता है अर्थात् भगवान् की प्रेरणा से हीन कर्म एवं उत्तम कर्म बनते हैं और उन कर्मों के अनुसार जीव को सुख-दुःखादि मिलते हैं ॥२६॥२७॥२८॥

आभास—धर्मप्रवचनादिकं कालविलम्बादेव न त्वनेन पुरुषार्थसिद्धिरिति समागते काले सर्वमुपसंहृतवानित्याह **धर्मं प्रवदत इति** द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—धर्म के प्रवचन आदि जो भीष्मजी कर रहे हैं वह उत्तरायण काल में विलम्ब होने से कर रहे हैं। धर्म प्रवचन आदि से पुरुषार्थ सिद्धि होती है। यह बात नहीं है। इसलिए उत्तरायण काल के आने पर भीष्मजी जो धर्म का प्रवचन कर रहे थे। उसका उन्होंने उपसंहार कर दिया यह बात 'धर्मं प्रवदतस्तस्य' इन दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः।**
यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायणः ॥२९॥

श्लोकार्थ—धर्म का प्रवचन करते हुए भीष्मजी का वह उत्तरायण काल उपस्थित हो गया। जो कि स्वाधीन मृत्यु वाले योगी के लिए वांछित होता है।२९।

सुबोधिनी—उत्तरायणकालस्योत्तमत्वेऽपि पूर्वकालस्य निकृष्टत्वात्तद्दोषसम्बन्धे निर्दुष्टता न भवेदिति तद्व्यावृत्त्यर्थं **धर्मं प्रवदत** इत्युक्तम्। योगिनामुत्तरगतेर्नियतत्वात्सूर्यमण्डलमध्यस्थमार्गत्वादुत्तरायण एव सूर्ये गन्तुं शक्यते। छन्दमृत्योरिति। योगजधर्मेण कालस्याऽपि वशीकृतत्वात्स्वच्छन्दमृत्युत्वम् ॥२९॥

व्याख्यार्थ—उत्तरायण काल यद्यपि उत्तम है। तथापि दक्षिणायन काल के निकृष्ट होने से उसके दोषों का सम्बन्ध होने से अपने में निर्दुष्टता नहीं रहेगी इसलिए दक्षिणायन काल को धर्म प्रवचन करते बिताया। यही बात 'धर्मं प्रवदतः' से कही है। योगियों का परलोक मार्ग नियत है।

वे सूर्यमण्डल के मध्य मार्ग से जाते हैं और वह जाना उत्तरायण सूर्य में ही उनका हो सकता है। इसलिए भीष्मजी ने उत्तरायण की प्रतीक्षा की। भीष्मजी ने योग से उत्पन्न होने वाले धर्म से काल को भी वश में कर लिया। इसलिए वे स्वच्छन्द मृत्यु (स्वाधीन मृत्यु) थे ॥२९॥

आभास—तस्मिन् काले यत्कर्त्तव्यं तदाह—

आभासार्थ—मृत्यु के समय जो करना चाहिये उसे कहते हैं—

श्लोक—**तदोपसंहृत्य गिरः सहस्रणोर्विमुक्तसंगं (?) मन आदिपूरुषे।**
कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे पुरःस्थितेऽमीलितदृग्व्यधारयत् ॥३०॥

श्लोकार्थ—जो भीष्मजी हजारों योद्धाओं को वश में करते हैं वे वाणी का नियमन कर आसक्ति को छोड़ आदि पुरुष पीताम्बर से शोभित चतुर्भुज जो कि सामने खड़े हैं ऐसे कृष्ण में निर्निमेष दृष्टि से अपने मन को लगाया ॥३०॥

सुबोधिनी—**तदोपसंहृत्येति**। सर्वपरित्यागेन भगवच्चिन्तनं कर्त्तव्यम्। तन्मौनेन मनसश्चाञ्चल्यपरिहारेण अक्रियया च भवति। तत्र शरीरक्रियाऽभावः पूर्वमेव सिद्धः। वाङ्नियमनमाह—**गिर उपसंहृत्येति। सहस्रणीः**। सहस्रं योधान् युद्धेन वचनेन वा नयति स्वाधीनान् करोतीति स्वधर्मोत्कर्ष उक्तः। मनसो विनियोगमाह—**विमुक्तसङ्ग इति**। विशेषेण मुक्ता अन्तर्बहिःसङ्गा येन। आदिपुरुषे व्यधारयदित्युक्ते मानस्यां प्रतिमायां व्यवधारणमुक्तं भवति। तन्निराकरणायाऽलौकिकप्रकारमाह—**कृष्णे पुरः स्थित इति। "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्**"ति चक्षुरन्तर्नीत्वा तेन द्रष्टव्यं पश्यति। इह तु विपरीतम्। मनश्चक्षुर्द्वारा बहिरानीय तेन भगवन्तं पश्यतीति। कृष्ण आविर्भूतो भगवान्। बहिःस्थितत्वज्ञापनार्थं **वस्त्रादि**परिकरमाकारं चाऽऽह—**लसत्पीतपटे चतुर्भुज इति**। लसत्पीतता दाहोत्तीर्णसुवर्णरूपता। देवकीप्रार्थनया यत्प्राकृतं रूपं कृतं तत्परित्यागेन सहजमेव रूपं प्रदर्शितवानित्यर्थः। **पुरः स्थित इति** कल्पनाक्लेशाभावः। **अमीलितदृगिति** निमेषादिना व्यवधानं निराकृतम्। ३०॥

व्याख्यार्थ—मृत्यु के समय सब छोड़कर भगवच्चिन्तन करना चाहिये। वह भगवच्चिन्तन मौन से मन की चञ्चलता को नहीं रखने से तथा कुछ भी क्रिया न करने से हो सकता है। बाणशय्या पर सोने से भीष्मजी के शरीर की क्रिया तो पहले ही नहीं हो रही है। वाणी का नियमन नहीं था वह भी कर लिया। इसी बात को 'गिर उपसंहृत्य' से कहा है। श्लोक में आये हुए 'सहस्रणीः' पद का अर्थ यह है कि जो युद्ध से अथवा अपने वचन से हजारों योद्धाओं को अपने अधीन कर लेता है वह 'सहस्रणीः' है। इससे भीष्मजी के धर्म का उत्कर्ष बताया। भीष्मजी के मन का विनियोग कहते हैं। 'विमुक्तसङ्गः' बाहर और भीतर जिसने मन से आसक्ति का परित्याग कर दिया है। इससे भीष्मजी का त्रिदण्ड संन्यास कहा गया। श्लोक में 'आदिपूरुषेव्यधारयत्' ऐसा ही कहते तो मन में बनाई गई प्रतिमा में भीष्मजी ने अपने चित्त को लगाया यह कहा जाता। ऐसा न समझ जाय इसके लिए अलौकिक प्रकार कहते हैं। 'कृष्णे पुरः स्थिते' अर्थात् सामने खड़े

श्रीकृष्ण में चित्त लगाया। 'कश्चित् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्' कोई धीर पुरुष अपने भीतर रहे हुए भगवान् को देखता है। अर्थात् चक्षु के व्यापार को भीतर ले जाकर उससे भीतर रही हुई मानसी मूर्ति को देखता है। यहां तो उससे विपरीत है। मन को चक्षु के द्वारा बाहर लाकर उससे भगवान् को देखता है। श्लोकस्थ कृष्ण पद आविर्भूत (प्रकट) हुए भगवान् को कहता है। क्योंकि प्रकट हुए भगवान् का नाम ही कृष्ण है। भगवान् अन्तःकरण में स्थित न होकर बाहर स्थित है इस बात को बताने के लिए भगवान् के वस्त्रादि परिकर को तथा आकार को कहते हैं। 'लसत्पीतपटे चतुर्भुजे' अग्नि में स्वच्छ किये सुवर्ण की तरह से भगवान् के पीताम्बर हैं। यह लसत् शब्द कहता है। देवकी की प्रार्थना से जो प्राकृत रूप धारण किया था उसे अभी छोड़कर भगवान् ने अपना सहज ही चतुर्भुज रूप भीष्मजी को दिखाया। भगवान् सामने स्थित थे। इसलिए भीष्मजी को मन में भगवान् की कल्पना करने का क्लेश नहीं हुआ। भीष्मजी 'अमीलितदृक्' थे अर्थात् पलक आदि से भगवान् के दर्शन में बाधा होगी इसलिए निर्निमेष थे ।।३०।।

श्लोक—**विशुद्धया धारणया हताशुभस्तदीक्षयैवाऽऽशु गताऽऽयुधव्यथः ।**
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रमस्तुष्टाव जन्यं विसृजन् जनार्दनम् ।।३१।।

श्लोकार्थ—भगवान् के सर्वावयवों की विशुद्ध धारणा से जिनके सम्पूर्ण पाप क्षय हो गये हैं और भगवान् के देखने मात्र से ही जिनके आयुधों की व्यथा शीघ्र दूर हो गई है और सब इन्द्रियों के व्यापार में जिनके अनेक प्रकार के भ्रम थे वे सब दूर हो गये हैं ऐसे भीष्मजी ने प्राकृत शरीर को छोड़ते हुए जनार्दन भगवान् की स्तुति की ।।३१।।

सुबोधिनी—सा मनसो धारणा सर्वावयवस्थिता। अत एव विशुद्धा। अपहतपाप्मविषयत्वात्। तयैव सवपापक्षयः। भगवदपराधजनकमपि पापमपराधेन जनितं प्रतीकाराकरणेनोपेक्षाजनितं च। तत्सर्वं शुद्धसेवकभावेन निवारितम्। भगवति च शुद्धभावे भगवानपि कृपया वेदनां दूरीकृतवानित्याह—**तदीक्षयेति**। तस्य भगवतो दोषनिवर्त्तकदृष्ट्यैव गता आयुधव्यथा यस्य। निवृत्ताः सर्वेन्द्रियवृत्तिषु विभ्रमा यस्य। अनेनाऽन्तर्बहिर्दोषाभाव उक्तः। **जन्यं** प्राकृतसमूहम्। **जनां** प्रकृतिमर्दयतीति **जनार्दनः**। यावत्प्रकृतिन पीडिता स्यात्तावत्स्वकार्यं न निवर्तयेदिति ।।३१।।

व्याख्यार्थ—भीष्मजी भगवान् में होने वाली मानस धारणा भगवान् के सर्वावयव में थी। अर्थात् धारणा सब अङ्गों की होती है और ध्यान एक-एक अङ्ग का होता है। यहां धारणा पद है। इसलिए भीष्मजी ने भगवान् के सब अङ्गों की धारणा की यह अर्थ हुआ। अपहत पाप्मारूप भगवान् को धारणा थी इसलिए वह शुद्ध थी। ऐसी धारणा से सम्पूर्ण पापों का क्षय हो गया। द्रौपदी के वस्त्र केशादि खींचने पर प्रतीकार न करने से तथा उपेक्षा जनित जो भीष्मजी का पाप उसने भगवान् के अपराध को पदा किया वह सब पाप शुद्ध सेवक भाव होने से निवृत्त हो गया। भगवान् में भीष्मजी का शुद्ध भाव हो गया इसलिए भगवान् ने भी कृपा से उनकी पीड़ा को दूर कर दिया। यही बात तदीक्षया' आदि से कही है। उन भगवान् की दोष निवर्तक दृष्टि से ही भीष्मजी को जो आयुधों की व्यथा थी वह निवृत्त हो गई। मन आदि सब इन्द्रियों के व्यापार में भ्रम न

रहा । ऐसा कहने से भीष्मजी में बाह्य एवं आन्तर दोष न रहा । ऐसा कहा गया । श्लोकस्थ अन्यम् का अर्थ प्रकृति से बना हुआ देहादि समुदाय उसे छोड़ते हुए भीष्मजी ने जनार्दन की स्तुति की । जो प्रकृति को पीड़ित करता है वह जनार्दन है । जब तक प्रकृति पीड़ित नहीं होती तब तक अपने देहादि कार्य को हटाती नहीं । इसलिए भीष्मजी ने प्रकृति को पीड़ित करने वाले भगवान् जनार्दन की स्तुति की ॥३१॥

आभास—मर्यादानुसारेण अन्ते भगवति यत्कर्त्तव्यं तदत्र विनिरूप्यते । तत्र प्रथमं सर्वसमर्पणम् । ततो माहात्म्यज्ञानपूर्विका भगवति रतिः । तत आत्मसमर्पणमिति । आद्यन्तयोरेकैकम् । मध्ये माहात्म्यभक्तौ नव । तत्र प्रथमं सर्वसमर्पणं निरूपयति—

आभासार्थ—मर्यादा के अनुसार अन्त में भगवान् के विषय में जो कर्त्तव्य होता है उसका यहां निरूपण करते हैं । उनमें सबसे पहला भगवान् को सर्व समर्पण करना है । तदनन्तर माहात्म्य ज्ञानपूर्वक भगवान् में प्रेम होता है । तत्पश्चात् आत्म समर्पण करना है । सर्व समर्पण में तथा आत्म समर्पण में आदि और अन्त में एक-एक श्लोक है । अर्थात् 'इतिमत्तिरूपकल्पिता' से सर्व समर्पण है और 'तमिहमजम्' जो अन्त का श्लोक है उसमें आत्म समर्पण है । मध्य में माहात्म्य ज्ञान पूर्वक भक्ति के विषय में नौ श्लोक हैं । भक्ति नौ प्रकार की है अतः वहां पहले सर्व समर्पण का एक श्लोक से निरूपण करते हैं—

भीष्म उवाच—

श्लोक—**इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्त्वतपुङ्गवे विभूम्नि ।**
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ॥३२॥

श्लोकार्थ—भीष्मजी कहते हैं कि अन्य बातों को समाप्त कर स्वानन्द को प्राप्त हुए कहीं विहार करने के लिए जिससे विश्व का प्रवाह चलता रहता है ऐसी प्रकृति को स्वीकार करने वाले यादवों में श्रेष्ठ जिनसे कोई बड़ा नहीं है ऐसे पुरुषोत्तम भगवान् में कामना रहित बुद्धि को अर्पण करता हूं ॥३२॥

सुबोधिनी—इतीति । इतिशब्दः समाप्तिवाचकः । परमेश्वराद्विभक्तस्याऽनन्तकोटिजन्मभिर्यत्कृतं यदस्ति वा तद्विचार्यमाणे मतिरेवाऽस्मदीया तावद्विषयिणी । मया कृतं मदीयमिति । पदार्थास्तु भगवदीयासर्वं । अतोऽस्मदीया बुद्धिरेव भगवति समर्पणीया । तदाह—**इति मतिरिति** । अन्तिमोच्छ्वासपर्यन्त याऽस्माभिः सम्पादिता बुद्धिः सा भगवति उपकल्पिता । फलार्थत्वं निवारयति—**वितृष्णेति** । यद्यप्येवं मतिसमर्पणे न किञ्चित्फलं शास्त्रसिद्धं तथाप्यहमेतत्समर्पयामि ममैतत्फलं भविष्यतीति स्वयमेव तृष्णा भवति । अतस्तामेव निषेधति । **भगवति** ब्रह्मणि । **सात्त्वपुङ्गवे** यादवश्रेष्ठत्वेनाऽऽविर्भूते । विगतो भूमा यस्मात् । अक्षरात्परस्मिन् पुरुषोत्तमे । ननु पुरुषोत्तमस्य भगवतः कथं सात्त्वतपुङ्गवत्वम् । तत्राऽऽह । **स्वसुखमुपगते** ।

क्वचित्कदाचित्स्थानविशेषे **"लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि"** ति न्यायेन विहर्तुं स्वस्यैव स्वभावरूपां प्रकृतिं साङ्ख्यादिन्यायेन विश्वजननीं स्वयं पिता उपगच्छति । तादृशे । ननु तदपि कुतः? तत्राऽऽह—**यद्भवप्रवाह इति** । यस्माद्भगवतः प्रकृतिसम्बन्धात् भवस्य विश्वस्य प्रवाहः बीजांकुरवत्परम्परा । **"न घटत उद्भव"** इत्यस्य विवरणम् । तथासृष्ट्यर्थं यथा करोति तथा अस्मन्मुक्त्यर्थमप्येवं कृतवानित्यर्थः ।।३२ ।

व्याख्यार्थ—श्लोक में आया इति शब्द भीष्मजी के अन्य सब कर्तव्यों की समाप्ति का बोधक है । परमेश्वर से पृथक् हुए अनन्त कोटि जन्म से जो कुछ किया जो कुछ है विचार करने पर उन-उन विषयों में ले जाने वाली बुद्धि ही हमारी है । जिसके द्वारा मैंने यह किया यह मेरा है ऐसा विचार होता है । सभी पदार्थ तो भगवान् के हैं । अतः जो बुद्धि हमारी है उसे ही भगवान् को समर्पित करना चाहिये । यही बात 'इति मति' से कहते हैं । अर्थात् अन्तिम उच्छ्वास पर्यन्त जो बुद्धि हमने सम्पादित की है वह भगवान् के अर्पित कर दी । क्योंकि पदार्थ तो भगवान् के हैं और बुद्धि ही अपनी है । तात्पर्य यह है कि बुद्धि को भगवान् के अर्पण कर दिया । क्योंकि अपनी चीज ही अर्पित की जाती है । किसी फल कामना के लिए अर्पित नहीं किया । इसी बात को 'वितृष्णा' पद से कहते हैं । यद्यपि इस प्रकार बुद्धि के समर्पित करने पर शास्त्रसिद्ध कोई फल नहीं है । तथापि मैं यह समर्पित करता हूं । मुझे यह फल मिलेगा । इस प्रकार स्वयं ही फल की तृष्णा होती है अतः उसीका वितृष्णा से निषेध किया है । श्लोक में आये 'भगवति' पद का अर्थ है ब्रह्म में । 'सात्वत पुङ्गवे' का तात्पर्य यह है कि यादवों में श्रेष्ठ रूप से प्रकट हुए । विभूति का अर्थ है भूमारूप जो अक्षर ब्रह्म है उससे परे होने वाले पुरुषोत्तम में शङ्का होती है कि पुरुषोत्तम भगवान् यादवों में श्रेष्ठ रूप से कैसे कहलाये तब कहते हैं कि 'स्वसुखमुपगते' अपने परमानन्द को लिये हुए ही कदाचित् किसी स्थान विशेष में 'लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्' अर्थात् जैसे लोक में राजा विनोद के लिए मृगया के लिए जाता है मांस आदि तो दूसरों से भी मंगवा सकता है वैसे ही भगवान् भी लीला करते हैं और वह लीला उसके गान करने वालों को मोक्ष रूप हो जाती है । एतदर्थक इस न्याय से विहार करने के लिए अपनी ही स्वभाव रूपा प्रकृति को जो कि सांख्यादि न्याय से विश्व को उत्पन्न करने वाली मानी जाती है । उसे स्वयं पिता रूप भगवान् स्वीकार करते हैं । ऐसे भगवान् में मेरी मति समर्पित हो । भगवान् अपनी स्वभावरूपा प्रकृति को क्यों स्वीकार करते हैं तो कहते हैं कि 'यद्भव प्रवाहः' जिस प्रकृति के सम्बन्ध होने से विश्व की बीजांकुर की तरह परम्परा चलती है । वह प्रकृति शक्तिरूप होने से भगवान् से अभिन्न है । तो भी प्रकृति के स्वरूप को भिन्न अभिन्न रूप में कहने पर यह कहा जा सकता है । यदि अभिन्न है तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि वह नित्य है । भिन्न होने पर भी अनादि होने से उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । अतः उसके संयोग से दूसरे की ही उत्पत्ति हो सकती है । इसी आशय से कहते हैं कि ये ऊपर का विवरण 'न घटत उद्भव' इस श्लोक के तात्पर्य को लेकर है । जैसे सृष्टि बनाकर क्रीड़ा के लिए अपनी स्वभाव रूपा प्रकृति का सम्बन्ध करते हैं उसी प्रकार हमको मुक्ति देने के लिए यादवों में श्रेष्ठ बनते हैं ।।३२।।

आभास—इदानीं रतिं प्रार्थयते—

आभासार्थ—अब मेरा भगवान् में प्रेम हो यह भीष्मजी प्रार्थना करते हैं—

श्लोक—**त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।**
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ।।३३।।

श्लोकार्थ—त्रिलोक में एक ही सुन्दर तमालवृक्ष के समान नीलवर्ण सूर्य की किरणों के समान लालवर्ण से मिले श्रेष्ठ पीताम्बर को धारण करने वाले और अलकावली से शोभित मुखारविन्दयुक्त श्रीअंग को धारण करने वाले अर्जुन के सखा भगवान् में मेरी अलौकिकी प्रीति हो ।।३३।।

सुबोधिनी—त्रिभुवनकमनमिति । कदाचिदभेदादन्तर्यामिणि स्वरूपे वा रतिं प्रार्थयेदित्याशङ्कयाऽऽह—**वपुर्दधान इति** । यत्र प्राकृतानामपि प्रतीतिः शरीरिति तादृश एव मम रतिरस्तु । प्रमाणबलमनपेक्ष्य केवलं प्रमेयबलेनैव मम यत्कार्यं भवति तदेव भवत्विति केवलं प्रतीत्या यन्मतं तदेवाऽनुवदति—**वपुर्दधान इति** । विषयसौन्दर्येणैव चित्त प्रविशत्विति रूपवर्णनम् । त्रिभुवने त्रैलोक्ये तदेव कमन लोकदृष्ट्यैव सुन्दरं न तु शास्त्रसंस्कारेण प्रतीत्या तथाविधम् । तथा सति बुद्धया फल तदल्पम् । लौकिके तु वस्तुनः शक्त्या फलम् । **तमालवर्णमिति** । तमालवद्वर्णो यस्य । औत्पत्तिको निरतिशयः सदैवविधस्तमालवृक्षेषु नीलवर्णः । अनेन वर्णनैतज्ज्ञापितम्—सर्वथा परहितजनकमिति । **रविकरगौरवराम्बरमिति** । रविकरवत् गौरं वरमम्बरं यस्य । भगवतः सर्वमुक्त्यर्थं प्रादुर्भूतस्य पीताम्बरमाच्छादकमिति दुष्टत्वमाशङ्कय तन्निवृत्त्यर्थमाह—**रविकरेति** । सूर्यरश्मयो घटादौ पतिताः प्रकाशयन्त्येव न त्वाच्छादका भवन्ति तथा पीताम्बरं परमानन्दं प्रकाशयत्येव न त्वाच्छादयति । तथा वेदोऽर्थं प्रकाशयत्येव । गौरमीषद्रक्तपीतम् । नीलो वर्णो वर्णान्तरेण प्रकाश्यत इति । वेदानां प्रार्थना या अस्मदावेष्टितो भगवान् तिष्ठत्विति । अस्त्वित्युक्ते पीताम्बरत्वमापन्ना भगवन्तमाच्छाद्य तिष्ठन्तीति वेदरूपमम्बरम् । अनेन व्यापकताऽप्युक्ता । अप्राकृतत्वं च । रविकरैर्वा गौरवरमम्बरमाकाशः **वपुरिति** आकाशशरीरं ब्रह्मेत्युक्तं भवति । पूर्वविशेषणद्वयमाकाशपक्षेऽपि स्पष्टमेव । **अलककुलावृताननाब्जमिति** । अलकाश्चूर्णकुन्तलाः । तेषां कुलैरावृतमाननाब्जं मुखकमलं यस्य । **अलमत्यर्थं** **ककुलै**रानन्दसमूहैः **आवृतं** आ समन्ताद्वेष्टितं करचरणादिरूपेण स्थित**माननं** आ समन्तात् **ननं** सद्रूपं **अब्जं** सूर्यचन्द्रनक्षत्रलक्ष्मीविद्युन्मेघादिरूपम् । आनन्दावयत्वे आकाशशरीरे ब्रह्मणि दन्तनेत्रभावापन्नानि सूर्यादीन्यस्ये(?)त्युक्तं भवति । **वं** अमृतं पुष्णाति सर्वेभ्यः प्रयच्छतीति **वपुः** परमानन्दस्वरूपम् । **अलमत्यर्थं कं** येषां ते ब्रह्मविदस्तेषां कुलैर्वा । त एव वा ते । तैरावृतमग्निब्राह्मणरूपमाननमब्जमासनकमलं यस्य । सनकादिभिर्ब्राह्मणैर्देवर्ज्ञानादिभिश्च पत्रेषु स्थितैरावृतं कर्णिकारूपमासनमित्युक्तं भवति । अब्जपदेन च मूर्यादिवेष्टनराहितत्वं लक्ष्यते । एतादृशं वपुर्दधाने । तादृशोऽपि भक्तवत्सल इति—**विजयसखे** । सख्यपर्यन्तं दत्तवानिति । **विजयोऽर्जुनः** । विशिष्टो जयो येषाम् । अन्तःकरणादिजेतारः । ते सखायो यस्य । तेषां **वा सखा** । तत्र रतिः प्रीतिः । अनवद्या अलौकिकी । परमा प्रीतिरलौकिकी सर्वदुर्लभा भगवदेकनिष्ठा तत्त्व एव भवतीति नोत्तरत्र विरोधः ।।३३।।

व्याख्यार्थ - कदाचित् अन्तर्यामी के साथ अभेद होने से उसमें अथवा जीवात्मा में रति की प्रार्थना भीष्मजी ने की यह बात नहीं है किन्तु जिनने शरीर धारण किया है और जिनमें प्राकृत

(साधारण) व्यक्ति भी यह शरीर वाला है ऐसी प्रतीति करते हैं ऐसे मेरे सामने उपस्थित आप में मेरा प्रेम हो। शास्त्र के द्वारा आपके स्वरूप का ज्ञान होने पर मेरा कार्य हो इपकी मुझे अपेक्षा नहीं है। मैं तो यह चाहता हूँ कि जिसमें प्राकृत व्यक्तियों की यह शरीरी है ऐसी प्रतीति होती है उसमें प्रेम चाहता हूं। अर्थात् आपके इस स्वरूप बल से ही जो कार्य होता हो वही होवे। इसी बात का 'वपुर्दधानम्' से अनुवाद करते हैं। स्वरूप सौन्दर्य से ही भगवान में मेरा चित्त लगे इसलिए भीष्मजी भगवान् के रूप का वर्णन करते हैं। तीन लोक में जो लोक दृष्टि से सुन्दर माने जाने वाले हैं उनमें मेरी प्रीति हो। शास्त्र संस्कार के द्वारा जिसकी प्रतीति होती है उसमें नहीं। शास्त्रों के द्वारा समझे जाने वाले भगवान् से जो फल होगा वह बुद्धि के द्वारा होने से अल्प होगा क्योंकि बुद्धि कल्पना करेगी तो बुद्धिगत भगवान् का मनन होगा। लौकिक रूप में शरीरी प्रतीत होने वाले इन भगवान् में प्रेम किया जाय तो इस वस्तु के सामर्थ्य से महान् फल होता है। भगवान् तमालवृक्ष के समान श्यामवर्ण हैं। तमालवृक्ष में नैसर्गिक सर्वाधिक सदा एकसा रहने वाला नीलवर्ण है। तमाल वर्ण पद देकर के यह बताया कि वृक्ष सवथा परहित करने वाला है। इसी तरह भगवान् भी परहित करने वाले हैं। भगवान् रविकर गौरवराम्बर हैं। अर्थात् सूर्य किरणों की तरह गौर और श्रेष्ठ है वस्त्र जिसका। सबकी मुक्ति के लिए प्रकट हुए भगवान् का पीताम्बर स्वरूपावरण करने के कारण दुष्ट है ऐसी आशङ्का पर कहते हैं कि 'रविकर' सूर्य की किरणें घट आदि पर पड़ती हैं तो उसे बताती ही है आवृत्त नहीं करती। ढकती नहीं। वैसे ही पीताम्बर भी परमानन्द का प्रकाश ही करता है। उसे छिपाता नहीं। पीताम्बर को वेदरूप भी माना है। वेद, अर्थ का प्रकाश ही करता है। छिपाता नहीं। गौर शब्द का अर्थ यह है कि जिसमें कुछ ललाई के साथ पीलापन हो ऐसा भगवान् का पीताम्बर है। नीलवर्ण कुछ दूसरे वर्ण वाले के सम्बन्ध से प्रकाशित होता है। यहां भगवान् का श्यामवर्ण पीताम्बर से शोभित है। वेदों की प्रार्थना थी कि भगवान् हमसे आवेष्टित होकर रहें। भगवान् ने उन्हें कहा कि ठीक है तो पीताम्बर रूप में बने वेद भगवान् को ढककर के रहते हैं। इसलिए पीताम्बर को वेदरूप कहा। पीताम्बर यदि मायारूप होता तो वह प्रकाशक नहीं होता इसलिए पीताम्बर को वेदरूप बताया। वेदत्रयी रूप सूय अपने स्वरूप से घटादि को प्रकाशित करता है वैसे ही यहां भी समझना चाहिये। 'वासश्छन्दोमयं पीतम्' के अनुसार पीताम्बर को वेदरूप बताया है। तात्पर्य यह है कि क्रिया बाहुल्य एवं उसके नाना फल बताकर भगवान् से जीवों को पृथक् किया और अपनी क्रियाओं में मानवों को लगाया। जिससे केवल भगवद्भक्ति करने वाले जीव न रहें। इस प्रकार वेद भगवान् के स्वरूप को ढकने वाला है। किन्तु वेदरूप पीताम्बर माया की तरह भगवान् का आवरक नहीं है। यहां वस्त्र के लिए अम्बर पद इसलिए दिया है कि उससे आकाश का भी बोध हो जैसे आकाश व्यापक है वैसे ही वेदरूप वस्त्र भी व्यापक है ऐसा अम्बर पद से कहा गया। अथवा ब्रह्म व्यापक है तो उसका वस्त्र भी व्यापक है और वस्त्र की अप्राकृतता भी बताई। अथवा रवि किरणों से गौर श्रेष्ठ जो आकाश वह ब्रह्म का शरीर है। अर्थात् ब्रह्म आकाश शरीर वाला है। यह कहा गया। 'त्रिभुवनकमनं तमालवर्णम्' ये जो दो विशेषण हैं वे आकाश पक्ष में भी स्पष्ट हैं। क्योंकि आकाश त्रिभुवन को अवकाश देता है। इसलिए सुन्दर है और आकाश की प्रतीति तमालवृक्ष के जैसी श्याम है। अब 'अलककुलाब्जवृताननम्' का अर्थ कहते हैं कि अलकावलि से आवृत्त है मुखारविन्द जिसका। अथवा अल का अर्थ है अधिक। 'क' का अर्थ है आनन्द और 'कुल' का अर्थ है समूह अर्थात् अधिक आनन्द के समूह से चारों ओर से वेष्टित अर्थात् आनन्दरूप कर चरणादि रूप से स्थित। आनन का अर्थ है जिसका चारों ओर से

अभाव नहीं ऐसा सद्रूप सूर्य, चन्द्र, लक्ष्मी, बिजली, मेघादि रूप अब्ज है जिसके अर्थात् आनन्द रूप हैं अवयव जिसके ऐसे आकाश शरीर वाले ब्रह्म के दन्त नेत्र रूप है सूर्य चन्द्रमा आदि जिसके। वपु का अर्थ यह है कि 'व' अर्थात् अमृत उसका 'पुष्' पोषण करने वाला अर्थात् सबको आनन्द देने वाला जिसका परमानन्द स्वरूप है। अथवा 'अलककुलावृताननाब्जम्' का यह अर्थ है कि विशेष रूप में जिनको सुख है ऐसे ब्रह्मज्ञानी है। उनके समुदाय से व्याप्त। अथवा संस्कृत जो पृथ्वी आदि तद्रूप शरीर को ग्रहण करने वाले ब्रह्मज्ञानी उनसे परवेष्टित। अथवा ब्रह्मज्ञानी ही अलकावलि रूप में है जिसके उससे आवृत। अग्नि ब्राह्मण रूप जो मुख वह जिसका आसन कमल है अर्थात् कमल पत्रों में स्थित सनकादि ब्राह्मण देवता और ज्ञानियों से आवृत्त कर्णिका रूप आसन है। सूर्य चन्द्रमा आदि जल से पैदा होते हैं अतः अब्ज पद से लिये गये जो सूर्य चन्द्रमा आदि हैं उनसे भी आवेष्टित है। भगवान् इस प्रकार के शरीर का धारण करने वाले होते हुए भी वे भक्तवत्सल हैं इस बात को 'विजयसखे' से कहा है। अर्थात् भगवान् ऐसे भक्तवत्सल हैं कि अर्जुन को सख्य पर्यन्त भक्ति दे दी है। विजयसखे में जो विजय पद है उससे अर्जुन लिया गया है। अथवा जिनका विशिष्ट जय हो वे भी विजय पद से लिये गये हैं। क्योंकि शत्रुओं को जीतना विशिष्ट जय नहीं है। अन्तःकरण आदि को जीतना विशिष्ट जय है। अर्थात् अन्तःकरण आदि को जीतने वाला भक्त है, सखा (मित्र) जिसके। अथवा ऐसे अन्तःकरण को जीतने वालों के आप सखा हैं। ऐसे भगवान् में मेरी अलौकिकी प्रीति होवे। अलौकिकी सबको दुर्लभ भगवान् में ही एक निष्ठा कराने वाली परमा प्रीति अन्तःकरण आदि जीतने वाले में हो हो सकती है। इसलिए आगे के श्लोक से विरोध नहीं हुआ। अर्थात् भीष्मजी ने अलौकिकी प्रीति की प्रार्थना की है। वह प्रीति उत्तमाधिकारी में ही सम्भव है। भीष्मजी ने 'ममनिशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि' अर्थात् मेरे तीक्ष्ण बाणों से जिनकी त्वचा छेदी जा रही थी इस रूप में युद्ध के सामयिक रूप का वर्णन किया है। उत्तम अधिकारी इस प्रकार भगवान् के लिए नहीं कह सकता तो उत्तर देते हैं कि उस समय भीष्मजी अन्तःकरण आदि को जीतने वाले नहीं थे और इस समय अन्तःकरणादि को जीतने वाले हैं इसलिए अलौकिक रति की प्रार्थना युक्त है ।।३३।।

आभास—एवं सत्त्वमिश्रसत्त्वावस्था उक्ता। रजोमिश्ररजोऽवस्थामाह—

आभासार्थ—शङ्का करते हैं कि युद्ध समय में भीष्मजी में उत्तमाधिकारी के भाव नहीं रहे तो इस समय भीष्मजी में उत्तमाधिकारी के भाव कैसे उत्पन्न हुए इसका उत्तर देते हैं कि भगवान् की अवस्था के भेद से भीष्मजी के भाव में भिन्नता हुई पूर्व श्लोक में की जाने वाली स्तुति में भगवान् में सर्वतोऽधिक सुन्दरता होने से वे सुखजनक हैं एवं प्रकाशक हैं। सत्त्वगुण से सुखरूप प्रकाश होता है अतः सत्त्वगुण का कार्य होने से सत्त्वयुक्त सत्त्व की अवस्था का भीष्मजी ने वर्णन किया है भीष्मजी को भगवान् के दर्शन हुए। अब भगवान् की रजोमिश्रित राजस अवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलंकृतास्ये।**
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ।।३४।।

श्लोकार्थ—युद्ध में घोड़ों के खुर की रज से धूसर वर्ण चारों ओर फैले हुए केशों से मिले हुए श्रम बिन्दुओं से शोभित मुखारविन्द वाले मेरे तीक्ष्ण बाणों से जिनकी त्वचा छेदी जा रही है जो कवच से शोभित है ऐसे श्रीकृष्ण में मेरा अन्तःकरण हो ।।३४।।

सुबोधिनी—युधीति । सर्वावस्थासु रतिः प्रार्थ्यते । **युधि** युद्धे । तुरगाणामश्वानां खुराग्रविक्षतरजोभिः विशेषेण धूमाः धूसरवर्णाः विष्वक् परितो ये कचास्तैर्लुलितं यच्छ्रमवारि तेनाऽलंकृतमास्यं यस्य । नीले मुखाब्जे मुक्ताफलसदृशा बिन्दवः शोभातिशयं कुर्वन्ति । **मम भीष्मस्य** । त्वक् चर्मादि । युद्धविशेषणं वा । राजसराजसावस्थायाः शोभैव सा । अथवा । युद्धार्थमिन्द्रियादिभिः सह **तुरगाणां** वेदानां सूर्यादीनां वा यत् **रजः** कामो रजोगुणो वा तेन विधूम्रा विशेषेण धूसरा ये सकामाः । कालवशाद्वा वेदवशाद्वा सकामाः । कालपरिच्छेदका ह्यग्न्यादयः । "**अग्निर्वा अर्वे**"त्यादिश्रुतिभिस्तेषां तुरगत्वम् । वेदानां च त्रिपुरदाहादौ । ते च ते **विश्वक्काश्च** ब्रह्मविदः सूर्यादिमार्गगामिनो भिन्ना वा । तदा तेषां **च** समुच्चयः । इतरेतरयोगो वा । तेन लुलिता मिलिता **ऐक्य**भाव वा प्राप्ताः । ते च ते **श्रमवार्य्यलंकृताश्च** गङ्गाजलपूता ब्रह्मशिवादयः । तेऽपि आनने यस्येति । आ समन्तात्सद्रूपे (?) वा । अनेन महासामर्थ्यं सूचितम् । कालरूपत्व च । किञ्च । **मम** अहङ्कारविशेषः । तेन या **निश्** निशा तामिताः । अहङ्कारेणाऽज्ञानं प्राप्ता इति यावत् । ते च ते **शराश्च** परभेदकाः । तैर्विशेषेण भिद्यमानास्त्वचः छन्दांसि यस्येति । यस्माद्वा । पाषण्डप्रवृत्तौ कलौ वा सञ्जाते गत्यन्तराभावात् । भगवतश्च तद्दोषाभावे हेतुः । विशेषेण लसत्कवचं धर्मादिरूपं यस्य । एतादृशे कृष्णे आत्मा अन्तःकरणमस्तु । भक्तिर्हि अन्तःकरणसाध्या । आत्मसाध्या वा । तदुभयं भगवति चेत्तदा भक्तिस्तत्र भवति । अतः पूर्वश्लोकार्थे अयं हेतुः ।।३४।।

व्याख्यार्थ—भगवान् की सत्त्वमिश्र अवस्था तथा रजोमिश्र रजोऽवस्था आदि जितनी भी अवस्था है उनमें रहे हुए भगवान् में प्रीति हो ऐसी प्रार्थना करते हैं । युद्ध में घोड़ों के खुरों के अग्र भाग से खुदी हुई रज से विशेष रूप से परितः धूसरवर्ण वाले जो बाल उनसे सम्बन्ध रखने वाला युद्ध से होने वाले श्रमवारि (पसीना) से अलंकृत है मुख जिनका । नील मुख कमल पर मोतियों के सदृश श्रम बिन्दु अधिक शोभा बढ़ा रहे हैं । श्लोकस्थ 'मम' पद से भीष्मजी लिये गये हैं । 'त्वक्' शब्द से चर्म आदि लिये गये हैं । अर्थात् भीष्मजी कहते हैं कि मेरे तीक्ष्ण बाणों से छेदी जाती हुई त्वचा वाले श्रीकृष्ण में मेरा अन्तःकरण हो । अथवा 'निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि' यह युद्ध का विशेषण है । अर्थात् मेरे तीक्ष्ण बाणों से छेदी जाती हुई है त्वचा जिस युद्ध में । तीक्ष्ण बाणों से शरीर का भेदन होना राजस अवस्था की शोभा ही है । अथवा इन्द्रियादिकों से युद्ध करने के लिए तुरग अर्थात् वेद अथवा सूय आदि उनका रज अर्थात् काम अथवा रजोगुण उनसे विशेष रूप से धूसर जो सकाम मनुष्य । तात्पर्य यह है कि काल के वश में होने से तथा वेदोक्त क्रियाओं के वश में होने से मनुष्य सकाम है । काल एवं वेद उन्हें सकाम बनाते हैं । अग्नि सूर्य आदि अमुक अमुक काल के बताने वाले हैं । सूर्य आदि घोड़े हैं । इसमें श्रुति प्रमाण कहते हैं । 'अग्निर्वा अर्वा वायुः सप्तिः आदित्यो वाजी एताभिरेवास्मैदेवताभिर्देवरथं युनक्ति' तात्पर्य यह है कि अग्नि वायु सूर्य घोड़े हैं इनसे देवरथ जोड़ा जाता है । इस श्रुति में सूर्य आदि को घोड़ा बताया है । त्रिपुर को जलाने में

वेदों का घोड़ा बनाया गया था। इसलिए वे भी घोड़े कहे जाते हैं। ऐसे सकाम क्रममुक्ति के अधिकारी चारों ओर से ब्रह्म को जानने वाले जो सूर्यादि मार्ग गामी है। अथवा अश्व समुच्चय अर्थ वाले च से सकामों से भिन्न ब्रह्मज्ञानी लिये गये हैं। इन सबका समाहार द्वन्द्व मानने पर एक वचन होगा। इतरेतर द्वन्द्व मानने पर विग्रह यह होगा कि 'तुरगरजोविधूम्राश्च ते विष्वक् काश्चाश्च' श्लोक में कहे गये सकाम ब्रह्मज्ञानी के समुदाय से एकता को प्राप्त हुए अर्थात् उनके समान जो 'श्रमवार्यलकृत' अर्थात् भगवान् का श्रमवारि रूप जो गङ्गाजल उससे अलंकृत अर्थात् पवित्र। जो पवित्र होगा वही अलंकृत होगा। ऐसे जा ब्रह्मा शिव आदि जिसके मुख में है। अर्थात् ब्रह्मा शिव भी जिन भगवान् के भक्ष्य है। अथवा आस्ये का अर्थ है आसमन्तात् सद्रूप ब्रह्म में। श्लोक में आये हुए 'आस्ये' के स्य का सद्रूप अथ कैसे होगा इस पर प्रकाशकार लिखते हैं कि यहां सत् से स्य बना है। सत् में आये हुए त् को और स में अ है उसको पर निपात बहुल छन्दसि से हुआ है। इसलिए आस्य का अर्थ ऐसा है। उपर्युक्त बात से भगवान् का बड़ा सामर्थ्य सूचित हुआ तथा कालरूपता भी सूचित हुई। भीष्मजी से कहे गये मम से अहङ्कार लेना अर्थात् मेरे पेने बाणों से ऐसा कहने से अहङ्कार सूचित होता है। उस अहङ्कार से निश् अर्थात् रात्रि उसके पाप्त होने वाले अर्थात् अहङ्कार से जो अज्ञान को प्राप्त हो गये हैं। यहां निशा शब्द से अज्ञान लिया गया है। अहङ्कार से जो अज्ञानी होते हैं वे दूसरों के मर्म भेदन करने वाले होते हैं जैसे कि बाण भेदन करता है। पर भेदन (दूसरे को छेदने वाले ऐसे) अर्थ को लेकर मर्म भेदन करने वाले शर पद से कहे गये हैं। इस प्रकार के पाषण्डियों से विशेष रूप से नष्ट किये गये हैं त्वचा रूप वेदों को जिसके अथवा पाखण्डियों से वेद दूषित हुए हैं जहां, इस पक्ष में त्वच् शब्द से वेद अर्थ लिया गया है। पाषण्ड की प्रवृत्ति होने पर अथवा कलियुग में दूसरी कोई गति न होने के कारण पाषण्डी वेद को दूषित कर देते हैं। भगवान् बुद्ध ने जब इस प्रकार वेदों को दूषित किया तो भगवान् को दोष लगाना चाहिये इस पर कहते हैं कि 'विलसत्कवचे' विशेष रूप से शोभित है धर्मादि रूप कवच जिसके इसलिए वह भगवान् निर्दोष है। धर्मादि रूप कवच धारण किये हुए होने पर दोष नहीं लगता। ऐसे कृष्ण भगवान् में मेरा अन्तःकरण एवं आत्मा हो। यहां आत्मा शब्द से अन्तःकरण एव आत्मा दोनों लिये गये हैं। निश्चय करके भक्ति अन्तःकरण एवं आत्मा से होती है। आत्मा एवं अन्तःकरण ये दोनों यदि भगवान् में होते हैं तो उसमें अनवद्य भक्ति होती है। रति अन्तःकरण एवं आत्मा साध्य है। यदि अन्तःकरण एवं आत्मा का सम्बन्ध भगवान् में कर लिया जाता है तो अनवद्य रति होना माना जाता है। इस श्लोक में अन्तःकरण का भगवान् से सम्बन्ध चाहा गया है। इसलिए पूर्व श्लोक के अर्थ में हेतु है। इस श्लोक का अर्थ हेतु है। भीष्मजी ने भगवान् में निर्दोष परमा प्रीति की पूर्व श्लोक में कामना की है तो 'मम निशितशरैर्विभिद्य मानत्वचि' ऐसा भीष्मजी का कहना इस प्रकार की प्रीति चाहने वाले का युक्त नहीं होता परन्तु जब इसका अर्थ दूसरा कर दिया गया तो पूर्वा पर विरोध नहीं हुआ ॥३४॥

आभास—तृतीयावस्थामाह—

आभासार्थ—तमोमिश्रित तमो अवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य।**
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा हृतवति पार्थसखे मतिर्ममाऽस्तु ॥३५॥

श्लोकार्थ— दोनों सेनाओं के बीच में मेरे रथ को स्थापित करो ऐसे अपने सखा अर्जुन के वचनों को सुनकर जल्दी ही अपनी और शत्रुओं की सेना के बीच में रथ को ले जाकर स्थित हुए और नेत्रों से शत्रुओं के सैनिकों की आयु को हरण करने वाले अर्जुन के सखा भगवान् में मेरी बुद्धि हो ।।३५।।

सुबोधिनी—सपदीति । सपदि तत्क्षणमेव । सखिवचोऽर्जुनस्य वचः । "**सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युते**"ति । निजपरयोः सेनयोर्मध्ये । पक्षपातोऽन्यार्थेऽन्यघातनञ्च तृतीयो गुणः । परसैनिकानामायुश्च **अक्ष्णा** कालदृष्ट्या । पृथायाः पुत्रस्य च सखा । पूर्ववन्मतिरस्तु ।।३५।।

व्याख्यार्थ—तत्क्षण ही अर्जुन के 'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत' इस वचन को सुनकर अपनी एवं शत्रु की सेना के बीच में रथ को स्थापित कर दिया । यहां भगवान् में पाण्डवों का पक्ष करना और पाण्डवों के लिए कौरवों को मारना यह तीसरा गुण तमोगुण है । शत्रुओं के सैनिकों की आयु को काल दृष्टि से हरण करने वाले कुन्ती के पुत्र अर्जुन के मित्र में जो पाण्डवों का पक्ष लेने वाले तथा कौरवों के विनाश करने वाले होने से तमोगुण वाले होने पर भी भक्त-वत्सलता गुण होने से ऐसे भगवान् में मेरी बुद्धि हो ।।३५।।

आभास— सत्त्वमिश्ररजोऽवस्थामाह—

आभासार्थ—सत्त्वमिश्रित रजोऽवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या ।**
कुमतिमहरदात्मविद्यया यश्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ।।३६।।

श्लोकार्थ—दूर-दूर स्थित सेनाओं के अग्रिम भाग को देखकर दोष बुद्धि से अपने आत्मीय जनों को नहीं मारने वाले अर्जुन की कुमति को जिसने आत्मविद्या (गीतोपदेश) से दूर किया उस परम भगवान् में मेरी भक्ति बनी रहे ।।३६।।

सुबोधिनी—व्यवहितेति । व्यवहिते दूरे स्थिते ये पृतने । विशेषेण अवहिता यत्रेति वा । **अवेति वा निषेधार्थः** । अहिता इति यावत् । विहिता अवहिताश्चेति वा । मुखमग्रिमभागः । तत्र बान्धवा एव तिष्ठन्ति । तद्वधव्यतिरेकेण न साधारणवधोऽपि सम्भवति । अतः स्वजनवधमकृत्वा निवृत्तः । परहिंसादोष इति । नापितेन क्षौरवदत्र समाधानम् । भारायमाणाः क्षत्रियाः श्मश्र्वादि-रूपाः । अर्जुनश्च नापितरूपः । आत्मविद्या स्वस्य विद्या । मयैव क्रियते । मम च हितम् । तेषामपि जडांश एव दूरी क्रियते मुक्तिदानार्थमिति । तस्मादेवंविधे न दोषः । अत एव गुरुत्वाच्चरणागति प्रार्थयते । परो मीयतेऽनेनेति परमः । तस्येति । स एव परः । तदवस्थां प्राप्तस्येति वा ।।३६।।

व्याख्यार्थ—दूर-दूर स्थित जो सेनाए उनके अग्रिम भाग को देखकर अथवा व्यवहित का अर्थ है जिसमें विशेष रूप से लोग सावधान हैं । तीसरा अर्थ व्यवहित का यह भी है कि जो अहित

(शत्रु) है। यह अर्थ इसलिए कहा गया कि व्यवहित में जो अव उपसर्ग है वह निषेधार्थक है। अर्थात् विशेषण जो अहित है अर्थात् शत्रुओं की सेना के अग्रिम भाग को देखकर। अथवा व्यवहित का वि के साथ हित का सम्बन्ध करने पर अर्थ यह है कि जो विशेष रूप से हित है। निषेधार्थक अव के साथ हित का सम्बन्ध होने पर यह अर्थ हुआ कि जो अहित है उनकी सेना के अग्रभाग को देखकर जिस अग्रिम भाग में बान्धव हो खड़े हैं उन बान्धवों के मारने के बिना सेना में रहे हुए साधारणों को मारना भी सम्भव नहीं है। अतः स्वजन को न मारकर निवृत्त हुए अर्थात् परहिंसा दोष से निवृत्त हुए अर्जुन के द्वारा नापित से जैसे क्षौर कराया जाता है ऐसे ही यहां सेना को साफ कर दिया यह समझना। भारभूत जो क्षत्रिय है वे श्मश्रू (दाढी मूंछ) आदि रूप हैं। और अर्जुन नापित रूप है। नापित से जैसे केश दूर किये जाते हैं ऐसे श्मश्रू आदि रूप जो शत्रु सैनिक हैं। उन्हें भगवान् ने अर्जुन के द्वारा नष्ट करा दिया। अर्जुन ने स्वजनों को देखकर जब मारना न चाहा तो भगवान् ने गीता से अपनी विद्या का अर्थात् यह सब कुछ मुझसे ही किया जा रहा है और मेरा इसमें हित है। इस रूप की आत्मविद्या का उपदेश देकर अर्जुन के मोह को जिसने हटाया और भगवान् ने शत्रु सैनिकों को मुक्ति देने के लिए उनमें रहे जडांश को दूर किया। इस प्रकार के भगवान् में सर्वथा दोष की कल्पना नहीं हो सकती। भीष्मजी ने भगवान् को आत्मविद्या के उपदेष्टा के रूप में वर्णन करने से भगवान् को गुरु बताया क्योंकि जो विद्या का उपदेश देता है वह गुरु होता है अतः भीष्मजी ने गुरु भावना से यहां चरणारविन्दों में प्रेम चाहा। पूर्व श्लोकों में चरण रति पद न देकर इसीमें चरण रति पद दिया। गुरु इतना सम्मान्य होता है कि उसके चरणारविन्द में ही प्रेम चाहना चाहिये। श्लोक में परमस्य आया है इसका अर्थ यह है कि जिससे पर पुरुष ज्ञात होवे। श्लोक में जो परम पद से कहा गया है वही तत् पद से कहा गया है। अर्थात् 'मत्तः परतरं नान्यत्' से भगवान् ने अपने आपको सबसे पर बताया। और 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' इत्यादि से अपना ज्ञान अपने ही से होना बताया। इसलिए वही भगवान् परम भी हो सकता है और पर भी हो सकता है अर्थात् वही भगवान् पर को समझाने वाला हो सकता है। अथवा गीता के द्वारा आत्मविद्या का उपदेश देने से सात्विकता बताई और युद्ध से संहार कराने के कारण इस अवस्था को रजोअवस्था बतायी और उस भगवान् के चरणारविन्द में रति चाही है ॥३६॥

आभास—तमोमिश्ररजोऽवस्थामाह—

आभासार्थ—तमोमिश्रित रजो अवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्त्तुमवप्लुतो रथस्थः ।**
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥३७॥

श्लोकार्थ—अपनी प्रतिज्ञा छोड़कर मेरी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिए रथ से नीचे कूद पड़े और सिंह जैसे हाथी को मारने के लिए उस पर टूट पड़ता है वैसे ही रथ का पहिया लेकर मुझ पर टूट पड़े। उस समय उत्तरीय गिर गया और पृथ्वी कांपने लगी ॥३७॥

सुबोधिनी—स्वनिगममपहायेति । स्वस्य निगमः प्रतिज्ञा शस्त्रसंन्यासः । दन्तवक्रे सभ्रातरि हते भगवता शस्त्रसंन्यासः कृतः । तत्पुनस्तृतीयदिनयुद्धे नवमे च भीष्मवधार्थं चक्रं गृहीतम् । युद्धागमनसमये च प्रतिज्ञा कृता अयुध्यमानोऽहमेकत इति । मया च प्रतिज्ञातम्—सर्वथा शस्त्रं ग्राहयिष्यामीति । तत्र मत्प्रतिज्ञामृतं कर्तुं रथस्य एव सन्नवप्लुतः । अधिका च प्रतिज्ञा कृता । शस्त्रमेव गृहीतं न तु मारितवानित्यर्थः । रथस्यैव चक्रे सुदर्शनस्याऽऽवेशः । भगवतः प्रतिज्ञात्यागे भूमेः कम्पो जातः । तदाह—**चलद्गुरिति** । चलन्ती गौर्भूमिर्यस्य । दृष्टान्तेन दोषाभावमाह । **यथा हरिः सिंह इभमिव** । **"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदन"** इति श्रुतेः । सायुज्यदानार्थं भीष्ममन्तःप्रवेशयितुं भगवान् प्रवृत्तः । तावता उत्तरीयं पतितमुपर्याच्छादनार्थम् । अर्जुनो रक्षितः । स भूमावागत्य पतितः । ततो वधो न जात इति । उत्तरीयाभावे च भोजनं निषिद्धम् । तदा हि भीष्मोऽहङ्कारयुक्तः । अतस्तस्य ज्ञानस्फूर्त्यभावात्तदा न मारित इति भावः । अत्र रतिप्रार्थनाऽभावो भगवत एव रतिकार्यकर्तृत्वात् ॥३७॥

व्याख्यार्थ— श्लोक में आये निगम का अभिप्राय शस्त्र ग्रहण नहीं करने की प्रतिज्ञा । भगवान् ने शिशुपाल सहित दन्तवक्त्र के मरने पर शस्त्रों का सन्यास (त्याग) कर दिया था । पुनः तृतीय दिन के युद्ध में तथा नवम दिन के युद्ध में भीष्मजी को मारने के लिए भगवान् ने चक्र लिया युद्ध में आने से समय भगवान् ने प्रतिज्ञा की थी कि युद्ध नहीं करता हुआ मैं एक ओर रहूंगा । दूसरी ओर मेरी नारायणी सेना रहेगी । भीष्मजी कहते हैं कि मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि सर्वथा भगवान् को शस्त्र ग्रहण कराऊगा । उन दोनों प्रतिज्ञाओं में मेरी प्रतिज्ञा को सत्य बनाने के लिए रथ पर विराजे हुए भगवान् नीचे कूद पड़े और रथ का पहिया उठाया । जबकि भगवान् ने शस्त्र ग्रहण नहीं करने की प्रतिज्ञा की । तो फिर शस्त्र ग्रहण क्यों किया तो कहते हैं कि 'अहं भक्तपराधीनः' इस वाक्य के अनुसार भगवान् की प्रतिज्ञा भक्ताधीन रहने की अधिक है इसलिए भगवान् ने उसी के अनुसार कार्य किया । भगवान् ने शस्त्र ही लिया भीष्मजी को मारा नहीं । भगवान् ने रथ के पहिये को जब उठाया तब उसमें सुदर्शनजी का आवेश हो गया । इसलिए महाभारत में रथ के चक्र के अग्रभाग को क्षुर के अग्रभाग के समान तीक्ष्ण कहा है । भगवान् ने जब प्रतिज्ञा छोड़ दी तो पृथ्वी में कंप हुआ इसी बात को 'चलद्गु.' से कहा है । गो का अर्थ है पृथ्वी वह कम्पित हो गई । अर्थात् साधारण व्यक्ति का भी प्रतिज्ञा छोड़ना अच्छा नहीं होता तो अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान् प्रभु के प्रतिज्ञा छोड़ने पर पृथ्वी ने समझा कि भगवान् जब नियमों का त्याग करने लगे हैं तो मेरा इस असमय में भी प्रलय कर सकते हैं अतः पृथ्वी में कम्प हुआ । जैसे सिंह हाथी को मारने के लिए दौड़ता है इसी प्रकार भगवान् भीष्मजी की ओर दौड़े । सिंह को जैसे मारने का दोष नहीं लगता । वैसे ही भगवान् को भी प्रतिज्ञा त्याग होने पर भी मारने का दोष नहीं लग सकता । क्योंकि 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः' जिसके ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों भात (भक्ष्य) बन जाते हैं । इस श्रुति के अनुसार भगवान् को भक्षक बताया । अपने में भीष्मजी को मिलाने के लिए भगवान् प्रवृत्त हुए । केवल मारण के नहीं । इसलिए भगवान् को मारने का दोष नहीं आया । उस समय भगवान् का उपरना नीचे गिर गया । महाभारत में 'व्यालम्बीपीतान्तपटः' पीतान्तपटः इस विशेषण से उत्तरीय छोर पीला बताया गया है इसलिए रवि किरणों के समान पीतरक्त न होने से उसकी वेदरूपता नहीं है किन्तु मायारूपता है । तात्पर्य यह है कि भगवान् भीष्मजी को मुक्ति देने के लिए उतरे किन्तु उस बात को तो छिपाया और अर्जुन की रक्षा के लिए नीचे उतरे यह प्रकट

किया यही भगवान् ने माया की। किसी अन्य उद्देश्य से प्रवृत्त हुए हैं और प्रकट में कुछ अन्य दिखा रहे हैं। यही माया करना है। वह उत्तरीय पट पृथ्वी पर आकर गिर गया इसीलिए भीष्म जी को नहीं मारा। उत्तरीय के न होने पर धर्मशास्त्र में भोजन निषेध है इसलिए भगवान् ने भीष्म जी का भोजन नहीं किया। भगवान् के चक्र हाथ में लेने पर भीष्मजी को मैं बड़ा वीर हूं ऐसा अहङ्कार हुआ, जिससे भगवान् के ज्ञान की स्फूर्ति जाती रही। भगवान् ने सोचा कि अहंकार दशा में भीष्मजी को मार देने पर इनकी मुक्ति न होगी। इसलिए उस समय नहीं मारा। भगवान् ही प्रेम का कार्य जो मुक्ति है उसके देने वाले हैं। इसलिए इस श्लोक में भीष्मजी ने प्रीति की प्रार्थना नहीं की। क्योंकि जिस मोक्षफल के लिए भगवान् में प्रेम किया जाता है वह फल भगवान् स्वयं देने के लिए तैयार हैं। श्लोक में प्रतिज्ञा त्याग तामस है। भीष्मजी की ओर दौड़ना राजस कार्य है। इसलिए यहां तामस राजसत्व की अवस्था समझना। ३७॥

आभास—रजोमिश्रतमोऽवस्थामाह—

आभासार्थ—रजोगुण मिश्रित तमोगुण की अवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**शितविशिखहतो विशीर्णदंशक्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।**
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः ॥३८॥

श्लोकार्थ—तीक्ष्ण स्वभाव वाले बिना चोटी के पाषण्डियों को जिसने निवृत्त कर दिया है। मच्छरों के नहीं रहने का आठ महिने का समय है उसमें घूमने से क्षत हो गये हैं जिनके अर्थात् चातुर्मास में सन्यासी एवं क्षत्रिय नहीं घूमते हैं, न युद्ध करते हैं और अतिरिक्त आठ महिना ही घूमते हैं ऐसे सन्यासियों एवं उत्तम क्षत्रियों से चारों ओर से व्याप्त इसलिए भगवान् अधर्म के निवारक और धर्म के रक्षक हैं अतएव पापी मुझको मारकर मोक्ष देने के लिए अर्जुन के मना करने पर भी जो बलात् मेरी ओर दौड़े वे ही भगवान् मुझे प्राप्त हो ॥३८॥

सुबोधिनी शितेति। नवमदिनस्येदं रूपम्। पूर्वश्लोके तु तृतीयदिनस्येति न पुनरुक्तिः। शितास्तीक्ष्णाः विगतशिखाः पाषण्डिनो हता येन। **विशीर्णदंशक्षतजपरिप्लुतः**। विशीर्णा दंशा यस्मिन् काले वर्षाव्यतिरिक्तकाले मासाष्टकम्। तत्र क्षता जाता येषां ते क्षतजाः। परिव्राजिनः क्षत्रियोत्तमा वा। तैः परितो व्याप्तः। अधर्मनिवारको धर्मरक्षक इत्युक्तं भवति। अत एव आततायिनं पापिष्ठं मां हन्तुं प्रसभमभिससार। अयुद्ध्यमानयुद्धात् पापिनमपि यो मोचयितुं प्रवृत्तः स भवतु मे भगवान् गतिः प्राप्यः। न हि स मां मारयितुं प्रवृत्तः। किन्तु मुक्तिदानार्थमित्याह—**मुकुन्द इति** ॥३८॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने रथचक्र को दो बार उठाया। एक युद्ध के तीसरे दिन दूसरा युद्ध के नवमे दिन। इस श्लोक में वर्णित भगवान् का रूप युद्ध के नवम दिन का है। पूर्व श्लोक जो 'स्व निगममपहाय' है उसमें युद्ध के तीसरे दिन के स्वरूप का वर्णन है। इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं

हुआ । श्री महाप्रभुजी ने भक्त भीष्म पर यह दोष न लग जाय कि भगवान् के युद्ध के स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं । इसलिए भगवान् के प्राप्ति की प्रार्थना करना कैसे युक्त हो सकता है इसी दोष के निवारण के लिए श्री महाप्रभुजी और भगवन्निन्दा की कोई भी बात कहना नहीं चाहते इसलिए भी इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार कर रहे हैं । शित का अर्थ है तीक्ष्ण विशिख का अर्थ है पाषण्डी केवल चोटी कटाकर दिखावटी सन्यासी जैसे उनको जिसने नष्ट किया है 'विशीर्णदंश' शब्द का अर्थ यह है कि जिस समय में मच्छर कम हो जाते हैं अर्थात् वर्षा के अतिरिक्त जो आठ मास उनमें फिरने से सन्यासियों को क्षत हो जाते हैं तथा जो वीर क्षत्रिय हैं युद्ध में उनके क्षत हो जाते हैं । यहां क्षतज का अर्थ यह किया गया है कि जिनके क्षत हो गये हैं ऐसे सच्चे सन्यासी एवं क्षत्रिय । उन सन्यासी और क्षत्रियों से चारों ओर से व्याप्त । इससे यह कहा गया कि भगवान् पाषण्डियों को नष्ट कर अधर्म का निवारण करते हैं और धर्म के पालन करने वाले सन्यासी एवं उत्तम क्षत्रियों से व्याप्त होने के कारण धर्मरक्षक हैं । अधर्म निवर्तक एवं धर्म रक्षक होने से ही आततायी मुझ पापिष्ठ को मारने के लिए अर्जुन के मना करने पर भी बलात् दौड़े । युद्ध न करने वाले भगवान् से मैं युद्ध करने के कारण पापी था तथापि मुक्ति देने के लिए जो प्रवृत्त हुए वे भगवान् मेरी गति (मेरे प्राप्य) हो । यहां 'मे' में सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी मानकर ऐसा भी अन्वय किया गया है कि ये भगवान् अर्थात् मत्सम्बन्धी भगवान् मेरे प्राप्य हो । वे भगवान् मुझे मारने के लिए प्रवृत्त नहीं हुए थे किन्तु मुक्ति देने के लिए प्रवृत्त हुए थे इसी बात को बताने के लिए श्लोक में मुकुन्द पद दिया है । मुकुन्द का अर्थ है मोक्ष देने वाला । तीक्ष्ण बाणों से मारे गये ऐसा वर्णन करना राजस है मुझे मारने को दौड़े यह तामस है इसलिए रजोमिश्रित तमोवस्था इस श्लोक में वर्णित है ।।३८।।

आभास—सत्त्वमिश्रतमोऽवस्थामाह—

आभासार्थ—सत्त्वगुण मिश्रित तमोगुण की अवस्था को कहते हैं । भगवान् के देखने से जो सुख होना सात्त्विक है और मारकर उनको अपने स्वरूप में लीन करना तामस है अर्थात् जीवित स्थिति में ब्रह्मरूप नहीं बने किन्तु मरने के बाद उनको भगवद् स्वरूप प्राप्त हुआ इस बात को कहते हैं—

श्लोक—**विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये ।**
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षोर्यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम् ।।३९।।

श्लोकार्थ— जो अर्जुन के रथ की रक्षा करने वाले हैं, जिनने चाबुक लिया है और घोड़ों की लगाम पकड़ रखी है उस समय की शोभा से जो दर्शनीय है । जिनके दर्शन करते हुए यहां जो मरे वे सब स्वरूप को प्राप्त हुए ऐसे भगवान् में मुझ मरने की इच्छा रखने वाले का अनुराग हो ।।३९।।

सुबोधिनी—**विजयरथकुटुम्ब** इति । अर्जुनस्य रथः सर्वथा परिपाल्यः । अत एव तस्य रथः कुटुम्ब यस्य । विविधो जयो विगतो वा जयो यस्येति **विजयः** अर्जुनः । जयद्रथवधे हि युद्धे अशक्य इव जातः । तदा **स्वयं** तोत्रं गृहीत्वा अश्वानां रश्मींश्च गृहीत्वोत्थितः सन् कर्णादीनामस्त्राणि रथचालनेनैव दूरीकुर्वन् तदानीन्तनश्रिया **ईक्षणीयः** अतिसुन्दरः । **तादृशे** । **मुमूर्षोरेव रतिरस्तु** । न तु पूर्वजन्ममरणानन्तरम् । रतेः कैमुतिकन्यायेन फलमाह— **यमिह निरीक्ष्येति** । इह अस्मिन्नवसरे अन्तकाले य दृष्ट्वैव मुक्ताः । तत्राऽन्तकाले स्नेहे सति किं वक्तव्यमित्यर्थः ।।३९।।

व्याख्यार्थ—अर्जुन का रथ सर्वथा परिपालनीय है। जैसे कुटुम्ब का पालन किया जाता है। अतएव अर्जुन के रथ को कुटुम्ब बताया। विजय शब्द का अर्थ है नाना प्रकार का जय जिसका अथवा जिसका जय नहीं रहा। अर्थात् जिसका जय संदिग्ध रहा ऐसा अर्जुन विजय पद से लिया गया है। क्योंकि जयद्रथ के मारने के समय अर्जुन का जय अशक्य हो गया था तब स्वयं भगवान् ने कशा (चाबुक) तथा घोड़ों की रस्सी लेकर खड़े होकर कर्ण इत्यादि के अस्त्रों को युक्ति से रथ के चलाने से ही निराकरण करते हुए उस समय की शोभा से अति सुन्दर दिखाई दिये ऐसे आप में मुझ मरने की इच्छा रखने वाले की प्रीति हो। ऐसा न हो कि पहले की तरह मरण के अनन्तर हो। मुझे प्रेम से उत्तम फल हो इसके लिए तो कोई आश्चर्य की बात ही नहीं है। इसी बात को कहते हैं कि 'यमिह निरीक्ष्य' जिस भगवान् को अन्तकाल के समय दर्शन कर युद्ध करने वाले मुक्त हो गये तो अन्त समय में स्नेह होने पर मुक्त होने में तो कोई बात ही नहीं ॥३९॥

आभास—तमोमिश्रसत्त्वावस्थामाह—

आभासार्थ—तमोगुण मिश्रित सत्त्वगुण की अवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**ललितगतिविलासवल्गुहासप्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः।**
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ॥४०॥

श्लोकार्थ—हंस एवं हाथी की तरह सुन्दर चलने से मनोहर हास्य से एवं प्रेम पूर्वक देखने से जिनको अधिक मान हो गया है ऐसी गोपीजन भगवान् के चरित्र का अनुकरण करती हुई बहुत मदान्ध होती हुई भी निश्चय करके जिनके स्वरूप को प्राप्त हो गई उन भगवान् में मेरी प्रीति हो ॥४०॥

सुबोधिनी ललितेति। ललिता या गतिस्तत्र यो विलासः हंसगजगतिवत्पादचलनम्। मनोहरश्च हासः स्नेहपूर्वकं च निरीक्षणम्। तमोरजस्सत्त्वभावकार्याणि। तैः कल्पित उरु अधिको भगवन्माहात्म्यमप्यविचार्य प्रवृत्तो मानो यासाम्। किञ्च। **न केवलमन्तःस्थित** एव दोषः किन्तु त्रिदोषकार्यमपि बहिः कुर्वन्तीत्याह—**कृतमनुकृतवत्य इति।** कृतं भगवच्चरित्रं पूतनापयःपानादि तदनुकुर्वन्तीति। एवमपि सति लौकिकमपि ज्ञानं निवृत्तमित्याह—**उन्मदान्धा इति।** उद्गतेन मदेन भगवदारोहणार्थमपि यतन्त इत्यन्धाः। सर्वथाअचिकित्स्यत्रिदोषाः। तत्राऽपि—**गोपवध्वः** जात्या स्वभावेन च दुष्टाः। ता अपि यस्य सम्बन्धात्प्रकृतिं स्वरूपमगमन् नाऽत्र सन्देहः कर्त्तव्यः। किलेति प्रसिद्धे ॥४०॥

व्याख्यार्थ—सुन्दर गमन में जो हंस एवं हाथी हैं उनकी तरह भगवान् का चलना मनोहर हास्य और स्नेहपूर्वक देखना ये क्रमशः तमोगुण, रजोगुण, सत्त्वगुणों के कार्य है। भगवान् की ऐसी चेष्टा से जिनको भगवन्माहात्म्य का ज्ञान न रहा और वे अधिक मान करने लगी ऐसी गोपवधू जिनमें मान केवल अन्त स्थित दोष ही नहीं था किन्तु त्रिदोष (सन्निपात) का कार्य भी बाहर कर रही थी इसी बात को कहते हैं कि 'कृतमनुकृतवत्य' पूतना के पयः पान आदि भगवच्चरित्र का

अनुकरण कर रही थी। यह एक प्रकार का दोष है। दूसरा उनमें यह दोष था कि लौकिक ज्ञान भी उनको नहीं रहा यही बात कहते हैं कि 'उन्मदान्धाः' बढ़े हुए मद से भगवान् के ऊपर बैठने के लिए भी यत्न किया इसलिए वे अन्ध थी। यह उनका द्वितीय दोष था। ऊपर कहा गया जो और मान करना उनका तृतीय दोष था। यह उनका त्रिदोष (सन्निपात) सर्वथा अचिकित्स्य था। और यह भी बात थी कि वे गायें चराने वालों की स्त्रियाँ थी जिससे जाति एवं स्वभाव से भी दुष्ट थी। ऐसी गोपियां भी जिस भगवान् के सम्बन्ध से भगवान् के स्वरूप को प्राप्त हो गई। श्लोक में आया हुआ किल पद प्रसिद्धि अर्थ में है। अर्थात् यह बात सर्वविदित है इसलिए इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये। यहां उन्मदान्ध पद से मोह होना तामस है और भगवान् का देखना सात्त्विक है इसलिए यहां तमोमिश्रित सत्त्व का वर्णन है ॥४०॥

आभास—रजोमिश्रसत्त्वावस्थामाह—

आभासार्थ—रजोगुण मिश्रित सत्त्वगुण की अवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**मुनिगणनृपवर्यसङ्कुलेऽन्तःसदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम् ।**
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशिगोचर एष आविरात्मा ॥४१॥

श्लोकार्थ—मुनि समुदाय एव श्रेष्ठ राजाओं से व्याप्त सभा के बीच में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में पूजन ग्रहण कर जो दर्शनीय हुए वे जगत् की आत्मा भगवान् मेरे दृष्टि के विषय होते हुए प्रकट हैं इसलिए मेरा अहोभाग्य है ॥४१॥

सुबोधिनी—मुनिगणेति । मुनीनां गणा नृपश्रेष्ठाश्च । सात्त्विका राजसाश्च न तु तामसाः । अन्तःसदसि सभामध्ये सर्वतो मध्यस्थाने । आभिषेचनिके अहनि सदस्यपूजायां यः सर्वोत्तमः स पूजनीय इत्यस्मदादिभिरुक्ते कृष्णं पुरुषोत्तमं मत्वा एषां सर्वेषामेवाऽर्हणम् । सर्वेषामेव सम्भावितत्वात् । अतः सर्वेषां पूजां स्वयमेव गृहीतवान् । तदा च सर्वेषामेव ईक्षणीयो जातः । स इदानीं मम **दृशिगोचरः** तत्सौन्दर्यं साम्प्रतं पश्यामि । तस्य प्रकटात्मत्वमाह **आविरात्मेति** । सोऽयमेव, न त्वेतस्मिन् ॥४१॥

व्याख्यार्थ—मुनियों के समुदाय एवं श्रेष्ठ राजाओं से व्याप्त सभा मध्य में। जो सबके मध्य का स्थान था। यहां मुनि सात्त्विक है और राजा लोग राजस कहे गये हैं श्लोक में तामसों का निर्देश नहीं है। 'अन्तः सदसि' का अर्थ है सभा मध्य में। अभिषेक के दिन जब सदस्यों का पूजन होने लगा तो हमने कहा कि जो सर्वोत्तम है उसका पूजन होना चाहिये तब कृष्ण को सब पुरुषों में उत्तम मान कर। क्योंकि इन भगवान् के पूजन से सबका पूजन हो जाता है क्योंकि ये सबके सम्मानित हैं। ऐसे हम लोगों के कहने पर और इनके पूजन से सबका पूजन होने से पूजा को स्वयं ने ही ग्रहण किया। तब सबके दर्शनीय हुए। वही भगवान् मेरी दृष्टि के विषय हैं। अर्थात् इस समय इनके सौन्दर्य को देखता हूँ। यह जो प्रकट स्वरूप सामने दिखाई दे रहा है यही सर्वरूप भगवान् है। इसको अन्तः रहने वाला नहीं। कोई दूसरा सर्वरूप भगवान् नहीं है। यहां राजसूय राजा से

किया गया है ऐसा बताने से राजसूय यज्ञ राजस है। और तत्सम्बन्धी रूप में पूजनीय होने से भगवान् को भी राजस कहा है। ज्ञानान्तर इनका निश्चय होने से सात्त्विकत्व भी कहा।४१॥

आभास—एवं स्वदृष्ट्या सर्वावस्था अनुवर्ण्य गुणातीतायामवस्थायां विद्यमाने भगवति स्वात्मसमर्पणमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार भीष्मजी अपनी दृष्टि से भगवान् की सब अवस्थाओं का पूर्व श्लोकों से वर्णन कर गुणातीत अवस्था में विद्यमान भगवान् को मैं आत्म समर्पण करता हूँ यह कहते हैं—

श्लोक—**तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।**
प्रतिदृशमिव नैकधाऽर्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥४२॥

श्लोकार्थ—उन इन भगवान् को जो अजन्मा है। देहधारी जीव जो अपनी अवस्था विशेष रूप है उनके हृदय में जो अधिष्ठात्री देवता के रूप में स्थित है। जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न दृष्टियों में अलग-अलग प्रतीत होता है। वैसे ही वह एक भगवान् अनेक प्राणियों के हृदय में अनेक रूप में प्रतीत-सा होता है उस भगवान् को भेद और मोह को छोड़कर अच्छे रूप में प्राप्त हो गया हूं ॥४२॥

सुबोधिनी—**तमिममिति**। पूर्वं यः सर्वोत्कृष्टधर्मवत्त्वेनोक्तः स एवाऽयं हृदयमारभ्य बहिःपर्यन्तमनुस्यूततया स्थितः स च न देहादिरूपः। तदाह—**अजमिति**। यथा ममाऽयमन्तर्बहिस्तिष्ठति तथैव सर्वप्राणिष्वित्याह—**शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमिति** शरीरं भजन्त इति शरीरभाजो जीवाः स्वस्य समानाऽऽकृति शरीरं पुरुषरूपं सम्पाद्य स्वसेवां त्याजयित्वा तत्सेवायां नियुक्ताः। तत्र चाऽन्यभजनं मा भवत्विति स्वयमेव हृदि हृदि प्रत्येकपर्यवसायित्वेन धिष्ठितमधिष्ठाय स्थितम्। अधिष्ठातृदेवतात्वेन न तु जीववत्। ननु के ते जीवाः? तत्राऽऽह **आत्मकल्पितानामिति** आत्मनैव कल्पिताः। "**अवस्थितेरिति काशकृत्स्न**" इति भगवतोऽवस्थाविशेषो जीवः। प्राकृतभोगार्थं तामवस्थां सम्पादितवानित्यर्थः। नन्वेक एव कथमनेकस्थानेष्वनुस्यूततया दृश्यते? तत्राऽऽह—**प्रतिदृशमिव नैकधाऽर्कमेकमिति**। चक्षुषोऽधिष्ठात्री देवता सूर्य एक एव प्रतिदृशं तिष्ठति। अथवा बहिः स्थित एवाऽयं सूर्यः सर्वेषां दृष्टौ अस्मदर्थं एवाऽयमुदित इति प्रतिभाति। "**तस्मात्सर्व एव मन्यते मां प्रत्युदगादि**"ति श्रुतेः। तस्मान्महतामचिन्त्यसामर्थ्यान्नाऽत्र सन्देहः कर्तव्यः। तस्मादेवंविधं परमात्मानं समधिगतोऽस्मि प्राप्तोऽस्मि। योगेनाऽऽत्मानं तत्र योजितवानित्यर्थः। सर्वोऽपि भगवन्निकटे तिष्ठति। तथापि मायायाः स्वतः कार्यांश्च यौ धर्मावुद्गतौ मोहभेदौ तयोः प्रतिबन्धकत्वान्न भगवता सह मेलनमिति मया तौ निवारितावित्याह—**विधूतभेदमोह इति**। इदानीं वा समधिगमनानन्तरं भेदमोहावपगतौ ॥४२॥

व्याख्यार्थ—पूर्व में जो सर्वोत्कृष्ट धर्म वाला कहा गया है वही यह हृदय से लेकर बाहर पर्यन्त अनुस्यूत (व्याप्त) है। यह देहादि रूप नहीं है किन्तु अजन्मा है। जैसे मेरे भीतर एवं बाहर है वैसे ही सब प्राणियों में भी है यही 'शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितम्' से कहा है। 'शरीर

भाजाम्' का यह अभिप्राय है कि शरीर की सेवा करने वाले जीव जिन्हें भगवान् ने अपने समान आकार पुरुष रूप देकर अपनी सेवा को छुड़ाकर देह की सेवा में लगा दिया। देहों में अन्य (देह) की सेवा न हो इसके लिये स्वयमेव प्रत्येक के हृदय में अधिष्ठात्री देवता के रूप में स्थित हो गये। जीव की तरह स्थित नहीं हुए। ऐसी स्थिति में जो भी सेवा होगी उनकी ही होगी। यदि कहें कि जीवों का स्वरूप क्या है तो कहते हैं कि 'आत्मकल्पितानाम्' अपने से (भगवान् से) ये जीव कल्पित हुए हैं। 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' अर्थात् भगवान् की अवस्था विशेष है। प्राकृत भोगों को भोगने के लिये ही भगवान् जीव रूप बने हैं। यदि कहें कि एक ही भगवान् अनेक स्थानों में किस प्रकार अनुस्यूत (व्याप्त) दीख रहे हैं। तो कहते हैं कि 'प्रति दृशमिव नैकधार्कमेकम् 'चक्षुरिन्द्रिय का अधिष्ठात्री देवता रूप सूर्य एक होते हुए भी प्रत्येक की दृष्टि के सामने पृथक् पृथक् रूप से दीखता है। अथवा बाहिः स्थित हो यह सूर्य सबकी दृष्टि में यही ज्ञात होता है कि इसका उदय मेरे ही लिये हुआ है। जैसा कि श्रुति में कहा है कि 'तस्मात्सर्व एव मन्यते मां प्रत्युगात्' अर्थात् सभी यह मानते हैं कि मेरे लिये इस सूर्य का उदय हुआ है। अतः जो भी महान् होते हैं उनमें अचिन्त्य, सामर्थ्य होता है इसलिये भगवान् के एक होने पर भी अनेकत्र स्थिति में संदेह नहीं करना चाहिये। इस प्रकार के परमात्मा को अच्छे रूप में प्राप्त हो गया हूं। अर्थात् योग के द्वारा अपनी आत्मा को (अपने आपको) इसे सम्बद्ध कर लिया है। सभी भगवान् के पास ही रहें तो भी माया से और विश्व के कार्यरूप होने से जो माया से मोह होता है तथा कार्य होने से कारण रूप भगवान् से भेद प्रतीति होती है उन दोनों (मोह एव भेद) के बाधक होने से भगवान् के साथ जीव का सम्बन्ध नहीं होता इसलिये मैंने उस मोह एवं भेद को दूर कर दिया है यही बात विधूत भेद मोहः' से कही है। यहां यह भी भीष्मजी का आशय है कि भगवत्प्राप्ति के अनन्तर मेरे भेद और मोह दूर हो गये। ४२।

आभास—एवं स्वमनसि स्फुरितं प्रमेयमनूद्य अन्ते स्वकृतमात्मसमर्पणं चाऽनूद्य शरीरं त्यक्तवानित्याह—

आभासार्थ- इस प्रकार अपने मन में जो भगवत्स्वरूप की स्फूर्ति हुई उसे कहकर अन्त में अपने से किये गये आत्म समर्पण का निरूपण कर भीष्मजी ने शरीर छोड़ दिया यह कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—**कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्देहवृत्तिभिः।**
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत् ॥४३॥

श्लोकार्थ—सूतजी कहते हैं कि इस प्रकार मूलरूप श्रीकृष्ण में मन वाणी देह की वृत्तियों सहित अपनी आत्मा को भगवत्सम्बद्ध कर श्वास को रोककर भीष्मजी ने अपने देह को छोड़ दिया ॥४३॥

सुबोधिनी–**कृष्ण इति**। कृष्णे भगवति मूलाविर्भावरूपे एवं कायवाङ्मनोवृत्तयो योजिताः। तैः सह आत्माऽपि योजितः। तेषां तु भेदेन योजनम्। आत्मनस्त्वात्मन्येव योजनम्। **'इहैव समवनीयन्ते प्राणा''** इत्यर्थ उक्तो भवति। **अन्त.श्वासः**। अन्तरेव श्वासो यस्य सः। **उपारमत्**। देहं त्यक्तवान् ॥४३॥

व्याख्यार्थ– मूलरूप प्रकट हुए भगवान् कृष्ण में इस प्रकार देह वाणी एवं मन की वृत्तियों को भीष्मजी ने लगा दिया। उन वृत्तियों के साथ अपनी आत्मा का सम्बन्ध भी भगवान् के साथ कर दिया। देह वाणी और मन का सम्बन्ध भिन्न रूप से किया क्योंकि देह मन इन्द्रियां भगवान् से भिन्न प्रतीत होती है और अपनी आत्मा का तो सम्बन्ध भगवान् में ही अभेदेन किया। क्योंकि दोनों आत्मत्वेन एक हैं जैसा कि श्रुति मे कहा है 'इहैव समवनीयन्ते प्राणा' यहां ही भगवान् में प्राणों का सम्बन्ध कराया जाता है। 'अन्त.श्वास' का अर्थ यह है कि प्राणायाम द्वारा श्वास को भीतर ही रोककर 'उपारमत्' अर्थात् देह को छाड़ दिया ।।४३।।

आभास– तदा च सर्वेषामपि तथा प्रतीतिर्जातेत्याह—

आभासार्थ—तब सभी को जैसी प्रतीति हुई उसे कहते हैं—

श्लोक—**सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले ।**
सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये ।।४४।।

श्लोकार्थ—जब भीष्मजी को व्यापकपूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण में एकता को प्राप्त हुए जानकर वे सब चुप हो गये जैसे रात्रि में पक्षी चुप हो जाते हैं ।।४४।।

सुबोधिनी – सम्पद्यमानमिति अन्त स्थितो भगवान् प्रकटोभूतः। तत्राऽस्य सायुज्यं वृत्तम्। तदा महती काचित्प्रभा निगता। तया सर्वैर्ज्ञातं भीष्मो ब्रह्मणि मग्न इति। तदा परमपुरुषार्थे विघ्नो माभूदिति सर्वे तूष्णीं भूताः। श्रोत्रेन्द्रियस्याऽनावृतत्वाद्विषयैरिन्द्रियद्वारा मनस आकर्षण-सम्भवात्। तद्द्वारा च जीवस्य। यथा सुषुप्तौ। **वयांसीवेति** यथा सन्ध्यापगमे (?)तत्तत्स्थाने स्थिताः पक्षिण. अश्वस्तनत्वाद्विचारशून्याः पूर्वानुसन्धानरहिताश्च निद्राभावेऽपि तूष्णीं भवन्ति तथा सर्वसन्देहाभावं श्रुत्वा दृष्टान्तं च दृष्ट्वा वक्तव्याभावाद्ब्रह्मभूता एव तुष्णीं जाता इत्यर्थः ।।४४।।

व्याख्यार्थ—उस समय भीष्मजी के अन्तःस्थित रहे भगवान् बाहर प्रकट हो गये। उन्हीं में भीष्मजी का सायुज्य (एकता) हो गया उस समय विलक्षण बड़ी कान्ति निकली। उस कान्ति से सबको ज्ञात हुआ कि भीष्मजी ब्रह्म में मिल गये। ऐसे परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के समय किसी प्रकार का विघ्न (बाधा) न हो इसके लिए वहां रहे सब चुप हो गये क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय अनावृत (खुली) रहती है इसलिए उस इन्द्रिय द्वारा विषयों से मन का आकर्षण सम्भव है और उस मन के द्वारा जीव का आकर्षण भी हो सकता है। जैसे सुषुप्ति दशा में दूसरी इन्द्रियों के व्यापार के न होने पर भी श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द जीव तक पहुँचता है और उससे वह जग जाता है। तात्पर्य यह है कि भीष्मजी के देहत्याग के समय वहां बैठे लोग कुछ बोलते तो भीष्मजी की आत्मा का सम्बन्ध श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अन्य और हो सकता था। वह न हो इसके लिए सब चुप हो गये। रात्रि के आरंभ में उस-उस स्थान पर बैठे पक्षी जिनको कल हम रहेंगे या नहीं। जीवन के रहने का भी निश्चय नहीं होने से विचार शून्य पहले की बातों का अनुसन्धान नहीं रखने वाले वे निद्रा न आने पर भी चुप हो जाते हैं वैसे ही सब सन्देह मिटने से और दृष्टान्त को देखकर वक्तव्य दोष न रहा तथा ब्रह्मभूत को इस प्रकार की अन्तिम स्थिति होती है ऐसे विचार से वे सब ब्रह्मभूत होकर ही चुप हो गये ।।४४।

श्लोक—तत्र दुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवप्रचोदिताः ।
शशंसुः साधवो राज्ञां खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः ।।४५।।

श्लोकार्थ—उस समय आकाश में देवताओं से बजाये गये नगाड़ों का घोष होने लगा । उत्तम राजागण प्रशंसा करने लगे और आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी ।।४५।।

सुबोधिनी—देवानां सर्वज्ञत्वादस्मदीयो वसुर्मुक्त इति वाद्यवादनं चक्रुरित्याह । वादनप्रशंसापुष्पवृष्टयस्तामससात्त्विकराजसरूपा उत्तमाः । राज्ञां मध्ये ये साधवः । अनेन तत्राऽपि दुष्टाः सन्तीति ज्ञापितम् ।।४५।।

व्याख्यार्थ—देवता सर्वज्ञ हैं इसलिए उन्होंने जाना कि वसु ही भीष्म बना है इसलिए हमारा वसु देवता मुक्त हो गया है इसलिए उन्होंने वाद्य बजाये । श्लोक में वादन (बजाना) प्रशंसा तथा पुष्पवृष्टि तीनों का वर्णन है । इनमें वादन तामस है, प्रशंसा सात्त्विक है और पुष्पवृष्टि राजस है और ये उत्तम है अर्थात् देवताओं ने वाद्य बजाये पुष्पवृष्टि को और राजाओं में जो साधु थे उन्होंने प्रशंसा की । यहां राज्ञाम् में निर्धारण में जो षष्ठी है इसलिए यह अर्थ हुआ कि राजाओं में जो साधु थे उन्होंने भीष्मजी की प्रशंसा की ऐसा कहने से वहां दुष्ट राजा भी थे ऐसा बताया गया है ।।४५।।

आभास—"भस्मान्तं शरीरमि"ति श्रुतेः शरीरप्रतिपत्तिं चक्रुरित्याह—

आभासार्थ—'भस्मान्तं शरीरम्' शरीर अन्त में भस्म रूप में परिणत होता है इस श्रुति के अनुसार शरीर की अन्तिम क्रियाएं की । यही कहते हैं—

श्लोक—तस्य निर्हरणादीनि सम्परेतस्य भारतः ।
युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्त्तं दुःखितोऽभवत् ।।४६।।

श्लोकार्थ—भरत वंश में पैदा होने वाला युधिष्ठिर उन भीष्मजी के मृत शरीर की दाह आदि क्रिया कराकर मुहूर्त्त भर के लिए शोकाकुल हुआ ।।४६।।

सुबोधिनी—तस्येति । निर्हरणं ज्वालनम् । सम्परेतस्य शरीरस्य । भीष्मात्मानं गृहीत्वा भगवति तिरोहिते । भारतो युधिष्ठिरः । मोहाभावाय । **कारयित्वेति** । पट्टाभिषिक्तस्य स्वतःकरणमनुचितम् । मुहूर्त्तखिदो वेधः ।।४६।।

व्याख्यार्थ—श्लोक में आये निर्हरण शब्द का अर्थ जलाना है । सम्परेत का अर्थ निष्प्राण शरीर है । भीतर से प्रकट हुए भगवान् के भीष्मजी की आत्मा को लेकर तिरोहित होने पर युधिष्ठिर ने उत्तर क्रिया करवाई । युधिष्ठिर के लिए भारत विशेषण इसलिए दिया गया है कि 'दौष्यन्तिरत्यगान् मायाम्' के अनुसार भरत को माया से मोह नहीं था । भरत वंश में उत्पन्न होने

वाले को माया से मोह नहीं होता है इसलिए युधिष्ठिर को भीष्मजी के मर जाने पर मोह नहीं हुआ। श्लोक में कृत्वा पद न कहकर कारयित्वा कहा है इसका तात्पर्य यह है कि राज्य पर अभिषिक्त होने पर स्वयं को उत्तर क्रिया नहीं करनी चाहिये इसलिए दूसरों से भीष्मजी की उत्तर क्रिया करवाई। श्लोक में 'मुहूर्तं दुःखितोऽभवत्' अर्थात् युधिष्ठिर एक मुहूर्त्त तक खिन्न हुआ। एक मुहूर्त्त मरणोत्तर दुःखी रहना शास्त्र में कहा गया है। इसलिए युधिष्ठिर मुहूर्त्त तक दुःखी रहा ॥४६॥

आभास—भीष्मोक्तं कृतं च सर्वेषां हृदये समागतमित्यभिप्रायेणाऽऽह—

आभासार्थ—भीष्मजी का कहना एवं करना सबके हृदय में आया इस अभिप्राय से कहते हैं कि—

श्लोक—**तुष्टुवुर्मुनयो हृष्टाः कृष्णं तद्गुह्यनामभिः ।**
ततस्ते कृष्णहृदयाः स्वाश्रमान् प्रययुः पुनः ॥४७॥

श्लोकार्थ—प्रसन्न हुए मुनियों ने कृष्ण की अद्भुत् कर्मत्वादि से स्तुति की। उसके अनन्तर कृष्ण को हृदय में स्थापित कर सब अपने-अपने आश्रम में गये। कुछ मुनि लोग अपने आश्रम में जाकर भी भगवद्दर्शन के लिए लौटे और दर्शन करके पुनः अपने आश्रम में गये ॥४७॥

सुबोधिनी—तुष्टुवुरिति। तद्गुह्यनामभिः अद्भुतकर्मत्वादिभिः। कृष्णं हृदये निवेश्य सर्वे गता इत्याह—ततस्त इति। पुनरिति। केचन भगवद्दर्शनार्थं स्वाऽऽश्रमे गत्वाऽपि समागत्य कृष्णं दृष्ट्वा पुनर्गता इत्यर्थः ॥४७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् अद्भुतकर्मा हैं आदि गुप्त नामों से मुनियों ने भगवान् की स्तुति की। कृष्ण को हृदय में धारण कर सब गये यह 'ततस्ते' से कहते हैं। श्लोक में पुनः पद आया है इसका भाव यह है कि कतिपय मुनि अपने आश्रम में जाकर भगवद्दर्शन के लिए पीछे आये और कृष्ण के दर्शन कर पुनः अपने-अपने आश्रमों में चले गये ॥४७॥

आभास—युधिष्ठिरस्य तु ज्ञानं वृत्तमित्याह—

आभासार्थ—युधिष्ठिर को तो ज्ञान हो गया यह कहते हैं—

श्लोक—**ततो युधिष्ठिरो गत्वा सहकृष्णो गजाह्वयम् ।**
पितरं सान्त्वयामास गान्धारीञ्च तपस्विनीम् ॥४८॥

श्लोकार्थ—उसके अनन्तर युधिष्ठिर ने भगवान् कृष्ण के साथ हस्तिनापुर में जाकर धृतराष्ट्र एवं पुत्रशोक से संतप्त गान्धारी को तथा दूसरी स्त्रियों को सांत्वना दी ॥४८॥

सुबोधिनी—तत इति । स्वयं विशोकः शोकमन्येषां दूरीकरोति । पितरं धृतराष्ट्रम् । ापस्विनीं सन्तप्ताम् । चकारादन्याश्च ।।४८।।

व्याख्यार्थ—स्वयं शोक रहित ही दूसरों के शोक को दूर करता है। युधिष्ठिर भीष्मजी के उपदेश से शोक रहित हो गया इसलिए पिता धृतराष्ट्र को और संतप्ता गान्धारी को तथा चकार से ी गई अन्य स्त्रियों को भी सान्त्वना दी ।।४८।।

आभास—ततो भगवत्कृपया तस्य राज्यप्राप्तिरित्याह—

आभासार्थ—तदनन्तर भगवान् की कृपा से उस युधिष्ठिर को राज्य मिला यह कहते हैं—

श्लोक—**पित्रा चाऽनुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः ।**
चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः ।।४९।।

श्लोकार्थ—समर्थ राजा युधिष्ठिर मंत्रियों की एवं धृतराष्ट्र की अनुमति प्राप्त कर भगवान् कृष्ण से अनुमोदित होता हुआ पितृ पितामह से चले आये अपने राज्य का धर्म से पालन किया ।।४९।।

सुबोधिनी—**पित्रा चेति** । अधिकृतैर्मन्त्रिभिः पित्रा च अनुमतः । स्वभावत एव राजा । ुख्यतया वासुदेवानुमोदितः । पितृपैतामहमावश्यकम् । विभुः समर्थः । अनेन सर्वे गुणाः सर्वदोषा- ावश्चोक्तः ।।४९।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-
विरचितायां प्रथमस्कन्धे नवमोऽध्यायः ।।९।।

व्याख्यार्थ—अपने अपने अधिकारों पर नियुक्त मन्त्रियों से तथा पिता से अनुमति ले वह ुधिष्ठिर स्वभावतः प्रजा का अनुरञ्जन करने से राजा था ही उसने मंत्री एवं पिता की अनुमति । और मुख्य रूप से भगवान् का अनुमोदन होने से पिता और पितामह का वह राज्य रहा इसलिए सका पालन भी आवश्यक था । अथवा उसका मिलना भी आवश्यक था । युधिष्ठिर समर्थ था सलिए धर्म से राज्य का पालन किया । श्लोक में पिता और वासुदेव की अनुमति बताई गई है सलिए सब गुण कहे और पिता पितामह का राज्य कहने से तथा धर्म से राज्य का पालन करने । सब दोषों का अभाव रहा ।।४९।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण प्रथम स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का
नवम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

॥ श्री हरिः ॥

अनुक्रमणिका

श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध श्लोकानामकारादि वर्णानुक्रमः

	पृष्ठम्
अतः परं यदव्यक्त	१८०
अतः पुम्भिः	१०१
अतो वै	११७
अथ तं सुखमासीनं	२३१
अथ ते	३६७
अथ विश्वेश	४१३
अथाऽऽख्याहि	६५
अथाऽपि बत	२२५
अथाऽसौ	१७४
अथेह धन्या	१९१
अथोपस्पृश्य	३३७
अथोपेत्य	३५२
अथो महाभाग	२४५
अथर्वाङ्गिरसां	२१८
अनर्थोपशमं	३१९
अन्तर्बहिश्च	३०५
अन्तःस्थः	३७७
अन्ये च मुनयो	४३३
अपरे वसुदेवस्य	४०४
अप्यद्य नस्त्वं	४१०
अभिद्रवति मामीशं	३७४
अभिमन्यु सुतं	२०७
अर्जुनः सहसा	३६२
अवतारा ह्यसङ्ख्येया	१७५
अवतारे षोडशमे	१७१
अष्टमे मेरुदेव्यां	१६२
असौ गुणमयं	१३५
अस्त्येव मे	२३४
अस्याऽनुभावं	४४४
अस्यां वै	३२२
अहो कष्टं	४३६
अहो देवर्षि	३११
अहो मे	४२२
अहं च तद्ब्रह्मकुले	२८६
अहं पुराऽतीतभवे	२६३
आत्मारामाश्च	३२५
आपन्नः संसृतिं	४७
आमन्त्र्य	३७१
आमयो यश्च	२७५
आह राजा	४२२
इ.	
इति प्रिया	३३४
इति ब्रुवाणं	१९१
इति भीतः	४२१
इतिमतिरुप कल्पिता	४५५
इति मूर्त्यभि	२७१
इति सम्प्रश्न	७६
इत्थं शरत्	२७१
इदं भागवतं नाम	१९२
इदं हि पुंसस्तपसः	२६३
इदं हि विश्वं	२५१
इमं स्वनिगमं	२८०
इमे जनपदाः	४१३
उ.	
उच्छिष्टलेपाननु	२६६
उपधार्य	३७५
उपलेभेऽभिधावन्तीं	३७२
उवाच चा	३५३
ऋ.	
ऋग्यजुः सामाथर्वाख्या	२१८
ऋषयो मनवो	१७५
ऋषिभिर्याचितो	१६३
ए.	
एकदा निर्गताः	

पृष्टम्

एकात्मजा मे २८६
एकोनविंशे १७२
एतद्रूपं भगवतो १७७
एतद्धयातुर ३०८
एकस्नानावत्ताराणां १५१
एतत्सं सूचितं २७४
एतावदुक्त्वा २९८
एते चांऽशकला: १७५
एवं कृष्णमते: ३०२
एवं जन्मानि १८३
एवं निशम्य २८३
एवं नृणां २७६
एवं परीक्षता ३५१
एवं प्रवृत्तस्य २२२
एवं प्रसन्नमनसो ११४
एवं यतन्तं २९५
एवं सम्भाष्य ३११
एष वै भगवान् ४४३

क.

कथमालक्षित: २०४
कथं वा २०५
कलिमागत माज्ञाय ७०
कल्पान्त इदं ३०४
कस्मिन्युगे २०१
कामस्य नेन्द्रियप्रीति: ९२
किमिदं स्वित् ३४२
किं वा भागवता धर्मा २२६
कुरु प्रतिश्रुतं ३६२
कुर्वाणा यत्र २७८
कृतवान् किल ६६
कृष्ण कृष्ण ३३९
कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ ४०४
कृष्णाय वासुदेवाय ३८६
कृष्ण एवं भगवति ४७०
कृष्णे स्वधामोपगते १९४
केचिदाहुरजं ४०३

पृष्ठम्

के वयं नामरूपाभ्यां ४११
को वा भगवतस्तस्य ६१

ग.

गोप्याददे ४०१

च.

चतुर्दशं नारसिंहं १६६
चातुर्होत्रं कर्म २११
चित्रधातुविचित्राद्रीन् २८६

ज.

जगृहे पौरुषं १४३
जन्म कर्म च ३६६
जन्म गुह्यं १७७
जन्माद्यस्य ११
जन्मैश्वर्य ३९२
जिज्ञासितमधीतं २३३
जिज्ञासितं सुस २३२
जुगुप्सितं धर्मकृते २४६
ज्ञानं गुह्यतमं २७२

त.

त एकदा ४२
त एनमृषयो २१६
त एव वेदा २२०
तस्य आसाद्य ३४६
तत: कलौ १७३
तत प्रादुरभूत ३३४
तत: सप्तदशे १७१
तत: सप्तम १६१
ततोऽन्यथा २४७
ततो युधिष्ठिरो ४७३
तद्धर्मज्ञ ३५५
तद्वाग्विसर्गो २४२
तच्छ्रद्दधाना ६६
तत्सर्वं न: २११
तथा परमहंसानां ३८३
तथाप्येकान्त ४४६

पृष्ठम्

तथाऽर्थं ३४१
तथाऽऽहूतं ३५२
तदसौ वध्यता ३५०
तदा तदहं १८८
तदा ते भ्रातरः ४२६
तदा रजस्तमोभावोः ११३
तया शुचन्ते ३३३
तदोपसंहृत्य ४५३
तन्नः शुश्रुष ५५
तमभिज्ञाय २२६
तमापतन्तं ३३५
तमिममहमजं ष्वेषु ४६६
तया विलसिते १३२
तह्यैव च ३७५
तस्मादिदं ४४२
तस्मादेकेन १०३
तस्मिन्निर्मनुजे २६१
तस्मिस्तदा २६६
तस्मिन्स्व ३१७
तस्य कर्मा ६०
तस्य निर्हरणादीनि ४७१
तस्य पुत्रो २०२
तस्यैवं खिलं २२८
तस्यैव मेऽनुक्तस्य २७२
तस्यैव हेतोः २५१
तान समेतान ४३४
तुर्यं धर्मकला १५८
तुष्टुवमुं नयो ४७३
तृतीयमृषिसर्गञ्च १५७
तेनिमी योदकं ३६७
तेमप्येपेता २६५
तां बाढ ४१६
तत्र कीर्मयतो १६५
तत्र तत्राऽञ्जसा ४८
तत्र दुन्दुभयो ४७२

पृष्ठम्

तत्र ब्रह्मर्षयः ४३२
तत्रर्वेदधरः २१८
तत्राऽन्वहं २६८
तत्राऽऽसीनं ३६८
तत्राऽऽहाडमर्षितो ३६०
त्यक्त्वाऽस्वधर्मं २५१
त्रिभुवनकमनं ४५७
त्वमप्यदभ्रश्रुत २८०
त्वमात्मना २६१
त्वमाद्यः पुरुषः ३३६
त्वया खलु ४४
त्वयि मे ४१५
त्वं नः ७१
त्वं पर्यटन् २३६

द.

दानधर्मान् ४५०
दिदृक्षुस्तदहं २६४
दुर्भगांश्च जनान् २१५
दृष्ट्वा निपतितं ४३१
दृष्टवाऽसुयान्त २०३
दृष्टव ऽस्त्रतेजस्तु ३४५
तेवदत्तामिमं ३०६
द्वापरे समनु २१३
द्वितीयं तु २५६

ध.

धर्मः प्रोज्झितः २८
धर्म स्वनुष्ठितः ८६
धर्मं प्रवदतः ४५२
धर्मस्य ह्यापि ६१
धर्मार्थकामं ४५१
धर्म्यं न्याय्यं ३५८
धान्वन्तरं द्वादशमं १६७
ध्यायतं श्चरणाम्भोजं २६१
धृतव्रतेन हि २२१

न.

	पृष्ठम्
नकुलः सहदेवश्च	१५८
न चास्य कश्चि	१८७
नमोऽकिञ्चनवित्ताय	१६५
नमन्ति यत्पाद	२०८
नमः पङ्कजनाभाय	१८८
नमो भगवते	२७९
नमस्ये पुरुषं	३८२
न यद्वचश्चित्रपदं	२३९
नरदेवत्वमापन्नः	१७२
नलवेणुशर	२९०
न वेद कश्चिद्	३९८
न वै जनो जातु	२५७
नष्टप्रायेष्व	१११
नह्यस्य कर्हिचित्	४४१
न ह्यस्याऽन्यतमं	३४४
नातिप्रसीदद्धृदयः	२२२
नामान्यनन्तस्य	१००
नारायणं नमस्कृत्य	८३
निगमं कल्पतरोः	३४
निर्गते नारदे	३१५
निशम्य भीमगदितं	३६०
निःश्रेयसाय	१९२
नेयं शोभिष्यते	४११
नैनं पार्थाऽर्हसि	१४८
नैनो राज्ञः	४२३
नैमिशेऽनिमिषक्षेत्रे	३९
नैष्कर्म्यमप्यच्युत	२४३

प.

पञ्चदशं वामनकं	१७०
पञ्चमः कपिलो	१५९
परावरज्ञः	२१४
परिश्रान्तेन्द्रियात्मा	२९१
परीक्षितोऽथ	३२८
पर्वतो नारदो	४३३

	पृष्ठम्
पश्यन्त्यदो	१४९
पाण्डुपुत्र न्	४३६
पाराशर्य महाभाग	२३३
पार्थिवाद्दारुणो	१२२
पित्रा चाऽनुमतो	४७४
पुत्रशोकार्दिताः	३६४
पुरुषस्वभाव	४५०
पृथयेत्थं	४१८
प्रगायतः स्ववीर्याणि	३०७
प्रजोपप्लवं	३४५
प्रतिश्रुतं च	३५०
प्रयुज्यमाने	३०३
प्राक्कल्पविषया	२८४
प्रायेणाऽल्पायुषः	४६
प्रेमातिभर	२९२

ब.

बालद्विजसुहृत्	४२३
ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैः	३८१
ब्रह्मनद्यां	३१६
ब्रह्मबन्धुर्न	३६०
ब्रूहि योगेश्वरे	७३

म.

भगवानपि विप्रर्षे	४३०
भक्तियोगेन	३१८
भक्त्याऽऽवेश्य	४४७
भर्त्तुः प्रियं	३३१
भवताऽनुदितप्रायं	२३७
भवेऽस्मिन्	४०७
भारतव्यपदेशेन	२२४
भारावतारणाय	४०५
भावयत्येष	१३७
भिद्यते हृदयग्रंथिः	११५
भिक्षुभिर्विप्रवसिते	२८३
भिक्षुभिर्विप्र	२८५
भूरीणि भूरिकर्माणि	५१

पृष्ठम्

भेजिरे मुनयो १२४
भौतिकानां तु २१५

म.

मतिर्मयि २९८
मत्तं प्रमत्तं ३४८
मन्ये त्वां ३९६
माता सुतानां ३३२
मा मंस्था ३८०
मायाजवनिकाच्छन्न ३८२
मा रोदीदस्य ३५६
मुनयः साधु ८५
मुनिगणनृपवर्य ४६८
मुमुक्षवो घोररूपान् १२५

य.

यत्पादसंश्रयाः ५९
यत्र धर्मसुतो ४४०
यत्रेमे सदसद्रूपे १८२
यथा धर्मादयः २३९
यथा नभसि १७९
यथा पङ्केन ४२५
यथा ह्यवहितो १३३
यथा हृषीकेश ३८९
यदत्र क्रियते २७७
यदमुष्याऽसिना १०५
यदा मृधे ३२९
यदाऽशरणं ३३७
यद्यप्यस्त्रं ३७९
यद्येषोपरता १८२
यमादिभिः ३०९
ययासंमोहितो ३१९
यस्याऽम्भसि १४५
यस्याऽवयवसंस्थानैः १४८
यः स्वानुभावं ८०
याजयित्वा ३७०
यानि वेद ४६

पृष्ठम्

युधि तुरगरजो ४५९
युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य ४४९
येनैवाऽहं भगवतो २७३
यैः कोपितं ३५७
यं प्रव्रजन्तं ७७
यं मन्यसे ४४५

र.

रजस्तमः प्रकृतयः १२६
रूपं भगवतो २९१
रूपं स जगृहे १६५

ल.

ललितगतिविलास ४६७

व.

वदन्ति तत्तत्व ९८
वपन द्रविण ३६३
वयतु न ६६
वसिष्ठ इन्द्रप्रमद ४३३
वासुदेवपरा वेदा १२८
वासुदेवपरं ज्ञानं १२८
वासुदेवे भगवति ८८
विचक्षणो २५०
विजयरथ कुटुम्ब ४६६
विपदः सन्तु ३९३
विमुच्य रशनाबद्धं ३६२
विशुद्धया धारणया ४५४
विषान्महाग्नेः ३९०
वेत्थ त्वं ४७
वेत्थ त्वं द्रोणपुत्रस्य ३४३
व्यवहित पृतना ४६२
व्यसनं वीक्ष्य ३७६
व्यासाद्यैरीश्वरे ४२०

श.

शितविशिखहतो ४६५
शिबिराय निनीषन्तं ३४७
शिवाय लोकस्य २१०
शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य १०७

पृष्ठम्

श्री कृष्ण कृष्णसख ४१७
श्रुत्वा भगवता ३४४
शृण्वतां स्वकथाः १०८
शृण्वन्ति गायन्ति ४०८

ष.

षष्ठमत्रेरपत्यत्वं १६०

स.

स एव जीवलोकस्य ३४१
स एव प्रथमं १५२
स एवेदं १२९
स एष भगवान् ३५४
स कदाचित २१३
सकृद्यद्दर्शितं २९६
सगोदोहनमात्रं २०६
सत्वं रजस्तम ११८
सत्सेवया २९७
स देवदेवो ४४८
सपदि सखिवचो ४११
सम्पद्यमान ४७१
स रहस्यो ३५४
सर्व कालकृतं ४३८
सर्वं तदिदं ३१०
सर्ववेदेतिहासानां १९३
सर्वात्मन: ममदृशौ ४४५

पृष्ठम्

स वा इदं १८४
स वेद धातुः १८९
स वै निवृत्ति ३२४
स वै पुंसां ८६
स वै भवान् २३५
स सम्राट २०८
स संहितां ३२३
सहस्त्रयुग ३०४
साधयित्वा ३७०
सान्त्वयामास ३६८
साऽस्वतन्त्रा २८६
सुरासुराणां १६६
सूत जानासी ५४
सूत सूत २००
सस्थितेऽधिरथे ४३७
संहृत्याऽन्योन्यं ३४५
स्फीताञ्जनपदान् २८९
स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां ४२४
स्त्रीशूद्रद्विज २२१
स्वनिगमं ४६३
स्वप्राणान्यः ३४९
स्वायम्भुव कथा २८३

ह.

हन्ताऽस्मिन् २९६
हरेर्गुणाक्षिप्तमति ३२६

आश्रय का पद

राग विहाग

भरोसो दृढ इन चरनन केरो ।
श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन, सब जुग माहिं अंधेरो ॥
साधन और नाहिं या कलि में जासों होय निवेरो ।
सूर कहा कहे दुविध आंधरो बिना मोल को चेरो ॥